भारतीय ज्ञान-परम्परा : अग्निपुराण

डॉ० सन्तोष कुमार शुक्ल
डॉ० रत्नेश कुमार त्रिपाठी

भारतीय पुराण अध्ययन संस्थान
Indian Institute for Purāṇa Studies
नयी दिल्ली-110 055
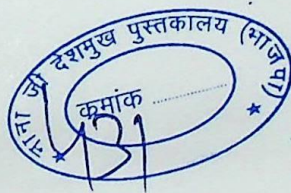
भारतीय ज्ञान-परम्परा :
अग्निपुराण

॥ पुराण अध्ययन ग्रन्थमाला ॥
प्रथम पुष्प

भारतीय ज्ञान-परम्परा : अग्निपुराण

सम्पादक :

डॉ० सन्तोष कुमार शुक्ल
उपाचार्य, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

सहायक सम्पादक :

डॉ० रत्नेश कुमार त्रिपाठी
रिसर्च एसोसिएट, भारतीय पुराण अध्ययन संस्थान
अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना, नयी दिल्ली

भारतीय पुराण अध्ययन संस्थान
Indian Institute for Purāṇa Studies

बाबा साहेब आपटे स्मृति भवन, 'केशव कुञ्ज, झण्डेवाला, नयी दिल्ली-110 055
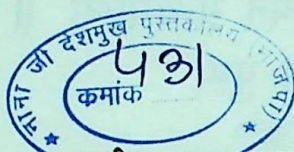
भारतीय ज्ञान-परम्परा : अग्निपुराण

डॉ० सन्तोष कुमार शुक्ल
डॉ० रत्नेश कुमार त्रिपाठी

भारतीय पुराण अध्ययन संस्थान

Indian Institute for Purāṇa Studies

(माधव संस्कृति न्यास का प्रकल्प)

(Governed by Mādhava Saṁskṛti Nyāsa)

प्रकाशक :

प्रकाशन–विभाग

अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना

बाबा साहेब आपटे स्मृति भवन, 'केशव–कुञ्ज',
झण्डेवाला, नयी दिल्ली–110 055

दूरभाष : 011–23675667

ई–मेल : abisy84@gmail.com

वेबसाइट : www.itihassankalan.org

प्रथम संस्करण : कलियुगाब्द 5115, सन् 2013 ई०

सहयोग–राशि : ₹ 500 (हार्ड कवर)

ISBN : 978-93-82424-08-6

मुद्रक :

ग्राफ़िक वर्ल्ड, 1659, दखनी सराय स्ट्रीट,
दरियागंज, नयी दिल्ली–110 002

पुरोवाक्

रतीय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का अमूल्य निधि पुराणवाङ्मय है। यह हमारे इतिहास एवं संस्कृति के स्वरूप बोध के लिये प्रमुख तत्त्वों में से मुख्य माना गया है। इस राष्ट्र के यथार्थ अवबोध हेतु भारतीय जनता भारत के इतिहास एवं संस्कृति के प्रति सश्रद्ध दृष्टि से पुराणों के प्रति आकर्षित हो रही है। पुराणों की अमृत धारा में भारतीय गौरव अपने पूर्ण वैभव के साथ परिलक्षित होता है। लोककल्याण एवं बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय के अनेक विषय पुराणों में समाविष्ट हैं। हमारे राष्ट्र की सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक परम्पराओं के अमूल्य तत्त्वों को प्रकाशित करनेवाला यह वाङ्मय हमारी राष्ट्र-आराधना का ग्रन्थ है।

इस देश की चाहें राष्ट्रीय परम्परायें हो या सांस्कृतिक; सामाजिक हो या धार्मिक इन्हें अक्षुण्ण बनाये रखने में पुराणों के महान् योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता । भारतीय समाज पुराणों के माध्यम से ही अपने यशस्वी, तेजस्वी पूर्वजों की यशोगाथा का, उनकी अमर पुण्य स्मृतियों का यशोगान करके स्वाभिमान से परिपूर्ण होकर अपनी परम्परा के संरक्षण में तत्पर हो जाता है। पुराणों के माध्यम से ही हमारे महापुरुषों, ऋषियों, आचार्यों तथा पूर्वजों का इतिवृत्त हमारे राष्ट्रीय स्मृति में व्याप्त होकर भारत के जनमानस में प्रचलित है। यही कारण है कि हमारे पूर्वजों द्वारा काल के उस अलक्षित क्षण में जहाँ से सृष्टि का आविर्भाव हुआ वहाँ सबसे पहले पुराण वाङ्मय की स्थापना कर दी गयी थी—

'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥'

—*मत्स्यपुराण*, 53.3

इतिहास-पुराण परम्परा ने वैदिक ज्ञान के गूढ़ एवं दुर्गम तत्त्वों को

साधारण भाषा में कथा, प्रवचन, परम्परा के माध्यम से भारत के जन-जन में पहुँचाया। इसी ने प्रत्येक भारतीय को अपने पुरुषार्थ सिद्धि के लिये श्रेष्ठतम आचरणों को आख्यानों एवं उपाख्यानों के द्वारा लोक हृदय में अवतरित करा दिया।

अग्निपुराण पुराणवाङ्मय का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। इसके प्रतिपाद्य विषयों के आधार पर इसे विश्वकोश कहा जाता है। *अग्निपुराण* में नाना विद्याओं एवं नाना शास्त्रों का विवेचन जिस सुगम शैली में किया गया है वह अपने आपमें अनूठा है। इस पुराण के प्रतिपाद्य विषयों को विहङ्गम दृष्टि से अवबोध के लिए इस प्रकार लिखा जा सकता है–

- अध्याय-1-4 में पुराण रचना का उद्देश्य तथा मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह आदि अवतारों का विवेचन।
- अध्याय-5-16 में रामायण एवं महाभारत की कथा, बुद्ध, कल्कि अवतारों का विवेचन।
- अध्याय-17-22 में सृष्टि-उत्पत्ति, स्वायम्भुव मनुवंश, कश्यपवंश तथा विष्णु आदि देवताओं की अर्चना विधि का वर्णन।
- अध्याय-23-33 में विविध कर्मकाण्ड विधियों का विवेचन।
- अध्याय-34-40 में देवालय आदि निर्माण फलश्रुति, मूर्ति-स्थापना विधि, शिल्पविद्या, प्रासादलक्षण, मूर्तिलक्षण, प्रतिमालक्षण, कूप, सरोवर आदि की प्रतिष्ठा विधि का विवेचन।
- अध्याय-71-106 में गणेश, शिव, अग्नि, चन्द्र आदि देवों की पूजा, दीक्षा संस्कार, अभिषेकादि कथन, विविध प्रतिष्ठाविधि,गृह, नगर आदि सम्बन्धी वास्तु विद्या का विवेचन।
- अध्याय-107-108 में स्वायम्भुव सर्गवर्णन एवं भुवनवर्णन।
- अध्याय-109-113 में विभिन्न तीर्थों का माहात्म्य एवं श्राद्ध विवेचन।
- अध्याय-114-149 में जम्बूद्वीप वर्णन, ज्योतिषशास्त्र, युद्धविद्या, तान्त्रिक उपासनापद्धति, आदि का विवेचन।
- अध्याय-150-207 में मन्वन्तर, वर्णाश्रमधर्म, गृहस्थधर्म, अशौच, आचार, वानप्रस्थ, धर्म, यतिधर्म, प्रायश्चित्त एवं नरक आदि का विवेचन।
- अध्याय-208-217 में दान, मन्त्र, संध्याविधि का विवेचन।
- अध्याय-218-255 में राजधर्म, स्वप्नविज्ञान, शकुनशास्त्र, कामशास्त्र,

स्त्रीपुरुषलक्षण, रत्नादिपरीक्षा, धनुर्वेद, व्यवहारविवेचन, दण्डनीति, दायभाग आदि वर्णन।

- अध्याय-256-278 में कर्मकाण्ड-विधि, विविध राजवंश विवेचन।
- अध्याय-279-300 में आयुर्वेद, विज्ञान, अश्वविद्या, गजशास्त्र, सर्पविषादि चिकित्सा, वृक्षविज्ञान एवं बालरोग चिकित्सा का विवेचन।
- अध्याय-300-327 में अनेक विधिविधान एवं त्वरिता विद्या आदि का वर्णन।
- अध्याय-328-336 में छन्दःशास्त्र एवं शिक्षावेदाङ्ग निरूपण।
- अध्याय-337-347 में काव्य, नाट्य, रस, अलङ्कार, गुणदोषादि काव्यशास्त्र का विवेचन।
- अध्याय-348-367 में व्याकरणशास्त्र तथा कोशविज्ञान का वर्णन।
- अध्याय-368-383 में प्रलयवर्णन, योगचर्या, वेदान्त, गीतासार, यमगीता, आदि का विवेचन।

भारतीय पुराण अध्ययन संस्थान के तत्त्वावधान में अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना द्वारा प्रकाश्यमान **'भारतीय ज्ञान परम्परा : अग्निपुराण'** नामक यह ग्रन्थ *अग्निपुराण* में प्रतिपादित विविध विद्याओं एवं शास्त्रों का विवेचनात्मक विमर्श प्रस्तुत करता है। इसमें संपादित 28 शोधपत्र भिन्न-भिन्न शास्त्रों का प्रतिपादन करते हैं। इस ग्रन्थ के प्रत्येक शोधपत्र में *अग्निपुराण* विवेचित विविध शास्त्रों का सारतत्त्व प्रस्तुत करने का यह प्रयास अत्यन्त उपादेय है। पुराण वाङ्मय में विश्वकोश नाम से विभूषित *अग्निपुराण* में प्रतिपादित ज्ञान-परम्परा का अवगमन कराने में यह ग्रन्थ निश्चय ही एक सोपान का कार्य करेगा।

वर्ष प्रतिपदा, विक्रम संवत् 2070

बालमुकुन्द

बाबा साहेब आपटे स्मृति भवन,
'केशव कुञ्ज', झण्डेवालान,
नयी दिल्ली-110 055

(बालमुकुन्द पाण्डेय)
राष्ट्रीय संगठन-सचिव,
अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना

संपादकीय

महर्षि वेदव्यास वेदों के सम्पादक तथा पुराण एवं *महाभारत* के प्रणेता माने जाते हैं। पौराणिक मान्यता कहती है कि प्रत्येक द्वापर के अन्त में और कलियुग के प्रारम्भ में एक व्यास उत्पन्न होते हैं जो लोककल्याणार्थ वेदों एवं पुराणों का प्रचार एवं प्रसार करते हैं। अट्ठाइसवें द्वापर के अन्त में अट्ठाइसवें व्यास कृष्णद्वैपायन वेदव्यास उत्पन्न हुए जिन्होंने वेदों को चार भागों में विभक्त कर पैल, वैशम्पायन, जैमिनि एवं सुमन्तु नामक अपने चार शिष्यों को इसके अध्ययन-अध्यापन का दायित्व निर्धारित किया। इसी प्रकार शतकोटिप्रविस्तर पुराण को अष्टादश संहिताओं में विभक्त कर अपने शिष्य लोमहर्षण को पढ़ाया, साथ ही इसके प्रचार-प्रसार का दायित्व उन्हें सौंपा। लोमहर्षण ने गुरु वेदव्यास से अधीत पुराण संहिताओं के आधार पर अपनी पृथक् पुराण संहिताएँ तैयार कर सुमति, अमृतवर्ण, कश्यप, अग्निवर्चा, भारद्वाज, सौमदन्ति सावर्णि, मित्रायु और शांशपायन नामक अपने छः शिष्यों को पढ़ाया– ऐसा *विष्णुपुराण* (3.6.17) एवं *वायुपुराण* (61.55-56) में वर्णित है। लोमहर्षण के शिष्य कश्यप, सौमदन्ति, सावर्णि तथा शांशपायन ने अपनी पृथक्-पृथक् पुराण संहितायें बनायीं। उग्रश्रवा, लोमहर्षण के पुत्र ने कृष्णद्वैपायन वेदव्यास की पुराण संहिताओं का सम्पादन किया। आजकल लोमहर्षण के पुत्र सौति उग्रश्रवा द्वारा संपादित एवं संशोधित संहितायें ही उपलब्ध होती हैं। इसका प्रमाण यह है कि सभी पुराणों में सूत या उग्रश्रवा सौति ही प्रवक्ता कहे गये हैं। पौराणिक सूत पुराणों के प्रचारक एवं विस्तारक हैं। ये समय-समय पर नवीन कथाओं को पुराणों में समाविष्ट कर उसे रोचक एवं नित्य नूतन बनाये रखते थे। इसके कारण पुराणों की उपादेयता समाज में सर्वथा आदरणीय थी।

अग्निपुराण महापुराणों में अतिमहत्त्वपूर्ण है। इस पुराण के प्रवक्ता अग्नि और श्रोता वसिष्ठ हैं। *अग्निपुराण* की रचना के विषय में *अग्निपुराण* के प्रथम

अध्याय में एक विवरण प्राप्त होता है जिसके अनुसार एक बार शौनकादि ने सूत से कहा कि आप एक ऐसी सारवस्तु का उपदेश करें, जिसके जानने से हम सर्वज्ञ हो जायें। सूत ने महर्षि व्यास से श्रुत साररूपा परा और अपरा विद्याओं का विवेचन किया। इन दोनों विद्याओं को सर्वप्रथम अग्नि ने वसिष्ठ को सुनाया था और वसिष्ठ ने महर्षि व्यास को उपदेश किया था। व्यास ने इसे सूतादि शिष्यों को सुनाया था। इस प्रकार इस पुराण के प्रथम प्रवक्ता अग्नि माने जाते हैं। इस पुराण में प्रतिपादित विभिन्न शास्त्रों के प्रवक्ता-श्रोता भिन्न-भिन्न आचार्य माने जाते हैं। उदाहरणस्वरूप राजनीति के पुष्कर, आयुर्वेद के धन्वन्तरि एवं सुश्रुत, गजशास्त्र के पालकाप्य, अश्वशास्त्र के शालिहोत्र एवं व्याकरण के कात्यायन प्रवक्ता माने जाते हैं। वस्तुतः अग्नि ही इस पुराण के प्रवक्ता हैं जिन्होंने वसिष्ठ को उपदेश दिया था। उपदेशकाल में अन्य आचार्यों के विचार प्रस्तुत करने के कारण उन आचार्यों का नाम निर्देश भी कर दिया है।

अग्निपुराण में विभिन्न शास्त्रों का विवेचन प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ **'भारतीय ज्ञान-परम्परा : अग्निपुराण'** अग्निपुराणोक्त विविध शास्त्रों पर विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। इस ग्रन्थ में 28 शोधपत्रों का संग्रह है, जिनमें राजधर्म, वेदान्त, योग, धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, काव्यशास्त्र, अवतारविद्या, सृष्टिविद्या, शिक्षावेदाङ्ग, व्याकरणशास्त्र, आयुर्वेद, शिवतत्त्व आदि विषयों पर व्यापक विचार-विमर्श किया गया है। मुझे आशा है यह ग्रन्थ *अग्निपुराण* के अध्ययन के क्षेत्र में अपना योगदान अवश्य करेगा।

वर्ष प्रतिपदा
विक्रम संवत् 2070

डॉ० सन्तोष कुमार शुक्ल
सम्पादक

विषयानुक्रमणिका

पुरोवाक्		*बालमुकुन्द पाण्डेय*	*v*
संपादकीय		*डॉ० सन्तोष कुमार शुक्ल*	*viii*

क्रम	लेख	लेखक	पृष्ठांक
1.	पुराण वाङ्मय का स्वरूप	डॉ० सन्तोष कुमार शुक्ल	1
2.	अग्निपुराण : राजधर्म-परम्परा	डॉ० सन्तोष कुमार शुक्ल	31
3.	अग्निपुराण : तीर्थयात्रा-माहात्म्य	डॉ० रत्नेश कुमार त्रिपाठी	52
4.	अग्निपुराण : आत्मा, ज्ञान तथा मोक्षविमर्श	ठाकुर शिवलोचन शाण्डिल्य	62
5.	अग्निपुराण : काव्यशास्त्रीय गुणविचार	मणिशंकर द्विवेदी	76
6.	अग्निपुराण : शिक्षा वेदांग	प्रचेतस् शास्त्री	91
7.	अग्निपुराण : काव्यशास्त्र विमर्श	डॉ० सुमन कुमार झा	96
8.	अग्निपुराण : अद्वैतवेदांत	डॉ० धनञ्जय कुमार पाण्डेय	110
9.	अग्निपुराण : वेदांतशास्त्र	प्रतिभा शास्त्री	122
10.	अग्निपुराणे तद्धितनिरूपणम्	साधना शर्मा	132
11.	अग्निपुराणे योगशास्त्रम्	डॉ० रविशंकर शुक्ल	138
12.	अग्निपुराण : अष्टांगयोग	कामिनी कुमारी	144
13.	अग्निपुराण : धर्मशास्त्र	अशोक कुमार	158
14.	अग्निपुराण : राजनैतिक चिन्तन	प्रियंका पाण्डेय	
15.	अग्निपुराण : राजशास्त्र	सर्वेश कुमार	
16.	अग्निपुराण : सृष्टि-विद्या	प्रो० हरेराम त्रिपाठी	
17.	अग्निपुराण : सृष्टिस्वरूप	आरती यादव	187
18.	अग्निपुराण : सृष्टिप्रक्रिया	नीरजा कुमारी	195

क्रम	लेख	लेखक	पृष्ठांक
19.	अग्निपुराणे दशावतारनिरूपणम्	डॉ० रामानुज उपाध्याय	202
20.	अग्निपुराण : शिवतत्त्वविमर्श	प्रवीण कुमार द्विवेदी	212
21.	अग्निपुराण : वृक्षायुर्वेद	डॉ० महानन्द झा	218
22.	अग्निपुराण : आयुर्वेद	चन्दा कुमारी	224
23.	अग्निपुराण : व्याकरणशास्त्र	अर्पित कुमार दुबे	233
24.	अग्निपुराण : सृष्टितत्त्व	डॉ० रा०श० राघव	252
25.	अग्निपुराण : ज्योतिषशास्त्र	डॉ० विनोद कुमार शर्मा	261
26.	अग्निपुराण : चिकित्साशास्त्र	अरविन्द कुमार	268
27.	अग्निपुराण : श्रीरामोक्त राजधर्म	डॉ० हर्षवर्धन सिंह तोमर	274
28.	अग्निपुराण : काव्य	घनश्याम मिश्र	285

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची 290

अनुक्रमणिका 296

पुराण वाङ्मय का स्वरूप

डॉ० संतोष कुमार शुक्ल *

भारतीय वाङ्मय में पुराण वाङ्मय का एक विशेष स्थान है। वेदों के पश्चात् **'पुराण-इतिहास'** को पञ्चमवेद माना गया है। पुराण वाङ्मय भारतीय समाज के धार्मिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक, वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि का लोकसम्मत विश्वकोश ही है। 'पुराण' इस शब्द का अर्थ है कि 'जो प्राचीन काल में जीवित हो'। ऐसी व्युत्पत्ति *वायुपुराण* में 'पुराण' शब्द की हुई है–

'यस्मात्पुरा ह्यनक्तीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम् ।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥'[1]

मत्स्यपुराण में 'पुराण' शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति दी गई है, पुरातन काल की घटनाओं को विद्वान् लोग 'पुराण' कहते हैं–

'पुरातनस्य कल्पस्य पुराणानि विदुर्बुधाः'[2]

'पुराण' शब्द का प्रथम प्रयोग हमें *ऋग्वेद* में मिलता है। *ऋग्वेद* के अनेक मंत्रों में यह 'पुराण' शब्द विशेषण के रुप में प्राचीन एवं पूर्व काल में होने वाले आदि अर्थों में प्राप्त होता है।[3] अन्यत्र (9.99.4) 'पुराणी' शब्द 'गाथा' के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यास्क के *निरुक्त* (3.19) के अनुसार 'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति

---

* उपाचार्य, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

'पुरा नवं भवति' है। *पद्मपुराण* में यह निरुक्ति किञ्चित् भिन्न अर्थ में प्राप्त होती है– **'पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम् ।'**[4] अर्थात् जो परम्परा की कामना करता है वह पुराण है। *ब्रह्माण्डपुराण* में प्राप्त व्युत्पत्ति इससे भी भिन्न है–

'यस्मात् पुरा ह्यभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम् ।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥'[5]

अर्थात् पुराण वह है 'जो प्राचीनकाल में ऐसा हुआ' इस अर्थ का प्रतिपादन करता है। इन विभिन्न व्युत्पत्तियों के देखने से यह स्पष्ट होता है कि 'पुराण' का वर्ण्य विषय प्राचीनकाल से सम्बद्ध था। वैदिक व तद्भिन्न ग्रन्थों में यह प्रयोग प्रमाणित करता है कि भारत में 'इतिहास पुराण' लेखन की अपनी एक परम्परा रही है। यह परम्परा हमारे इतिहास बोध एवं ऐतिहासिक दृष्टि का परिचायक है। यास्क के अनुसार *ऋग्वेद* में ही त्रिविध ब्रह्म के अंतर्गत **'इतिहास मिश्र'** मंत्र पाये जाते हैं। यथा–

'त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ ।
तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमिङ्मिश्रं गाथमिश्रं भवति ।'[6]

छान्दोग्योपनिषद् का सन्दर्भ भी यह प्रमाणित करता है कि 'इतिहास-पुराण' पञ्चम वेद हैं। सनत्कुमार से ब्रह्मविद्या सीखने के अवसर पर नारदमुनि ने अपनी अधीत विषयों के अन्तर्गत 'इतिहास-पुराण' को पञ्चम वेद बतलाया है–

'ऋग्वेदं भगवोध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्'[7]

'इतिहासपुराण'– यह संयुक्त नामकरण उपनिषद्काल में हो चुका था। यास्काचार्य ने अपने *निरुक्त* में स्थान-स्थान पर ऋचाओं के निर्वचन के समय ब्राह्मण-ग्रन्थों के आख्यानों को **'इतिहासमाचक्षते'** कहकर उद्धृत करते हैं। *निरुक्त* में यास्काचार्य ने वेद-व्याख्याकारों के विभिन्न सम्प्रदायों के गणना के प्रसंग में ऐतिहासिकों का भी एक पृथक् सम्प्रदाय के रूप में **'इति ऐतिहासिकाः'**– ऐसा कहकर उद्धृत किया है। ऐतिहासिक मत के अनुसार अनेक मन्त्रों की व्याख्या यास्क ने अपने *निरुक्त* में स्थान-स्थान पर की है। 'इतिहास' शब्द की व्युत्पत्ति यास्क ने इस प्रकार की है, यथा– **'इति ह आस'** अर्थात् इस प्रकार से निश्चयेन वर्तमान था। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में निश्चित रूप से होनेवाली घटना का नाम

'इतिहास' है, यथा– **'निदानभूतः इति ह एवमासीत् इति य उच्यते स इतिहासः ।'**[8]

इस व्युत्पत्ति से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में वास्तव रूप में घटित घटना ही इतिहास है। *अथर्ववेद* एवं पुराण-ग्रन्थों में यह 'इतिहास' शब्द 'पुराण' से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। यास्क ने अपने *निरुक्त* में 'देवापि और शान्तनु' के आख्यान को 'इतिहास' कहा है। इसी प्रकार *निरुक्त* में ही विश्वामित्र को सुदास पैजवन के पुरोहित होनेवाली घटना को भी इतिहास कहा है–

'तत्रेतिहासमाचक्षते देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कारव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः'[9]

'तथा तत्रेतिहासमाचक्षते विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव'[10]

पुराण-ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर इतिहास को 'इतिवृत्त' अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सृष्ट्यादि प्रतिपादक आख्यान को 'पुराण' एवं इतिवृत्त प्रतिपादक आख्यान को 'इतिहास' कहा जाता है। यथा–

'अत्राप्युदाहरतामितिहासं पुरातनम्'[11]

वैदिक परम्परा में *महाभारत, रामायण* को भी इतिहास-ग्रन्थ के रूप में माना जाता है। स्वयं *महाभारत* ग्रन्थ भी अपने को इसी नाम से पुकारता है, यथा–

'जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा'[12]

'इतिहासोत्तमादस्माद् जायन्ते कविबुद्धयः'[13]

आचार्य राजशेखर ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ *काव्यमीमांसा* के द्वितीय अध्याय में 'इतिहास' को द्विधा विभक्त किया है–

'परिक्रिया पुराकल्प इतिहासगतिर्द्विधा ।
स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका ॥'

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि परिक्रिया नामक इतिहास *रामायण* है एवं पुराकल्प नामक इतिहास ग्रन्थ *महाभारत* है।

आख्यान प्रतिपादक ग्रन्थ अथवा विद्या स्थान 'इतिहासपुराण' का पार्थक्य परम्परा में स्पष्ट नहीं प्रतीत होता है। *महाभारत* नामक इतिहासग्रन्थ अपने को

महाभारत में **'इतिहास'**, **'इतिहासोत्तम'** एवं **'पुराण'** नामों से अभिहित करता है–

'द्वैपायनेन यत् प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा' [14]

वायुपुराण अपने को 'पुरातन इतिहास' के रूप में प्रस्तुत करता है–

'इमं यो ब्राह्मणो विद्वान् इतिहासं पुरातनम् ।
शृणुयाद् श्रावयेद् वापि तथाध्यापयतेऽपि च ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं वेदैश्च संमतम् ।
कृष्णद्वैपायनेनोक्तं पुराणं ब्रह्मवादिना ॥' [15]

ये दोनों सन्दर्भ यह प्रमाणित करते हैं कि उस काल में वस्तुतः दोनों विद्या स्थानों के बीच पार्थक्य रेखा बहुत ही अनिश्चित थी। बाद के आचार्य ने पार्थक्य रेखा को रेखांकित करने का प्रयास किया। परन्तु वे इस कार्य में सर्वथा सफल नहीं हो सके, यथा– आचार्य शंकर ने *छान्दोग्यापनिषद्* के भाष्य में इस भेद को रेखांकित करने का प्रयास किया है-

'इतिहास इति उर्वशीपुरूरवसोः संवादादिः उर्वशी ह्यप्सरा इत्यादि ब्राह्मणमेव । पुराणम् असद्वा आसीदित्यादि' [16]

परन्तु इससे स्पष्ट होता है कि वृत्तात्मक आख्यान 'इतिहास' है। एवं सृष्ट्यादिप्रतिपादक आख्यान 'पुराण' है। ये दोनों ही वेदों में उपलब्ध होते हैं। आचार्य सायण अपने *शतपथब्राह्मणभाष्य* में इसी प्रसंग को अन्यथा प्रस्तुत किया है, यथा–

'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास इत्यादिकं सृष्टिप्रतिपादकं ब्राह्मणं इतिहासः' [17]

'उर्वशी ह्यप्सराः पुरूरवसमैडं चकमे' [18]

'इत्यादीनि पुरातनपुरुषवृत्तान्तप्रतिपादकानि पुराणम्' [19]

इनके अनुसार सृष्टिप्रतिपादक ब्राह्मण 'इतिहास' है एवं इतिवृत्तप्रतिपादक ब्राह्मण 'पुराण' है। इससे स्पष्ट होता है कि यह 'इतिहास-पुराण' की विभाजन रेखा अस्पष्ट थी। अन्यथा दो आचार्य दो बात नहीं लिखते।

'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति अनेक आचार्यों ने दी है। नाना पुराणों में भी

'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति पाई जाती है। **'पुरा भवम्'** इस अर्थ में **'सायंचिरं प्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च'**– इस *अष्टाध्यायी* सूत्र (4.3.23) के द्वारा पाणिनि ने 'पुरा' शब्द से 'ट्यु' प्रत्यय करके तथा 'तुट्' आगम के द्वारा 'पुरातन' शब्द निष्पन्न किया है। पाणिनि के *अष्टाध्यायी* में दो स्थलों पर स्वयं पाणिनि ने 'पुराण' शब्द का प्रयोग किया है, यथा– **'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः सामानाधिकरणेन'** (2.1.49) एवं **'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु'** (4.3.105)। इन उदाहरणों में 'पुराण' शब्द में तुडागम का अभाव निपातन से सिद्ध होता है। पाणिनीय प्रक्रिया के अनुसार 'पुरा' शब्द से ट्यु प्रत्यय करके तुडागम के बिना 'पुराण' शब्द निष्पन्न किया जाता है।

पुराण पञ्चलक्षणात्मक हैं या चतुर्लक्षणात्मक हैं। यह प्रसंग *विष्णुपुराण* (3. 6.15) के प्रतिपाद्य विषयों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है–

'आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैः गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः ।
पुराणं संहिताचक्रे व्यासः सत्यवतीसुतः ॥'

इसके द्वारा यह बताया गया है कि पुराण के चार प्रतिपाद्य हैं– आख्यान, उपाख्यान, गाथा एवं कल्पशुद्धि (धर्मशास्त्र)। दूसरा लक्षण जो *अमरकोश* और विभिन्न पुराणों में आया है। यथा *विष्णुपुराण* (3.6.24) के अनुसार–

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥'

इसके अनुसार सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर एवं वंशानुचरित– ये पुराण के पाँच प्रतिपाद्य विषय हैं।

आपस्तम्बधर्मसूत्र आदि ग्रन्थों के द्वारा भी यह प्रमाणित किया जा सकता है कि ये सभी प्रतिपाद्य विषय– आख्यान, उपाख्यान, गाथा, कल्पशुद्धि, सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश एवं मन्वन्तर आदि विषय पुराणों के प्रतिपाद्य हैं।

इसी प्रकार इतिहास के क्षेत्रों को भी पारिभाषित किया गया है। आचार्य कौटिल्य ने 'इतिहास' को बड़ी स्पष्टता के साथ पारिभाषित किया है, यथा–

'पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः'[20]

वस्तुतः इतिहास प्राचीन आख्यानों का वर्णन करता है। यह मात्र तिथिक्रम

और घटना का संकलन नहीं है, प्रत्युत नाना विषयों को प्रकट करनेवाला तथा लोकव्यवहार के तत्त्वों को प्रकाशित करनेवाला यह इतिहास मानव के हृदय से मोह तथा अज्ञान का भी निवारण करता है—

'इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना ।
लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत् सम्प्रकाशितम् ।।'

'इतिहास-पुराण' की एकता एवं पार्थक्य प्रकाशित करनेवाले अनेक ग्रन्थ वैदिक परम्परा में उपलब्ध होते हैं। *अथर्ववेद* 'पुराण' शब्द को 'इतिहास' अर्थ में भी गतार्थ करता है। पुराण शब्द का एक अन्य अर्थ भी 'उच्छिष्ट'— यह *अथर्ववेद* शास्त्रों की सृष्टि के प्रसंग में व्यवहृत करता है। इसी प्रकार अन्य स्थल पर अथर्ववेद में व्रात्य के अनुगमन के अवसर पर इतिहास का पृथक् रूप में प्रयोग उपलब्ध होता है।[21]

अनेक पुराणों मे भी 'पुराण' शब्द 'इतिहास' अर्थ को गतार्थ करता है। इसी प्रकार अवान्तरकालीन वैदिक एवं पुराण-ग्रन्थों में 'इतिहास-पुराण' का पृथक् अर्थ में प्रयोग भी उपलब्ध होता है। बाद में धीरे-धीरे 'पुराण' शब्द पुराण को ही नहीं, प्रत्युत समग्र लौकिक वैदिक वाङ्मय को ही गतार्थ करने लगा जो मानव के कल्याण एवं हित के साधन थे, यथा—

'शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि पुराणानां समुच्चयम् ।
यस्मिन् ज्ञाते भवेज्ज्ञातं वाङ्मयं सचराचरम् ।।'[22]

पुराण को दो रूपों में व्याख्यायित किया जा सकता है। एक तरफ 'पुराण' विद्यास्थान का वाचक है तो दूसरी तरफ **'पुराणानि'** अथवा **'पुराणसंहिता'** ग्रन्थ के वाचक हैं। पुराणविद्या स्थान का उल्लेख हमें वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है। *ऋग्वेद* के अनेक मन्त्रों में पुराण शब्द का प्रयोग हमें प्राप्त होता है।[23] **'पुराणी'**[24] शब्द का प्रयोग गाथा के विशेषण के रूप में भी *ऋग्वेद* में प्राप्त होता है। *अथर्ववेद* में 'पुराण' शब्द इतिहास, गाथा, नाराशंसी आदि अर्थों का वाचक है। *अथर्ववेद* में 'पुराणविद्या' की दैवीय उत्पत्ति 'उच्छिष्ट संज्ञक ब्रह्म' से बतलाई गई है। *अथर्ववेद* कहता है—

'ऋचः सामानि छन्दासि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिविदेवा दिविश्रिताः ।।'[25]

अर्थात् ऋक्, साम, छन्द (अथर्व) और यजुर्वेद के साथ पुराण भी उच्छिष्ट यज्ञ अवशेष या ब्रह्म से उत्पन्न हुए और द्युलोक में निवास करनेवाले यज्ञमय उच्छिष्ट से या ब्रह्म से देव भी उत्पन्न हुए। 'उच्छिष्ट' शब्द के अर्थ के संबंध में आचार्यों का मतभेद है। कुछ आचार्य 'उच्छिष्ट' शब्द का अर्थ यज्ञ अवशेष तथा सायणादि कुछ आचार्य 'उच्छिष्ट' का अर्थ परमात्मा या ब्रह्म करते हैं— **'उद् ऊर्ध्वम् अर्थात् सर्वेषां भूतभौतिकानामवसाने शिष्ट उर्वरितः परमात्मा।'** इस प्रकार की 'उच्छिष्ट' शब्द की व्युत्पत्ति से यह अर्थ गतार्थ होता है कि सब पदार्थों का अवसान होने पर रहनेवाले परमात्मा या ब्रह्म ही इस उच्छिष्ट शब्द का वाचक है। *भागवत* आदि पुराणों में भी परमात्मा या ब्रह्म 'निषेधशेष' इस विशेषण से प्रयुक्त हुआ है—

'स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ् न स्त्री न षण्णो न पुमान् न जन्तुः ।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन् निषेधशेषः जयतादशेषः ॥'

अथर्ववेद में **व्रात्यपद** परमात्मा का वाचक है। *पैप्पलादसंहिता* में **'व्रात्यो वा इदमग्र आसीत्'** के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि विश्वसृष्टि की आद्यावस्था में व्रात्य के सबसे प्रथम होने का बोध एवं परमात्मा/ब्रह्म की एकता को इस शब्द से बताया गया है।

रुद्राध्याय में **'नमो व्रत्याय'** कहकर व्रात्य के साथ रुद्र की ऐक्यता को प्रतिपादित किया गया है। इसी रुद्र के प्रतिनिधि व्रात्य के अनुगमन का विधान इस सूक्त में देवादिकों तथा वेदादिकों द्वारा प्रतिपादित हुआ है। इसी प्रकार *अथर्ववेद* की दृष्टि में इतिहास और पुराण, *ऋग्वेद, सामवेद,* तथा *यजुष्* के समान ही अभ्यर्हित हैं। इतिहासपुराण पञ्चम वेद का प्रतिनिधित्व करते हैं, यथा—

'स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् । तमितिहासः च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् ।

इतिहासस्य च स वै पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद'[26]

पुराणों के जो पञ्चलक्षण बताए गए हैं, वे प्रायः विद्यमान पुराणों में पूर्णरूप से परिभाषा के अनुसार घटित नहीं होते हैं। कुछ पुराणों में तो इनसे कई अतिरिक्त विषय भी प्रतिपादित हुए हैं। अन्य में तो पञ्चलक्षणों में से कई विषय प्रतिपादित नहीं हुए हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि केवल पञ्चलक्षणात्मक होना ही पुराण का

लक्षण नहीं रह गया था। फिर भी विद्यमान पुराणों के विषय के रूप में ये पञ्चलक्षण बहुत ही छोटे अंश हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि धर्मशास्त्रानुशासन पुराणों का मूल उद्देश्य नहीं था और न ही इनकी प्रारम्भिक रचना का कोई साम्प्रदायिक हेतु था। परवर्ती आचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि पञ्चलक्षण केवल उपपुराणों के विषय हैं। महापुराण होने के लिए दश लक्षण होने चाहिये। पूर्वोक्त पञ्चलक्षण के अतिरिक्त अन्य लक्षण ये हैं– वृत्ति, रक्षा (ईश्वरावतार), मुक्ति, हेतु (जीव) और अपाश्रय (ब्रह्म)। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है–

'सर्गश्चाथ विसर्गश्चवृत्ती रक्षान्तराणि च ।
वंशो वंश्यानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः ॥
दशभिर्लक्षणैः युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः ।
केचित्पञ्चविधं ब्रह्मन् महदल्पव्यवस्थया ॥'[27]

पुराणविद् मानते हैं कि दशलक्षणों से युक्त (सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, मन्वन्तर, वंश, वंशानुचरित, संस्था, हेतु और अपाश्रय) पुराण 'महापुराण' कहलाता है। कुछ पुराणविद् केवल पञ्चलक्षणात्मक ही पुराण मानते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि महदल्पव्यवस्था से महापुराण दशलक्षणात्मक एवं उपपुराण पञ्चलक्षणात्मक होते हैं। *मत्स्यपुराण* ने विषयों के शृंखला में ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य और रुद्र की स्तुति, सृष्टि का लय और स्थिति, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष– इन विषयों को भी पुराण-लक्षण में जोड़ा है, यथा–

'ब्रह्मविष्ण्वर्करुद्राणां माहात्म्यं भुवनस्य च ।
ससंहारप्रदानां च पुराणे पञ्चवर्णके ॥
धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चैवात्र कीर्त्यते ।
सर्वेष्वपि पुराणेषु तद्विरुद्धं च यत्फलम् ॥' [28]

ये सभी विषय पुराणों में हैं और इनके विरुद्ध जो कुछ भी है, उनका भी फल वर्णित है। ऐसा मत्स्यपुराणकार का मत है। पुराणों की शृंखला में महापुराण, उपपुराण, औपपुराण, जातिपुराण, स्थलपुराण, सूक्ष्मपुराण, कुलपुराण आदि गिने जा सकते हैं। श्रमण-परम्परा में भी पुराण-लेखन हुआ है। ये भी उल्लेखनीय हैं।

महापुराणों की नामावली क्रम सभी पुराणों में प्रायः समान ही है। इसमें केवल दो-एक परिवर्तनों को छोड़कर एकरूपता ही है। महापुराणों की नामावली यह

है— ब्रह्म, पद्म, विष्णु, वायु, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, वराह, लिङ्ग, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्ड। कुछ स्थलों पर वायु के स्थान पर *शिवपुराण* की गणना महापुराण के रूप में की गई है।

देवीभागवतपुराण में यह नामावली इस प्रकार है—

'मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम् ।
नालिंपाग्निपुराणानि कूस्कं गारुडमेव च ॥'[29]

अर्थात् (आद्यक्षर) 'म' वाले दो, 'भ' वाले दो, 'ब्र' वाले तीन, 'व' वाले चार, 'ना' वाले एक, 'लिं' वाला एक, 'प' वाले एक, 'अग्निपुराण' एक, 'कू' वाला एक 'स्क' वाला एक और एक गरुणपुराण।

उपपुराणों की गणना में एकरूपता नहीं है। अभी तक उपपुराणों के अध्ययन की उपेक्षा ही रही है। उपपुराण महापुराणों के बाद के पुराण रहे हैं। इनका स्वरूप भी अधिक साम्प्रदायिक एवं कई नूतन विषयों का मिश्रणवाला रहा है, ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं। विभिन्न स्थलों पर उपलब्ध इनकी 18 नामावली यह है— सनत्कुमार, नरसिंह, नन्द, शिवधर्म, दुर्वासस्, नारदीय, कपिल, वामन, उशनस्, मानव, वरुण, कलि, महेश्वर, साम्ब, सौर, पराशर, मारीच और भार्गव। इनके अतिरिक्त औपपुराण, जातिपुराण, स्थलपुराण, सूक्ष्मपुराण, कुलपुराण और जैनादिपुराणों की नामावलियों की चर्चा अभी यहाँ नहीं कर रहे हैं। यद्यपि यह विषय भी महत्त्वपूर्ण है। कुछ विद्वान् मानते हैं कि जो पुराण ठीक-ठीक पञ्चलक्षणयुक्त हैं और जो नहीं हैं, यह देखकर इनके प्राचीन और प्राचीनतर— दो वर्ग किए जा सकते हैं। इस नियम के आधार पर वायु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य और विष्णु प्राचीन तथा अन्य प्राचीनतर प्रतीत होते हैं। महापुराणों का एक अन्य वर्गीकरण और है जिसमें विशेष रूप से विष्णु, शिव और अन्य देवताओं के विचार से किया गया है। वैष्णव दृष्टि से इन पुराणों को सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद से तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—

'मात्स्यं कौर्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च ।
आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोध मे ॥
वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम् ।
गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने ॥
सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै ।

ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च ॥
भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे ॥'[30]

मत्स्यपुराण के अनुसार पुराणों का भेद रस प्रकार है–

'सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः ।
राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः ॥
तद्वदग्नेश्च माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च ।
संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणां च निगद्यते ॥'[31]

सात्त्विक पुराणों में हरि का माहात्म्य विशेष है। राजसिक पुराणों में ब्रह्मा का और तामसिक पुराणों में अग्नि और शिव का। इसी प्रकार संकीर्ण पुराणों में सरस्वती और पितरों का माहात्म्य वर्णित है। *स्कन्दपुराण* में पुराणों का वर्गीकरण किञ्चिद् भिन्न रूप में किया गया है–

'अष्टादशपुराणेषु दशभिर्गीयते शिवः ।
चतुर्भिर्भगवान् ब्रह्मा द्वाभ्यां देवी तथा हरिः ॥'[32]

इस प्रकार 18 महापुराणों में दश के द्वारा शिव, चार के द्वारा ब्रह्मा, दो-दो के द्वारा देवी तथा हरि की स्तुति की गई है। पुराणों के प्रतिपाद्य विषयों की आलोचना करने के पश्चात् प्रतिपाद्य विषय विभाग के अनुसार पुराणों के छः वर्ग किए गए हैं–

पुराण षड्वर्ग

प्रथम वर्ग ज्ञान विश्वकोश वर्ग (गरुड़, अग्नि, नारदपुराण)
द्वितीय वर्ग तीर्थव्रत प्रतिपादन वर्ग (पद्म, स्कन्द और भविष्यपुराण)
तृतीय वर्ग दार्शनिक वर्ग (ब्रह्म, भागवत, ब्रह्मवैवर्तपुराण)
चतुर्थ वर्ग ऐतिहासिक वर्ग (ब्रह्माण्ड और वायुपुराण)
पञ्चम वर्ग साम्प्रदायिक साहित्य वर्ग (शिव, लिङ्ग, वामन और मार्कण्डेय)
षष्ठ वर्ग सृष्टि-विषयक वर्ग (वाराह, कूर्म और मत्स्यपुराण)

इनके पाठों में बार-बार संशोधन होने के कारण मूलपाठ विलुप्त-सा हो गया है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है।

तमिल-परम्परा में पुराणों के पाँच वर्ग किए गए हैं–

1. **ब्रह्मा** : ब्रह्म और पद्म
2. **सूर्य** : ब्रह्मवैवर्त
3. **अग्नि** : अग्नि
4. **शिव** : शिव, स्कन्द, लिङ्ग, कूर्म, वामन, वाराह, भविष्य, मत्स्य, मार्कण्डेय एवं ब्रह्माण्ड
5. **विष्णु** : नारद, भागवत, गरुण, विष्णु

पुराणों में पुराणों की भिन्न-भिन्न प्रकार से उत्पत्ति बतलाई गई है। *विष्णुपुराण* में यह वर्णन है कि वेदव्यास ने वेदों का विभाग करने के बाद प्राचीन कथाओं, आख्यानों, गीतों और जनश्रुतियों तथा तथ्यों को एकत्रकर एक पुराणसंहिता का निर्माण किया और अपने शिष्य सूत लोमहर्षण को उसकी शिक्षा दी। इसकी छः प्रकार की व्याख्याएँ लोमहर्षण ने अपने शिष्यों को पढ़ायीं। लोमहर्षण की यह संहिता और तीन संहिताएँ उनके शिष्यों की मिलाकर पुराणों की चार मूल संहिताएँ कही गई हैं। इनमें से आज कोई भी संहिता विद्यमान नहीं है। *वायुपुराण* के अनुसार विवरण इस प्रकार है– ब्रह्मा ने सबसे पहले सभी शास्त्रों में पुराणों का स्मरण किया। पश्चात् उनके मुख से वेद निकले–

'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥'

पुराणों के संरक्षण का कार्य सूतों को सौंपा गया था। मूल सूत प्रथम यज्ञ से योगशक्ति के द्वारा उत्पन्न हुए और पुराण परम्परा की रक्षा उन्हें सौंपी गयी। *अथर्ववेद* में **'पुराण'** शब्द का एकवचन में प्रयोग, पुराणों में दी गई वंशावलियों की भाषा का सर्वत्र एक सा होना और यह परम्परागत जनश्रुति कि आरम्भ में केवल एक ही पुराण था। इन बातों में पं० मधुसूदन ओझा (1866-1939) आदि विद्वानों को यह विश्वास हो गया कि आरम्भ में केवल एक ही पुराण था। यथा–

'पुराणमेकमेवासीत्तदा कल्पान्तरेऽनघ'

'पुराण' शब्द का एकवचन में प्रयोग पुराणों की समष्टि पुराणसंहिता का वाचक है। वंशावलियों की यह बात है कि विभिन्न पुराणों में विभिन्न वंशावलियों के साथ आरम्भ होते हैं और विभिन्न समयों में समाप्त होते हैं। इनका विभिन्न स्थलों पर निर्माण हुआ है। अतः एक ही पुराण नहीं था। जैसे एक ही वेद नहीं थे। न एक ही

ब्राह्मण था। परन्तु यह मत सर्वथा स्वीकरणीय नहीं था आचार्यों में। विद्वान् लोगों ने इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए विभिन्न मतों का प्रतिपादन किया है।

पुराणों के लक्षणों के अनुसार पुराणों में सर्ग, प्रतिसर्ग, देवताओं और ऋषियों के वंशवृत्त, मन्वन्तर और राजवंश वर्णित होते हैं। इनमें से पूर्वोक्त तीन विषयों में प्राचीन धर्म, आख्यान, तत्वज्ञान और सृष्टि-वर्णन– ये विषय आ जाते हैं। इनके अतिरिक्त राजाओं के वंशवृत्त और इतिहास की सामग्री मिलती है। इनके सिवा अन्य विषय धार्मिक शिक्षा, कर्मकाण्ड, दान, व्रत, भक्ति, योग, विष्णु और शिव के अवतार, श्राद्ध, आयुर्वेद, संगीत, व्याकरण, साहित्य, छंदःशास्त्र, नाट्य, ज्योतिष, शिल्पशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजधर्म इत्यादि सभी विषयों का समावेश पुराणों में किया है। इन सभी विषयों का जीवन के चारों पुरुषार्थों– धर्म, अर्थ काम और मोक्ष के साथ साक्षात् संबंध है।

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥'

मनुस्मृति की यह उक्ति बताती है कि इतिहास और पुराण के द्वारा ही वेदार्थ का विस्तार करना चाहिए। जिन्होंने शास्त्रों का सम्यक् श्रवण नहीं किया है, उनसे वेदों को भय होता है कि वे हमारे ऊपर प्रहार (आक्षेप) करेंगे। आज यही हो रहा है। इतिहास और पुराणों में उन्हीं वेदमंत्रों का अर्थ विस्तार किया गया है। अतएव जिस मंत्र का अर्थ जानना हो, उसको लेकर या तो मनोनिग्रह करना चाहिए या उस मंत्र के ऋषि के ग्रन्थों में तथा इतिहास, पुराण में उस मंत्र के देवता के स्वरूप के संबंध में जो कुछ वर्णित है, उस सबको मंत्र का अर्थ समझना चाहिये, यथा– वेदों में इन्द्र के बहुत से मंत्र हैं। इन मन्त्रों के अर्थ के संबंध में, पुराणों में, धर्मशास्त्र में, स्मृतियों में अन्य शास्त्रों में जितना चरित वर्णित है, सब देखना होगा। जिस मन्त्र के जो ऋषि हैं, उनकी वाणी पुराणादियों में जहाँ हैं, वहीं इस मंत्र का अर्थ भी है। जो ज्ञानसूत्र रूप मंत्रों में मन एकाग्र करके मंत्रदर्शन में समर्थ नहीं थे, जो सस्वर उच्चारण नहीं कर सकते थे, जिनकी बुद्धि परोक्षवाद नहीं ग्रहण कर सकती थी, उनके लिए वेदार्थ पुराणों के माध्यम से सरल रीति से प्रकट हुआ। सृष्टि के आदि में ही उन्हें इतिहास और पुराण का ज्ञान ब्रह्माजी से स्रष्टा से उसी प्रकार ऋषि-परम्परा से प्राप्त हुआ, जिस प्रकार वैदिक ज्ञान प्राप्त हुआ। दोनों में कोई अन्तर नहीं था। केवल एक सूत्ररूप था और दूसरा भाष्यरूप था। एक ऋषि-परम्परा से प्राप्त ज्ञान था

तो दूसरा मुनि-परम्परा से प्राप्त ज्ञान था। वैदिक ज्ञान-परम्परा एवं पौराणिक ज्ञान-परम्परा में यही अन्तर है। ये दोनों परम्पराएँ एक-दूसरे की पूरक हैं। *बृहदारण्यकोपनिषद्* में कहा गया है– **'स यथा द्रैधाग्नेरभ्याहितात् पृथक्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि अस्यैवैतानि निश्वसितानि ।'**[33] अर्थात्, जैसे गीले ईंधन में अग्नि लगाने से धुआँ निकलता है, उसी प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, आंगिरस अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या (धनुर्वेदादि), उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मंत्रविवरण तथा अर्थवाद– वे इस महद्भूत (परमात्मा) के ही निःश्वास हैं। इस प्रकार इस श्रुति में पुराणादि समस्त शास्त्रों को अपौरुषेय और अनादि बतलाया है। यह ज्ञान ब्रह्माजी को मिला। उनसे ही इस ज्ञान का विस्तार हुआ–

'इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः ।
सर्वेभ्य एवं वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः ॥'[34]

मत्स्यपुराण भी कहता है कि समस्त शास्त्रों में ब्रह्माजी ने सर्वप्रथम पुराणों का स्मरण उपदेश किया। पश्चात् उनके मुख से वेद प्रकट हुए–

'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥'

मत्स्यपुराण के इस वचन ने यह स्पष्ट कर दिया कि ज्ञान की प्राप्ति मनुष्य को परमात्मा की ओर से सर्वप्रथम स्पष्ट एवं विस्तृत रूप में हुई। उस स्पष्ट रूप के प्राप्ति के सभी अधिकारी थे। पश्चात् उस ज्ञान के मूल सूत्र, जो सूत्र समझने और उनकी रक्षा करने में समर्थ थे, उनको प्राप्त हो गये। इस प्रकार पुराण भी अनादि परम्परा से प्राप्त ज्ञान ही हैं। वेदों की भाँति पुराणों की भी परम्परा प्राप्त होती है। एक ही मूल पुराण अधिकारीभेद से शाखाभेद के रूप में विस्तृत हुआ, यह भी पुराणों से ज्ञात होता है। भगवान् व्यास ने पुराणों की नवीन रचना नहीं की। अवश्य ही उन्होंने सृष्टि के आरम्भ से चली आ रही पुराण-परम्परा को, जो बीच में अस्त-व्यस्त हो गई थी, उसे व्यवस्थित किया। अपनी वाणी से उसे सजाया। अष्टादश पुराणों का उसे रूप दिया। आज जो प्राप्त अष्टादश पुराण हैं, वे इसी द्वापर के अन्त में भगवान् व्यास द्वारा व्यवस्थित किए गए पुराण-ग्रन्थ हैं। वेदों को ऋषि-परम्परा ने धन-जटादि अनेक पाठों के द्वारा यथावत् व्यवस्थित रखा। वेदों में एक मात्रा तक का न्यूनाधिक्य

नहीं हुआ। अतः वेद अपौरुषेय हैं। केवल मंत्रक्रम अर्थ तथा स्मरण-सुविधा के लिए बदला गया और क्रम को अपौरुषेय नहीं माना गया। पुराणों के संबंध में ऐसी बात नहीं रह सकी। वेदार्थ अत्यन्त विस्तृत था। उसे यथावत् स्मरण रखना सम्भव नहीं था। करोड़ों वर्षों के सृष्टिचक्र में वह अनेक बार विस्मृत हो गया। अनेक बार उसके अनेक अंश अज्ञात रह गये। बारम्बार ऋषिगण मंत्रों में मनोनिग्रह करके मंत्रार्थ विस्तार द्वारा उस मूलज्ञान को प्रकट करते रहे। इसी कारण वेदमंत्र के पुराने द्रष्टा दूसरे ऋषि थे। और अब दूसरे ऋषि माने जाते हैं। द्वापर के अन्त में भगवान् व्यास ने देखा कि अनादि वेदार्थ ऋषियों की वाणी में बहुत विस्तृत और अव्यवस्थित हो गया है। उन्होंने उस सम्पूर्ण वेदार्थ ज्ञान-परम्परा का संकलन किया और अठारह पुराणों तथा *महाभारत* के रूप में लिखा। पुराणों के अनेक स्थल यथावत् ऋषियों के शास्त्रों के रख लिए गए हैं। इस प्रकार पुराणों की रचना या संकलन भगवान् व्यास द्वारा की गई है; परन्तु उनका समस्त वर्णन, पूरे उपदेश तथा घटनाएँ अनादि हैं। इस प्रकार पुराणवाणी तो व्यासकृत है परन्तु उनका वर्णन, ज्ञानादि अपौरुषेय एवं नित्य है। यह तथ्य यद्यपि सभी विद्वान् नहीं स्वीकार करते हैं, तथापि भारतीय ज्ञान-परम्परा में इसी प्रकार की अवधारणा पुराणों के संबंध में विद्यमान रही है।

वेदों के सभी ज्ञान सूत्ररूप से हैं तथा परोक्ष पद्धति से वर्णित हैं। पुराणों ने उसी ज्ञान को स्पष्ट एवं विस्तृत किया है। पुराणों में जो इतिहास-भूगोल तथा प्राणियों के वर्णन हैं वे पुराणों को आधुनिक या कालविशेष की रचना नहीं बतलाते हैं। हमें ऐसा समझना चाहिए। इसी प्रकार *महाभारत* और पुराणों में वेद के अनादि अपौरुषेय अर्थ या ज्ञान, जो लुप्त वा बिखर चुके थे। उन्हें एकत्र करने में भगवान् व्यास 'इतिहासपुराण' अर्थात् पुराणों एवं महाभारतादि के द्वारा प्रवृत्त हुए।

पुराणों के अर्थ के संबंध में हमें तीन प्रकार की व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं। अर्थात् पुराणों में एक साथ तीन प्रकार के वर्णन प्राप्त होते हैं– आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक– **'पुराणव्याख्या त्रिधा आधिभौतिकी आधिदैविकी आध्यात्मिकी च'**। ये त्रिविध व्याख्याएँ सत्य हैं। वस्तुतः आध्यात्मिक व्याख्या नित्य जगत् की व्याख्या है। आधिदैविक भावजगत् की व्याख्या है और आधिभौतिक व्याख्या स्थूल जगत् की व्याख्या है। तीनों जगत् परस्पर सर्वथा अनुरूप हैं। जो लोग यह मानते हैं कि रामायण और महाभारत हृदय में होनेवाले दैव एवं आसुरभावों के संघर्ष के रूपक हैं, वे भौतिक-जगत् की घटनाएँ नहीं हैं, उन्हें यह समझना चाहिए कि अंतर्जगत् स्थूल जगत् में व्यक्त होता है। अतएव जो अंतर्जगत्

का यथार्थ रूपक है। उसकी घटनाएँ अवश्य ऐतिहासिक ही होंगी। जो स्थूल जगत् की यथार्थ घटनाओं को छोड़कर रूपक बनाने चलेगा, वह अंतर्जगत् का यथार्थ वर्णन नहीं कर सकता; क्योंकि अंतर्जगत् स्थूल जगत् से वैसादृश्य यानि असमानता नहीं रखता है।

वेदों में इतिहास है, भूगोल है, ज्योतिष आदि अनेक विद्याएँ हैं। वेद तो सभी विद्या-परम्पराओं का मूलस्रोत माना जाता है। जीवजगत् का भी वेदों में वर्णन है। जो कुछ विश्व में हो गया, हो रहा है या होनेवाला है, वह वेदों में है। सभी घटनादि के मूलरूप श्रुति में नहीं हो तो उसमें पूर्णज्ञान है, यह हम नहीं कह सकते हैं। नित्य इतिहास वेदों में है और नित्य भूगोलादि भी। नित्य इतिहास एवं नित्य भूगोलादि का वह नित्य अंश तो प्रत्येक सृष्टि में आवृत्त होता रहता है। पुराणों ने वेदों के उसी रेखाचित्र में रंग भरकर उसकी आवृत्ति को स्पष्ट किया है। यथा वेदों में अपरिवर्तनीय इतिहास है। पुराणों ने कल्पभेद से होनेवाले परिवर्तन को भी स्पष्ट कर दिया है। यही दशा भूगोलादि की भी है। इस प्रकार पुराण भी नित्य ज्ञान परम्परा के वाहक हैं। महापुराण एवं उपपुराणों के सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि किसी कल्प में कोई पुराण महापुराण समझा जाता था और किसी कल्प में वह उपपुराण माना गया है। इसी कारण से पुराणों में महापुराण और उपपुराण का निर्णय करने में मतभेद होता है। विभिन्न पुराणों में महापुराणों की नामावली दी गई है। *भागवतमहापुराण* के अनुसार महापुराणों की नामावली अधोलिखित है– 1. ब्रह्मपुराण, 2. पद्मपुराण, 3. विष्णुपुराण, 4. शिवपुराण, 5. भागवतमहापुराण, 6. नारदीयपुराण, 7. मार्कण्डेयपुराण, 8. अग्निपुराण, 9. भविष्यपुराण, 10. ब्रह्मवैवर्तपुराण, 11. लिङ्गपुराण, 12. वाराहपुराण, 13. स्कन्दपुराण, 14. वामनपुराण, 15. कूर्मपुराण, 16. मत्स्यपुराण, 17. गरुड़पुराण एवं 18. ब्रह्माण्डपुराण।

कल्पभेद से कुछ पुराण महापुराण होते हुए भी उपपुराण अन्य कल्पों में माने जाते हैं। उपपुराणों के सन्दर्भ में यह अवधारणा असत्य समझनी चाहिए कि उपपुराणों का रचना काल महापुराणों के पश्चात् है। क्योंकि कुछ उपपुराण भगवान् व्यास द्वारा संकलित 18 महापुराणों के पूर्व के हैं। उनके उद्धरण महापुराणों में उपलब्ध होते हैं। उपपुराण उसी प्रकार वेदार्थ-विस्तार करते हैं जिस प्रकार महापुराण। उपपुराणों की नामावली इस प्रकार प्राप्त होती है– 1. सनत्कुमार, 2. नरसिंह, 3. बृहन्नारदीय, 4. शिवधर्मोत्तर, 5. दुर्वासस्, 6. कपिल, 7. मानव, 8. उशनस्, 9. वारुण, 10. आदित्य (सौर अथवा सूर्य), 11. कालिका, 12. साम्ब, 13.

नन्दिकेश्वर, 14. सौर, 15. पाराशर, 16. माहेश्वर, 17. वसिष्ठ, 18. भार्गव, 19. आदि, 20. मुद्गल, 21. कल्कि, 22. देवीभागवत, 23. देवी (महाभागवत), 24. बृहद्धर्मोत्तर, 25. परानन्द, 26. पशुपति, 27. हरिवंश इत्यादि।

इनके अतिरिक्त जब हम महापुराणों में से कल्पभेद के कारण उपपुराण के रूप में गिनते हैं तब इन पुराणों का नाम उल्लेखनीय है– कूर्मपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, भागवत, देवीभागवत और वायुपुराण आदि। संख्या के विषय में अनेक मतभेद हैं। अभी हम यहाँ पर औपपुराण, सूक्ष्मपुराण, जातिपुराण, स्थलपुराण, कुलपुराण एवं जैनादि पुराणों की संख्या की चर्चा नहीं कर रहे हैं।

महापुराणों में एवं उपपुराणों में पुराणों के सभी लक्षण स्थान-स्थान पर पाए जाते हैं। ऐसा नहीं है कि एक अध्याय या स्कन्ध उस लक्षण का विस्तार हो। इन सभी पुराण-लक्षणों के भीतर सृष्टि का समस्त ज्ञान आ गया है। यह स्पष्ट समझना चाहिए। विभिन्न पुराणों में पुराणों की विषयानुक्रमणिका दी हुई है। *नारदपुराण* में भी इस प्रकार की विषयानुक्रमणिका उपलब्ध है। *नारदपुराण* की सूची में *भविष्यपुराण* को छोड़कर अन्य सभी पुराण की विषयनुक्रमणिका उपलब्ध है।

पुराणों में वर्णन भेद एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न है। जैसा कि हम जानते हैं कि *अथर्ववेद* ने पुराण की गणना वेदों के साथ की है–

'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषासह' [35]

इसी प्रकार *छान्दोग्योपनिषद्* भी वेदों के साथ पुराण की गणना करता है–

'स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' [36]

इस प्रकार अनादि-अपौरुषेय श्रुति में 'पञ्चमवेद' कहकर जिस इतिहासपुराण की चर्चा की गई है। वह अनादि और अपौरुषेय ही होगा। उस नित्य ज्ञान का एक रूप होना चाहिए। पुराणों में एक ही कथा बार-बार आती है। किसी पुराण में ब्रह्मा को, किसी में शक्ति को, किसी मे शिव को, किसी में विष्णु एवं किसी में अन्य को सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वोपरि मानते हैं। इस प्रकार का भेद अपौरुषेय ज्ञान में नहीं होना चाहिए। यह प्रश्न पुराण की शैली से संबंधित है। कल्पभेद अन्य कारण है विषयभेद का। इन सभी प्रश्नों को पुराणार्थ सिद्धान्तों के द्वारा समाहित किया है। वर्तमान पुराणों में कल्पभेद से इतिहासादि में जो अन्तर होता है, उसका भी

स्पष्टीकरण विद्वानों ने किया है। किन्हीं दो पुराणों में प्रायः एक कल्प की कथा नहीं है। प्रत्येक कल्प की सृष्टि किसी एक ही नित्य लोक के सान्निध्य से नहीं होती। किसी कल्प में किसी नित्यलोक से सृष्टि-प्रवाह चलता है और किसी में कहीं से। जिस कल्प में जिस नित्यलोक से सृष्टि-प्रवाह चलता है, उस कल्प में उस लोक के अधिष्ठाता की प्रधानता का स्वभावतः वर्णन करेगा। इसी प्रकार आदि में भी जो पुराण रहे होंगे, उनमें भी इसी प्रकार के कल्पभेदों के चरित और अधिष्ठताओं का वर्णन होगा। भगवान् व्यास ने पुराणों की संख्या और उनका वर्णन अपनी ओर से नहीं बदले। बदलना सम्भव भी नहीं है। क्योंकि जिस वेदार्थ के लिए अपौरुषेय पुराण थे, उन्हें बदला कैसे जा सकता है? सच्चा इतिहास कोई अपने शब्दों में भले ही लिख दे, पर उसमें बदलने को क्या होता है। पुराणों में वेदार्थ-विस्तार होने से उन साधन निष्ठाओं का परिपाक हुआ है। कोई पुराण शैव-निष्ठा का, कोई वैष्णव निष्ठा का, कोई सौर, कोई शाक्त, कोई ब्राह्म तथा कोई गाणपत्य निष्ठा का परिपाक करता है। जिस पुराण में जिस कल्प का वर्णन है, उसमें उस कल्प की सृष्टि जिस दिव्य लोक से उद्भूत हुई है, उसके अधिष्ठाता की प्रधानता तथा उनकी उपासना का समर्थन, पोषण, वर्णन है। ये सभी अधिष्ठाता एक ही परम तत्त्व की लीलाभिव्यक्तियाँ हैं। इस प्रकार पुराणों में न तो पुनरुक्ति हुई और न उनकी संख्या तथा आकार नित्य अपौरुषेय रूप से भिन्न ही हैं।

पुराणों में वर्णित इस कल्पीय इतिहास के विषय में आज के विद्वान् बड़ी सरलता से यह कह देते हैं कि भारतीय लोग ठीक-ठीक से इतिहास लिखना नहीं जानते थे, पुराणों में प्राप्त इतिहास बहुत अस्त-व्यस्त है। लेकिन वे यह नहीं सोचते कि इतिहास में प्रत्येक मानव के चरित का वर्णन सम्भव नहीं है। आज भी जिन जातियों का इतिहास प्राप्य है उनमें राजा, राजकुल, प्रसिद्ध विद्वान् तथा मुख्य-मुख्य राजनैतिक पुरुषों का ही वर्णन है। इतिहास का उद्देश्य प्रत्येक घटना का संग्रह नहीं है। उसका उद्देश्य केवल उन घटनाओं का संग्रह या वर्णन करना है जो समाज एवं संस्कृतियों को प्रभावित करती हैं। जिन मानव जातियों का इतिहास कुल ही सात-आठ सौ वर्षों या हज़ार-दो हज़ार वर्षों का है, उनके लिए राजाओं, मंत्रियों, राजनीतिज्ञों, विद्वानों का सम्पूर्ण वर्णन रखना सम्भव और स्वाभाविक भी है। परन्तु भारतीय सभ्यता-संस्कृति तो करोड़ों वर्ष पुरानी है। यहाँ का पूरा इतिहास लिखा गया होता तो क्या दशा होती? भारत का इतिहास इतना प्राचीन है कि यदि आदिकाल से आजतक का इतिहास वर्तमान होता और अत्यन्त संक्षेप में लिखा जाता और सौ-सौ

वर्षों के लिए केवल एक पृष्ठ लिखा जाता तो भी एक करोड़ छियानवे लाख छियासी हजार चार सौ बत्तीस पृष्ठ होते। यदि एक हज़ार पृष्ठ की एक जिल्द होती तो 29,608 मोटी-मोटी ज़िल्दें होतीं। यदि एक पृष्ठ में पच्चीस पंक्ति मान लें और यह भी मान लें कि कोई एक मिनट में एक पृष्ठ पढ़ लेगा और पाँच घंटे रोज पढ़ना मान लें तथा यह भी मान लें कि महीने में पचीस दिन पढ़ना ही होगा तो पूरे ग्रन्थ को पढ़ने में 217 वर्ष लगेंगे। इतनी लम्बी परम्परा का उस समय का इतिहास लिखना असम्भव-सा है, जिस तरह की इन परम्पराहीन राष्ट्रों की कल्पना है। और हो भी तो इस युग और संसार के लिए नितान्त निरर्थक है। घटनाएँ तो प्रकृति में एक ही प्रकार की बार-बार घटती रहती हैं। इतिहास अपने को बार-बार दोहराता है। सब प्रकार की घटनाओं को बारम्बार दोहराने के बदले एक भारी महत्त्व की घटना को देकर एक **सूत्र या नियम** निर्धारित कर देना पर्याप्त है। पुराणेतिहासादि में मुख्य घटनाएँ देकर सूत्र ही निर्धारित हुआ है। इस सूत्र की विवेचना के लिए प्रत्येक कल्प की विशिष्टता को जानना होगा। जो घटना जिस कल्प की है, जो जीवनगाथा जिस कल्प में वर्णित है, उसे वहीं रखकर विचार करना चाहिये। एक ही कल्प के दो ग्रन्थों के वर्णन तो मिलाकर देखे जा सकते हैं, परन्तु विभिन्न कल्पों में घटनाओं, चरितों, नियमों में सामञ्जस्य ढूँढ़ना व्यर्थ है। बैल का सींग घोड़े के सिर पर रखकर संसार में वैसा पशु ढूँढ़ना जैसे बुद्धिमानी नहीं, वैसा ही यह कार्य भी है। पुराण-परम्परा का इतिहास देखते समय हमें इतिहास-संबंधी भारतीय परिभाषा को ध्यान में रखना चाहिये। आज के इतिहास यानि हिस्ट्री का अर्थ है व्यक्ति के जन्म-मरण की तिथि लिखकर घटनाओं को निश्चित उद्देश्य के रंग-रूप में उपस्थित करना, निश्चित उद्देश्य जो चरित समर्थक न हों, उन्हें महत्त्वपूर्ण होने के बावजूद छोड़ देना। भारत में अंग्रेज़ों ने जो 'हिस्ट्री' के पाठ्यक्रम बनाए, वे उनकी लाभ की दृष्टि से थे। अब 'हिस्ट्री' नये दृष्टिकोणों से भी बनाई जा रही है। किन्तु इतिहास की भारतीय अवधारणा समझे बिना भारत का इतिहास नहीं लिखा जा सकता है। पुराणकार ने भारतीय इतिहास को इस प्रकार पारिभाषित किया है—

'धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥'[37]

अर्थात्, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के उपदेशसहित और प्राचीन चरितों से युक्त ग्रन्थ को इतिहास कहा जाता है।

विष्णुपुराण की टीका में श्रीधराचार्य ने एक श्लोक उद्धृत करते हुए लिखा है कि ऋषियों द्वारा कहे गये नाना उपदेश, देवता तथा ऋषियों के चरित तथा उद्भूत धर्मकथाओं वाला ग्रन्थ इतिहास कहलाता है। यथा—

'आर्यादिबहुव्याख्यानं देवर्षिचरिताश्रितम् ।
इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद्भुतधर्मभुक् ॥'

इस परिभाषा को दृष्टि में रखते हुए यह स्मरण रखना चाहिए कि पुराणों का इतिहास देवलोक तथा मर्त्यलोक का सम्मिलित इतिहास है। आवागमन के साधनों ने आज यह स्थिति उत्पन्न कर दी है कि किसी महत्त्वपूर्ण घटना या व्यक्ति का इतिहास आज एक देश में सीमित सम्भव नहीं है। उसका कोई न कोई अंश दूसरे देशों से सम्बंधित हो जाता है। और तब वहाँ की भी संबंधित घटना दिए बिना इतिहास पूर्ण नहीं होता। इसी प्रकार सत्ययुग से द्वापर के अन्त तक मनुष्य का देवलोक से प्रत्यक्ष संबंध था। देवता यहाँ पधारते थे और मनुष्य सशरीर देवलोक की यात्रा कर आते थे। फलतः इतिहास में पृथ्वी और देवलोक का मिला-जुला वर्णन है। इस भेद को न समझकर पूरा इतिहास भूमि का मानकर जो देवताओं को भी राजा या व्यक्ति विशेष मानने का प्रयत्न करते हैं, वे घटनाओं का समाधान न पाकर कल्पित कहने लगते हैं। आज मानव हीनवीर्य, हीन शक्ति, हीनसंकल्प हो गया है। अतः वह देवलोक की स्थिति नहीं सोच पाता है। भारतीय केवल पाँच सहस्र तक उस दिव्यलोक के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहे हैं। पुराणों के इतिहास को यह समझकर ही देखने से उचित तात्पर्य ज्ञात होगा। भारतीय पौराणिक इतिहास या भूगोल में इतिहास तो समस्त विश्व का है। परन्तु घटना विस्तारादि केवल भारतवर्ष का ही वर्णन है। इसी प्रकार भूगोल के सम्बन्ध में वर्णन पूरे ब्रह्माण्ड का है परन्तु विस्तृत वर्णन भारतवर्ष का ही है। इसके दो कारण हो सकते हैं— पहला भारत से ही विश्व में मानव समाज और सभ्यता का विस्तार हुआ। अतएव भारतवर्ष के पूर्ण वर्णन से सबके वर्णन आ जाते हैं। दूसरा कारण यह है कि भारत ही पूण्यभूमि है। लौकिक वर्णन ऋषियों को अभीष्ट नहीं था, वे केवल पुण्यतीर्थों और पुण्य पुरुषों का ही वर्णन करना चाहते थे। यह बात केवल भारतवर्ष में ही उपलब्ध थी। ऐसा बहुत विद्वानों का मत है। इतिहास के संबंध में पुराणों में वर्णित मानवों की दीर्घकालीन तपस्याएँ, दीर्घजीवन, दीर्घ आकृतियाँ, विशाल संख्याएँ भी लोगों को उलझन में डालती हैं। दीर्घायु के संबंध में तो कुछ कहना ही नहीं है। यूरोप में उत्खनन में पुराने मनुष्यों की जो खोपड़ियाँ मिली हैं, वे आज के मनुष्य की खोपड़ी से लगभग ढ़ाई गुना बड़ी हैं। कुछ देशों में मनुष्य के

सुरक्षित शरीर भी मिले हैं। दिल्ली के पास ही एक मानव खोपड़ी मिली थी जिसके नेत्रों के छिद्रों से आज के मनुष्य का सिर सरलता से निकल सकता था। अतः पुरानी दीर्घाकृतियाँ हमारी समझ में भले न आयें, परन्तु बुद्धि के बाहर की नहीं है। उनकी सत्यता का अनुमान किया जा सकता है।

विश्व-जनसंख्या के संबंधों में कुछ पुराणविदों का मत है कि जनसंख्या के संबंध में आज की यह मान्यता कि मनुष्य की जनसंख्या पहले से बढ़ी है, नितान्त भ्रमपूर्ण है। इस सन्यदर्भ में वे तर्क देते हैं कि आज जिसे पृथ्वी कहा जाता है वह केवल क्षारसमुद्र से घिरा पृथ्वी का लगभग सौंवा भाग जम्बूद्वीप है। अफ्रीका के वन, सहारा और एशिया के मरुस्थल तथा दक्षिणी ध्रुवप्रदेश किसी समय उन्नत नगरों से पूर्ण थे। वहाँ सभ्यता के अवशेष मिल रहे हैं। आज जिन्हें हम महासागर कहते हैं, जिन्होंने पृथ्वी का तीन-चतुर्थांश डुबा दिया है, वे पहले थे ही नहीं। यह सिद्ध हो गया है कि अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, अमेरिका, यूरोप और एशिया कभी मिले हुए थे। यह एक ही भूखण्ड था। इनके मध्य में समुद्र नहीं था। इन सभी समुद्रों के नीचे जलमग्न पर्वतश्रेणियाँ हैं। कहीं-कहीं नगरों के ध्वंसावशेष मिल रहे हैं जैसे जापान के दक्षिण-पूर्व में। जलमग्न पर्वतश्रेणियाँ भूमि की पर्वतश्रेणियों से सम्बद्ध हैं। अतः आज की सम्पूर्ण पृथ्वी जम्बूद्वीप थी। मनुष्यों की संख्या बहुत अधिक थी।

इतिहास-लेखन की दो शैलियाँ यदि हम मान लें, तो एक शैली भारतीय है तो दूसरी शैली विदेशी या यूरोप की है। भारतीय शैली में उन सब तत्त्वों और घटनाओं को महत्त्व दिया जाता है और उसका कथात्मक कहें या गाथात्मक कहें, विवरण दिया जाता है। जो हमारी राष्ट्रीय स्मृति में आज भी अंकित है। पुराणादि इसी शैली में लिखे गए हमारे इतिहास हैं। भारतीय शैली के इतिहास को व्यक्ति हर समय अपने हृदय में रखता है। उसके संग जीता है और उसी के संग मरता भी है। प्रो० सूर्यकान्त बाली ने अपने ग्रन्थ *'भारत गाथा'* में इतिहास के संबंध में महत्त्वपूर्ण बातें लिखी हैं जिनका मैं अक्षरसः उल्लेख कर रहा हूँ—

'भारतीय शैली के इतिहास के स्मृति में मनु तो हैं, जिन्होंने मानव जाति को मानव बनाया। हमारी स्मृति में प्रलय भी है, जिसमें से मनु ने हमारी जाति को उबारा। हमारी स्मृति में पृथु भी हैं, जिनके नाम पर इस धरती का नाम 'पृथिवी' पड़ा। हमारी स्मृति में प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र भी हैं, जिनके नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। हमारे जहन में इतनी सारी स्मृतियाँ हैं। परन्तु हम किसी और देश से, बाहर से अपने देश भारतवर्ष में आये— यह हमारी स्मृति में कहीं

नहीं है। हमारी स्मृति में देव भी हैं। हमारी स्मृति में असुर भी हैं। हमारी स्मृति में देवासुर संग्राम भी है। हमारी स्मृति में यक्ष भी हैं, किन्नर भी हैं और गन्धर्व भी हैं। परन्तु हमारी स्मृति में वे आर्य नहीं हैं, जिन्हें कहीं बाहर से यहाँ आक्रमणकारी में रूप में आया बताया जा रहा है। हमारी स्मृति में श्रेष्ठ के अर्थ में 'आर्य' शब्द है। दुराचारी के अर्थ में 'अनार्य' शब्द भी है। हमारी स्मृति में 'पति' अर्थ देनेवाला आर्य शब्द भी है; पर जातिवाची, नस्लवाची वह 'आर्य' शब्द हमारी स्मृति में कहीं है नहीं। जिस तरह से आर्य हमारे पूर्वज और कहीं बाहर से आये हुए बताए जा रहे हैं, वेद हों या ब्राह्मण-ग्रन्थ हों, आरण्यक-ग्रन्थ हों या उपनिषद्-ग्रन्थ हों, रामायण और महाभारत-जैसे प्रबन्धकाव्य (इतिहास-ग्रन्थ) हों या अठारह पुराण और अठारह उपपुराण हों, तमाम वैज्ञानिक साहित्य हो, समाजशास्त्रीय ग्रन्थ हों या ललित साहित्य हो, संस्कृत के ऐसे किसी भी ग्रन्थ में कोई एक परोक्ष, प्रत्यक्ष की तो बात ही क्या है, सन्दर्भ तक ऐसा नहीं जो हमारे बारे में कहता हो कि हम बाहर से आये। ब्राह्मण-परम्परा के तमाम ग्रन्थ हों या श्रमण अर्थात् जैन-बौद्ध परम्परा के कोई ग्रन्थ हों, ऐसी कोई स्मृति कहीं अंकित नहीं, जो हमारे बारे में कहती हो कि हम बाहर से आए। भारत का पाली, प्राकृत, अपभ्रंश या आधुनिक भारतीय भाषाओं में लिखा साहित्य हो, हमारे देश के किसी भी कोने में गाया जानेवाला कोई लोकगीत हो, कोई झूठी-सच्ची अफवाह, कोरी गप्प या कोई बकवास हो, कहीं भी यह अंकित नहीं कि यह देश हमारा नहीं और हम कहीं बाहर से आये हैं।'

यह सर्वविदित तथ्य प्रमाणित करता है कि पाश्चात्य विद्वानों एवं उनके प्रभाव से प्रभावित भारतीय विद्वानों ने भारतीय इतिहास के प्रति कितना बड़ा षड्यंत्र किया है। यह जो अभिशाप किया है उसका प्रायश्चित भी उन्हें अवश्य इस काल के क्रम में करना ही पड़ेगा। हमें प्रयत्नपूर्वक भारतीय इतिहास-पद्धति को प्रतिष्ठित करना ही पड़ेगा। अन्य मार्ग नहीं है। इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि भारतीय शैली के इतिहास और यूरोपीय या अन्य शैली के इतिहास में क्या अन्तर है। इनकी अवधारणाएँ भिन्न हैं। अतः हमें भारतीय शैली के इतिहास को बनाने के लिए प्रयत्न करना चाहिये।

पुराणों के प्रतिपाद्य तत्त्वज्ञान और उपास्य, वंशवृक्ष, पुराणों का भूगोल, भौगोलिक पृष्ठभूमि तथा काल-संबंधी पौराणिक भावना की विवेचना करना इस सन्दर्भ में अत्यन्त आवश्यक है।

जगदुत्पत्ति के संबंध में पुराणों में अनेक प्रकार के सिद्धान्त प्राप्त होते हैं।

एक सिद्धान्त ऐसा है कि स्वतः सिद्ध ब्रह्म मूलतः और तत्त्वतः एक होने पर भी एक के बाद एक उत्पन्न होनेवाले पुरुष, प्रधान और काल– इन त्रिविध रूपों में निवास करता है। जब परमपुरुष पुरुष और प्रधान में प्रवेश करते हैं, तब प्रधान से महान् अथवा बुद्धितत्त्व उत्पन्न होता है। बुद्धि से अहंकार और अहंकार से पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत और एकादशेन्द्रिय उत्पन्न होते हैं। पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से घटित ब्रह्माण्ड समुद्र पर ठहरा है और जल, अग्नि, वायु, अहंकार, बुद्धि और प्रधान इन आवरणों से घिरा है। देवाधिदेव ब्रह्मा ने रजोगुण का आश्रय लेकर अखिल जीवजगत् उत्पन्न किया। वही देवाधिदेव सत्त्वगुण का आश्रय लेकर विष्णुरूप से सबका पालन करते हैं और तमोगुण का आश्रय लेकर सबका संहार करते हैं। द्वितीय सिद्धान्त यह है कि जिसमें नौ प्रकार की सृष्टि का वर्णन है। प्रथम तीन महत् सर्ग, भूतसर्ग और ऐन्द्रिय सर्ग है। इन्हें 'प्राकृत सर्ग' कहते हैं। अन्य पाँच 'वैकृत सर्ग' हैं और अन्तिम का नाम 'कौमार सर्ग' है, जैसा कि *विष्णुपुराण* में कहा गया है–

'पञ्चैते वैकृताः सर्गाः प्राकृतास्तु त्रयः स्मृताः ।
इत्येते वै समाख्याता नव सर्गाः प्रजापतेः ॥' [38]

तृतीय सिद्धान्त है कि ब्रह्मा ने एक के बाद एक चार रूप धारण किये और उनसे असुर, देव, पितृ और मनुष्य उत्पन्न हुए। इसके पश्चात् उन्होंने राक्षस, यक्ष, गन्धर्व एवं अन्य सब जीव, प्राणी और वनस्पति आदि को उत्पन्न किया। तब मानस पुत्र उत्पन्न हुए। वे ऋषि, मुनि कहलाये। और जो देवता उत्पन्न हुए वे 'रुद्र' कहलाये। इसके बाद स्वायम्भुव मनु और शतरूपा की सृष्टि हुई। इनके दो पुत्र हुए– प्रियव्रत और उत्तानपाद तथा एक कन्या। दक्ष ने इस कन्या के साथ विवाह किया। इनकी चौबीस कन्याएँ हुईं जिनमें से तेरह धर्म को ब्याही गईं इनमें प्रेम तथा अन्य मूर्तिमान् भाव उत्पन्न हुए। दस कन्याएँ अन्य मानस पुत्रों, पितरों और अग्नि को ब्याही गईं एक अन्य कन्या सती का विवाह शिव के साथ हुआ। यह सारी सृष्टि ब्रह्मा के एक दिन तक रहती है। ब्रह्मा का एक दिन चौदह मन्वन्तरों का होता है। प्रत्येक मन्वन्तर के अन्त में निम्न कोटि के जीवों और निम्न स्तर के जगतों के जीवन का अन्त हो जाता है। अखिल विश्व का सूतत्व बना रहता है। देवता और साधु-संत सुरक्षित रहते हैं। चौदहवें मन्वन्तर के अन्त में अर्थात् ब्रह्मा का एक दिन बीतने पर नैमित्तिक प्रतिसर्ग होता है। इसमें अग्नि और जल के द्वारा सब पदार्थों का अन्त होता है। केवल प्राकृत सृष्टि बनी रहती है और इसके साथ ही तीन गुण और सात ऋषि इत्यादि। एक कल्प के परिणाम की ब्रह्मा की रात समाप्त होने पर ब्रह्मा जागते हैं।

और अपनी सृष्टि फिर से आरम्भ करते हैं। समस्त प्राकृत सर्ग का प्रलय प्राकृत प्रलय में ही अन्त होता है। यह प्रलय ब्रह्मा की आयु समाप्त होने पर ही होता है। और तब सब देवता और सब रूप संहार को प्राप्त होते हैं। पञ्चमहाभूत मूल प्रकृति में मिल जाते हैं। मूल प्रकृति के पीछे केवल एक ब्रह्मसत्ता रहती है। इस प्रकार सृष्टि-विषयक अनेक सिद्धान्त पुराणों में विवेचित हैं। इनके विश्लेषण और समीक्षण की महती आवश्यकता है।

पुराणों का एक अन्य महत्त्वपूर्ण विषय अवतारवाद और देवोपासना है। वेदों के समस्त मन्त्रों का यज्ञ में विनियोग होना चाहिए– यह श्रुति का मत है। यज्ञ का अर्थ उपासना ही है। यज्ञ में देवाराधन ही किया जाता है। पुराणों में वेदों की उपासना, जो वहाँ परोक्ष रूप से वर्णित थी, वह विस्तृत एवं स्पष्ट हुई है। *शतपथब्राह्मण, तैत्तिरीयारण्यक, तैत्तिरीयसंहिता, तैत्तिरीयब्राह्मण, ऐतरेयब्राह्मण, छान्दोग्योपनिषद्*– इन सबमें अवतारों के पूरे चरित आ जाते हैं। ब्राह्मणादि भागों को छोड़ दें तो भी मूल संहिता में अवतारचरित हैं, यथा– श्रीकृष्णचरित को लीजिये–

'स्तोत्रं राधानां पते'[39]

'त्वं नृचक्षा वृषभानु पूर्वीः कृष्णास्वग्ने अरुषो विभाहि'[40]

'गवामप व्रजं वृधि'[41]

मूल संहिता में 'श्रीराधा' का नाम तो है ही, उनके पिता वृषभानु का भी नाम है। व्रज का भी वर्णन है। इस प्रकार दूसरे अवान्तर चरित भी हैं। वेदों के गवेषक इन सन्दर्भों की अन्यथा व्याख्या भी करते हैं।

पुराणों में उपास्यदेवों की विभिन्नता है। वैदिक देवताओं की अपेक्षा लौकिक देवताओं की स्तुति विशेष है। वैदिक देवताओं में से केवल इन्द्र, अग्नि और विष्णु अपनी पूर्ण प्रतिष्ठा के साथ रह जाते हैं। लौकिक देवताओं में शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य आदि की उपासनाओं का विस्तृत विवेचन पुराणों में प्राप्त होता है। वेदों में 'पुरुषसूक्त' तथा 'रुद्राष्टाध्यायी' प्रसिद्ध अंश है। इनके अतिरिक्त भी इन भगवद्विग्रहों के नाम, रूप तथा लीलाओं का वर्णन है। पुराणों में सूर्य, अग्नि, वायु– इन वैदिक देवताओं के पुराण ही हैं। ऐसे में एक भी देवता का वर्णन पुराणों में नहीं है, जिसका नाम मूलसंहिता में न हो। वैदिक, अवतारचरित तथा देववर्णन उसी प्रकार पुराणों में स्पष्ट हुआ है जैसे वैदिक इतिहास में स्पष्ट हुआ है। अतएव वेदों के

चरितों से पुराणों के चरितों में कुछ भिन्नता प्रतीत हो सकती है। वेदों में नित्य चरित हैं। सृष्टि के चरित्र की मूल अवधारणा है। पुराणों में एक-एक कल्प के चरित हैं। कल्पभेद से चरितों में बहुत कुछ अन्तर भी पड़ा है। पुराने समय में जो निष्ठा होती थी, वह उसी के अनुरूप पुराण को पढ़ता था। वैसा ही आचरण करता था। दूसरे पुराणों से उसे कोई मतलब नहीं था। इसका प्रमाण यह है कि बालिद्वीप में सब शिवोपासक हैं। वे अब तक *ब्रह्माण्डपुराण* को ही एकमात्र पुराण जानते थे। शेष सत्रह पुराणों का उन्हें पता नहीं था। इस पुराण को वे अत्यन्त गुह्य शास्त्र मानते थे। आज अधिकार एवं निष्ठा में विपर्यय होने से ये विविध भ्रान्त आक्षेप उठते हैं। पुराणों में प्रधान त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। वरुण समुद्र के अधिपति हैं। परन्तु अपने यमज भाई मित्र से बिछुड़ गए हैं। पुराणों में मित्र का पता नहीं है। कुछ पुराणों में सूर्य की स्तुति बहुत की गई है। परन्तु उनकी उपासना-विधि का विवरण *भविष्यपुराण* में मिलता है। मृतात्माओं के अधीश्वर यम नरकों पापियों को दण्ड देते हैं। गन्धर्व और अप्सराएँ स्वर्ग के गायक एवं परियाँ हैं। असुरों के चार भेद बताये गये हैं - असुर, दैत्य, दानव और राक्षस। ये सभी वर्णन एक प्रतीकात्मकता को घोषित करते हैं। अतः इसके विश्लेषण की बारम्बार आवश्यकता पड़ती है।

त्रिदेवों में ब्रह्मा सृष्टिकर्ता हैं। विष्णु पालनकर्ता और शिव संहारकर्ता हैं। साम्प्रदायिक पुराणों में कोई विष्णु को तो कोई शिव को श्रेष्ठ बतलाते हैं। परन्तु सत्यतः ऐसी बात नहीं है क्योंकि पुराणों में एक को श्रेष्ठ बताकर दूसरे की भी स्तुति करते हैं। इसका परम उत्कर्ष एकेश्वरवाद में होता है जहाँ तीनों का एकत्व प्रतिपादित है। बहु-ईश्वरवाद भी या अवतारवाद के विषय में अधिकांश पुराण विष्णु के दस अवतारों को मानते हैं। जिनमें से मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह और वामन में पाँच पौराणिक हैं। परशुराम, राम, कृष्ण और बुद्ध– ये चार ऐतिहासिक हैं। एक कल्कि अभी आनेवाला है। दिव्य एवं मानुष भेद से कहा गया है कि वराह, नरसिंह और वामन के अवतारत्व के बीज वैदिक साहित्य में है। ये अवतार दिव्य कहलाते हैं। अन्य अवतार मानुष कहलाते हैं। विष्णु क्षीरसागर में रहते हैं। अवतार के समय अवतार लेते हैं। पर शिव पार्थिव देव हैं। पार्वती या भवानी इनकी नित्य संगिनी हैं। स्कन्द और गणेश इनके पुत्र हैं। पाशुपत सम्प्रदाय इन्हीं का उपासक है। शैवपुराणों में इनकी प्रशंसा है। पितरों की भी उपासना यहाँ वर्णित है। पितरों का भी एक वर्ग है। देवों के समान ही इनकी पूजा का भी विधान पुराणों में वर्णित है। प्रत्येक मन्वन्तर में देवताओं के साथ ही ये उत्पन्न होते है। पितरों का संबंध श्राद्ध से है,

जिसका विवरण पुराणों में उपलब्ध है। इस प्रकार पौराणिक अवतारवाद, देववाद एवं पितृवाद आदि संबंधी अवधारणाओं का विश्लेषण एवं विवेचन करते समय प्रतीकवाद को समझना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

पुराणों के वंशवृक्ष मनु से आरम्भ होते हैं। मनु ने ही प्रलय काल में मानवों की रक्षा की थी। प्रथम राजा वैवस्वत मनु के दस पुत्र थे। समस्त द्वीपों को इन दस पुत्रों को बाँट दिया गया। ज्येष्ठ पुत्र पुरुष और स्त्री उभयविध थे और 'इल' और 'इला'— दोनों नामों से प्रसिद्ध हुए। इला के पुत्र पुरूरवा ऐल प्रतिष्ठान पर राज्य करते थे। उन्होंने ऐलवंश या चन्द्रवंश चलाया। उनके पुत्र आयु, पुरूरवा के पश्चात् प्रतिष्ठान के राजसिंहासन पर बैठे। इस प्रकार पुराणों का वंशवृक्ष बड़ा विशाल एवं व्यापक है। उसकी समझ विकसित करनी पड़ेगी। पुराणों की वंशावलियों में इतिहास की जो सामग्री मिलती है, उससे हम वेदों और पुराणों का ऐतिहासिक मूल्य तुलनात्मक दृष्टि से लगाने का यत्न कर सकते हैं। इस विषय में इतिहासविदों में बड़ा मतभेद है। परम्परागत भारतीय इतिहास-लेखन के समय वैदिक एवं पौराणिक— दोनों तथ्यों को सामने रखकर विचार अत्यन्त सावधानी के साथ करना होगा।

पुराणों के भूगोल-वर्णन को लेकर यह बताया गया है कि सप्तद्वीप, सप्तसागर, सुमेरु, शेष के मस्तक पर अचल रूप से स्थित पृथ्वी तथा सूर्य के द्वारा उसकी प्रदक्षिणा आदि सभी वर्णनों को आधुनिक वैज्ञानिक मिथ्या मानते हैं। यह समझा जाता है कि विज्ञान ने इन बातों की खोज कर ली है और वैज्ञानिकों के निर्णय ही सत्य हैं। परन्तु सत्य यह कि वैज्ञानिक भी अंधेरे में टटोल रहे हैं। एक पृथ्वी की आकृति को भी यदि हम ले लें तो हम जान जायेंगे कि वैज्ञानिकों में कितना मतभेद है। कितने प्रकार से पृथ्वी की आकृति को समझने का प्रयास किया गया है, परन्तु आज तक नहीं समझ सके हैं। इनका उत्तर आजकल आधुनिक वैज्ञानिक नहीं खोज पायें हैं। *पद्मपुराण* के अनुसार पृथ्वी की आकृति खिले पद्म के समान है। उसकी कर्णिका पर सुमेरु पर्वत है और उस पर ब्रह्मा हैं। नियम यह है कि जैसा ब्रह्माण्ड, वैसा ही पिण्ड होगा, यथा— सौरमण्डल। इस नियम के अनुसार पृथ्वी की आकृति के ही सातों द्वीप होने चाहिये। जम्बूद्वीप की आकृति भी कमल के समान है। नीचे केन्द्र में सञ्कुचित और ऊपर फैलता नतोदर आकार कमल का होता है। यही बात वैज्ञानिक भी कहते हैं। सातों द्वीप एक दूसरे के ऊपर पंखुड़ियों में मण्डल की भाँति हैं। इनके मध्य में समुद्र है। जम्बूद्वीप अपने द्विगणित विस्तारवाले समुद्र से घिरा है। यह जम्बूद्वीप को घेरनेवाला क्षार समुद्र अपने द्विगणित विस्तारवाले द्वीप से घिरा है।

इस प्रकार जम्बूद्वीप-क्षारसमुद्र, प्लक्षद्वीप-इक्षुरससागर, शाल्मली द्वीप-सुरासमुद्र, कुशद्वीप-घृतसमुद्र, क्रौञ्चद्वीप-क्षीरसमुद्र, शाकद्वीप-दधिसमुद्र, पुष्करद्वीप-निर्मल जल सागर– ये क्रमशः एक से दूसरे दुगुने बड़े हैं। ये एक-दूसरे को घेरे हुए हैं। अन्तिम पुष्कर द्वीप को छोड़कर शेष छः द्वीपों में सात-सात मुख्य भाग, सात-सात मुख्य पर्वत, और सात बड़ी नदियाँ हैं। पृथ्वी के भूगोल का यह वर्णन ठीक कमल के समान है। मध्य में पुष्कर द्वीप कर्णिका के समान है। इसी पर सुमेरु प्रतिष्ठित है। प्रत्येक दलमण्डल के मध्य में सागर है। प्रत्येक दलमण्डल में सात दल हैं। केवल कर्णिका का द्वीप एक मण्डल है। प्रत्येक कमल दल में सप्तपर्वत और सप्तनदियाँ हैं। यह तो मुख्य वर्णन है। इसमें अनके छोटे पर्वत और नदियाँ होंगी। भूमि में परिवर्तन भी होते रहते हैं। पुराणों ने ऐसे परिवर्तनों का बहुत स्पष्ट विवेचन नहीं किया है। यहाँ भूगोल'वर्णन में भूमि की नित्य आकृति का वर्णन है। किसी द्वीप में भूमि-संबंधी परिवर्तन नहीं होगा, ऐसा नहीं कहा गया है। इस जम्बूद्वीप में ही तीन चौथाई भाग डूब गया और बाहरी क्षारसमुद्र वहाँ फैल गया। ऐसी दशा मे हम जम्बूद्वीप के ही सात पर्वत और सात नदियों को कैसे पा सकते हैं ? यहाँ तो इतना बड़ा परिवर्तन हो चुका है। अब तक समुद्री या हवाई जहाज से पृथ्वी के चारों ओर ही घूमा जा सका है। यह घूमना वैसा ही है जैसे कुएँ में मेढ़क एक चक्कर लगा लेता है। कमलाकार पृथ्वी के भीतर ऐसा ही चक्कर सम्भव है। गोल पृथ्वी हो तो उसके उत्तर से दक्षिण भी चक्कर लगाना सम्भव होना चाहिए। यह काम तभी सम्भव हो, जब उत्तरी या दक्षिणी ध्रुव प्रदेश पार किया जा सके। विशेषतः दक्षिणी ध्रुव देश। अभी तक ध्रुव देश को पार नहीं किया जा सका है और न उसकी सम्भावना ही है। उत्तरी ध्रुव प्रदेश को पार करने पर कदाचित् इस भूकमल की कर्णिका मिल सके। दक्षिणी ध्रुव प्रदेश पार करके हम उत्तरी गोलार्ध में पहुँच जायेंगे। यह नितान्त भ्रमपूर्ण कल्पना है। हमें एक अन्धकारपूर्ण क्षारसागर मिलेगा और यदि किसी प्रकार पृथ्वी से द्विगुण विस्तार का वह समुद्र पार किया जा सके, तो हम प्लक्षद्वीप में पहुँच जायेंगे। आज हम जिसे पृथ्वी कहते हैं, यह पृथ्वी का सौंवा भाग जम्बूद्वीप है। अब तक हमें इसका भी पूरा ज्ञान नहीं है। सहारा के रेगिस्तान, अफ्रीका के जंगल, हिमालय का पर्वतीय भाग, दोनों ध्रुव देश, समुद्र– ये सभी अभी तक अज्ञात हैं। इतने पर भी हम पौराणिक भूगोल का उपहास कर बैठते हैं।

पुराणों के अनुसार ब्रह्मा उत्पन्न होने पर जिस कमल से वे उत्पन्न हुए थे, उसके आधार का पता लगाने के लिए उसके नाल छिद्र में प्रविष्ट होकर 36 हज़ार

वर्ष तक नीचे चले गये। जब नाल समाप्त न हुआ, तब वे हताश होकर लौट आये। यदि हम मान लें कि ब्रह्मा एक घंटे में केवल एक मील ही नीचे उतरे होंगे तो 31 करोड़ मील जाकर भी वे कमल नाल का मूल नहीं पा सके थे। ब्रह्मा एक घंटे में कितने मील उतरें, यह अज्ञात है; परन्तु उनकी शक्ति, उत्सुकतादि का ध्यान रखना होगा। इस दृष्टि से सोचने पर नाल की लम्बाई की संख्या बुद्धि से बाहर हो जाती है। नाल की वास्तविक लम्बाई की कल्पना करने पर कमल की चौड़ाई करोड़ों योजन आयेगी। ब्रह्मा उस कमल की कर्णिका पर ही उत्पन्न हुए थे और उसके नालछिद्र में प्रविष्ट हो गए थे। इस दृष्टि से भी कमल का परिमाण बहुत विस्तृत होगा। जिसकी नाभि से यह कमल निकला, वह तो अपने आपमें अनन्त ब्रह्माण्डों को लय कर सकता है। उसका आकार-विस्तार और उसकी जो शेष-शय्या है, उसका विस्तार यह मानव-बुद्धि नहीं सोच सकती।

समाज के लिए वेदार्थ जानने का एकमात्र साधन पुराण ही रह गए हैं। पुराण दिव्य, अपौरुषेय, ज्ञान के आकर हैं। वे ही हमारी संस्कृति के प्रेरक, पोषक, आधार तथा भण्डार हैं। पुराणों के रूपकों को समझना ज़रूरी है। भारतीय ज्ञान, भारतीय दर्शन, भारतीय कला, भारतीय समाज-व्यवस्था– सबके आधार पुराण हैं। ऐसी दशा में पुराणों की उपेक्षा से भारतीय ज्ञान का आधार सूख जायेगा। हमें यह अवश्य विचार करना चाहिये।

पुराणों में सृष्टि-रचना के जो विविध विषय वर्णित हैं, उनमें से युग, मन्वन्तरादि की विवेचना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मनुष्यों का एक वर्ष देवों का एक दिन और एक रात है। 12,000 दिव्य वर्षों का अर्थात् मनुष्यों के 43,20,000 वर्षों का एक चतुर्युग या महायुग होता है। इस महायुग में कृत, त्रेता, द्वापर और कलि– ये चार युग होते हैं। इनकी वर्ष-संख्या का परस्पर तारतम्य 4 : 3 : 2 : 1 इस हिसाब से बैठता है। प्रत्येक युग के आगे-पीछे एक-एक सन्धिकाल उस युग के दशमांश के बराबर होता है। एक सहस्र चतुर्युग (1000 x 43,20,000) ब्रह्मा के एक दिन और रात के बराबर होता है। इस एक दिन और रात को 'कल्प' कहते हैं। प्रत्येक कल्प में मानव-जाति के आदिपुरुष चौदह मनुओं के काल-विभाग अर्थात् मन्वन्तर होते हैं। प्रत्येक मनु 71-71 चतुर्युगों की, सन्धिकाल के अतिरिक्त अध्यक्षता करता है। विद्वानों ने इस विषय में अनेक वाद प्रतिपादित किए हैं। उनके भी विवेचन की आवश्यकता है जिससे पौराणिक युग, मन्वन्तरादि के विवेचन को आज के युग में प्रामाणिक सिद्ध किया जा सके।

पुराणों की रचना-काल के संबंध में अनेक मत हैं। भारतीय अर्थात् पौराणिक मत के अनुसार यह वैदिक काल के समय का ही है। इसके रचनाकाल को कुछ विद्वान् चार स्तरों में भी बाँटते हैं– 1. वैदिक कल्प, 2. वेदव्यासीय कल्प, 3. लोमहर्षणीय कल्प और 4. उग्रश्रवस् कल्प।

उपर्युक्त चार स्तरों में पौराणिक साहित्य का परिवर्धन एवं विकास हुआ। इस अवधारणा को पुष्ट करने के लिए पुराणों में अनेकत्र प्रमाण उपलब्ध होते हैं। पुराण-रचना को व्यास-पूर्व एवं व्यासोत्तर– इन दो धाराओं में भी विद्वानों ने बाँटकर विवेचन किया है। अग्नि आदि अनेक पुराणों में व्यासों की नामावली मिलती है। 28 व्यासों के नाम हमें पुराणों से ही उपलब्ध हो जाते हैं। 28वें व्यास के रूप में महर्षि वेदव्यास का नाम वर्णित है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पुराणों की रचना-काल का विवेचन कितना महत्त्वपूर्ण है। पाश्चात्य एवं आधुनिक विद्वानों ने अपना अलग अलाप किया है। उसकी समीक्षा यहाँ पर अभीष्ट नहीं है।

पुराणों में ऐतिहासिक सामग्री है या नहीं, यह विषय बहुत ही वाद-विवाद का है। पाश्चात्य एवं आधुनिक विद्वानों में इस विषय पर पर्याप्त मतभेद हैं। उनके मतभेदों की उपेक्षाकर हम भारतीय दृष्टि से यह कह सकते हैं कि पुराण-इतिहास-वाङ्मय ही हमारे इतिहास हैं। इन्हीं की विवेचना से हमारा इतिहास प्रस्फुटित होगा। दुनिया को पता चलेगा कि भारतीय इतिहास का स्वरूप क्या है। हम मानते हैं कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता के व्यापक इतिहास-बोध के लिए पुराणों का महान् योगदान है। क्योंकि पुराणों में अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, शासन-संस्थाएँ, धर्म, तत्त्वज्ञान, विधि, धर्मशास्त्र, ललितकला, शिल्पशास्त्रादि सभी शास्त्र एवं सभी ज्ञान-परम्पराओं, विद्यास्थानों के साथ वेदार्थ-प्रक्रिया का जो स्वरूप पुराणों में विस्तृत रूप से प्रतिपादित है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

पौराणिक आख्यानों एवं उपाख्यानों से किस प्रकार ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक तथ्य निकाले जाएँ, यह विवेचन का विषय है। *रामायण, महाभारत* एवं पुराण-वाङ्मय ने भारतीय जनमानस को करोड़ों वर्षों से अनुप्राणित और प्रभावित किया है। राम, कृष्ण, हरि, शिव आदि देव नाम करोड़ों मनुष्यों के जीवनधन हैं। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से प्रभावित लोग पुराणों को अधिक महत्त्व नहीं देते हैं। परन्तु इससे पुराणों की महत्ता एवं उपयोगिता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। पुराण-वाङ्मय हमारा सर्वस्व है। इसलिए इसके अध्ययन-अध्यापन एवं प्रचार तथा अनुसन्धान की नयी आधारशिला इस नये युग में रखेंगे– ऐसा हम सभी दृढ़व्रत हैं।

हम कृत्संकल्प हैं इस महान् संकल्पना के प्रति। इस प्रकार हम संक्षेप में समझ सकते हैं कि पुराण-वाङ्मय का क्या स्वरूप है।

सन्दर्भ :

1. *वायुपुराण*, 1.203
2. *मत्स्यपुराण*, 53.63
3. *ऋग्वेद*, 3.54.9; 3.58.6; 10.30.6
4. *पद्मपुराण*, 5.2.53
5. *ब्रह्माण्डपुराण*, 1.1.173
6. *निरुक्त*, 4.6
7. *छान्दोग्योपनिषद्*, 7.1
8. *निरुक्त*, दुर्गाचार्यवृत्ति, 2.3.1
9. *निरुक्त*, 2.3.1
10. *वही*, 2.7.2
11. *मत्स्यपुराण*, 72.6
12. *महाभारत*, उद्योगपर्व, 136.18
13. *वही*, आदिपर्व, 2.395
14. *वही*, आदिपर्व, 1.17
15. *वायुपुराण*, 103.48; 103.51
16. *छान्दोग्योपनिषद्*, शांकरभाष्य, 7.1
17. *शतपथब्राह्मण*, सायणभाष्य, 11.1.6.1
18. *शतपथब्राह्मण*, 11.5.1.1
19. *शतपथब्राह्मण*, सायणभाष्य, 11.3.6.3
20. *अर्थशास्त्र*, 1.5
21. अथर्ववेद, 11.7.24; 15.6.10-11
22. *नारदीयपुराण*, 1.12.21
23. *ऋग्वेद*, 3.54.9; 3.58.6; 10.130.6
24. *वही*, 9.99.4
25. *अथर्ववेद*, 11.7.9
26. *वही*, 15.1.6
27. *भागवतपुराण*, 12.7.9-10
28. *मत्स्यपुराण*, 53.66.7
29. *देवीभागवतपुराण*, 1.3
30. *पद्मपुराण*, उत्तरखण्ड, 263.81-84
31. *मत्स्यपुराण*, 53.68-69

32. *स्कन्दपुराण*, केदारखण्ड, 1
33. *बृहदारण्यकोपनिषद्*, 2.4.10
34. *भागवतपुराण*, 3.12.39
35. *अथर्ववेद*, 11.4.24
36. *छान्दोग्योपनिषद्*, 7.1.13
37. *विष्णुधर्मोत्तरपुराण*, 3.15.1
38. *विष्णुपुराण*, 1.5.24-25
39. *ऋग्वेद*, 1.30.5
40. *वही*, 3.15.3
41. *वही*, 1.10.7

अग्निपुराण : राजधर्म-परम्परा

डॉ० संतोष कुमार शुक्ल *

(I)

राजधर्म भारतीय राजनीतिशास्त्र परम्परा का एक मुख्य तत्त्व है। राजधर्म एक पारिभाषिक शब्द है। इसमें राजा के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, विधिक आदि सभी प्रकार के कर्तव्यों का समावेश हो जाता है। राजा के गुण, कर्तव्य एवं लक्ष्य, राज्य का स्वरूप, राज्याङ्गों का स्वरूप आदि की विवेचना राजधर्म के अन्दर समाहित है। भारतीय राजनीतिशास्त्र के प्रवक्ता आचार्यों में व्यास, बृहस्पति, भारद्वाज, गौरशिरा, महेन्द्र, विशालाक्ष, वाल्मीकि, शुक्र, पराशर, विदुर, मनु, भर्तृहरि, कौटिल्य, कामन्दक, भारवि, अश्वघोष, माघ, श्रीहर्ष आदि की रचनाओं को आधार बनाकर भारतीय राजनीतिशास्त्र की संरचना खड़ी की जाती है। *नीतिप्रकाशिका, मानसोल्लास, युक्तिकल्पतरु, राजनीतिरत्नाकर, राजनीतिप्रकाश, नीतिमयूख* आदि राजनीतिशास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थों में हम धर्मसूत्र ग्रन्थ, *महाभारत, रामायण*, पुराण, *अर्थशास्त्र, शुक्रनीति*, विदुरनीति, *चाणक्यनीति*, स्मृतिग्रन्थ, *नीतिशतक, पञ्चतंत्र, हितोपदेश, नीतिसार* आदि की गणना प्रमुखता के साथ कर सकते हैं। इन ग्रन्थों में बड़े ही सूत्र रूप में और कहीं पर विस्तृत रूप में राजनीतिशास्त्र की सम्पूर्ण संरचना एवं अवधारणा को स्पष्ट किया गया है।

---

* उपाचार्य, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन-केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

भारतीय राजनीतिशास्त्र के लिए 'राजशास्त्र', 'राजधर्म' एवं 'अर्थशास्त्र' आदि समानार्थक शब्दों का प्रयोग शास्त्रों में किया है। *रामायण, महाभारत,* पुराण, धर्मशास्त्र तथा स्मृतिग्रन्थों में राजशास्त्र के लिए 'राजधर्म' शब्द का प्रयोग किया गया है। समाज एवं राष्ट्र में निवास करनेवाली प्रजा के पालन एवं रक्षण एवं अभिवर्धन के लिए अनेक प्रकार के कर्तव्यों, नियमों, विशेषाधिकारों एवं अकर्तव्यों आदि का विवेचन राजधर्म के अंतर्गत आता है। *रामायण, महाभारत, धर्मशास्त्र,* स्मृतिग्रन्थ, पुराणादि में इस प्रकार का विवेचन स्थान-स्थान पर हमें उपलब्ध होता है। आचार्य कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ *अर्थशास्त्र* में 'अर्थ' शब्द को पारिभाषित करते हुए लिखा है– **'मनुष्यवती भूमिः अर्थः'। 'पृथिव्याः लाभोपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रम् ।'** *अर्थशास्त्र* के आरम्भ में ही लिखा है- **'पृथिव्याः लाभे पालने च यावन्ति अर्थशास्त्राणि पूर्वचार्यैः कृतानि तत् संहृत्य एकमिदं मया कृतम्'**। इससे भी स्पष्ट होता है कि अर्थशास्त्र अर्थात् राजधर्म की महती परम्परा हमारे देश में रही है जिसका विकसित रूप कौटिल्य का *अर्थशास्त्र* है। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि राजधर्म का एकमात्र ग्रन्थ *अर्थशास्त्र* है अपितु राजधर्म-विषयक ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों की सुदीर्घ भारतीय परम्परा है। उसे केवल जानने, समझने एवं प्रयोग की आवश्यकता है। राज्य, राज्य-प्रशासन, राज्यांग, उपांगों आदि की विवेचना भी राजधर्म में होती है।

आचार्य कौटिल्य ने दण्डनीति अर्थात् राजधर्म के चार प्रमुख आधारों की विवेचना करते हुए नीति के प्रयोग पक्ष को रेखांकित किया है– 1. **अलब्धलाभार्था**, 2. **लब्धपरिरक्षिणी**, 3. **रक्षितविवर्धिनी** एवं 4. **वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादिनी दण्डनीतिः**।

इस प्रकार का राजधर्म राष्ट्र को समृद्ध एवं सम्पन्न बनाता है। प्रजा में केवल मंगलकारक होता है। भारतीय परम्परा में शास्त्रों का भी मानवीकरण किया गया है। *तत्त्वकलानिधि* ग्रन्थ में राजधर्म अर्थात् अर्थशास्त्र को इस प्रकार मानवीकृत किया गया है–

'अर्थशास्त्रं भेवद् गौरं सारिकावदनं शुभम् ।
अक्षसूत्रं फलं विभ्रद् अन्नाहारं कमण्डुलम् ॥'

अर्थात्, अर्थशास्त्र का वदन सारिका का माना गया है। कर में जयमाला द्वादशविध राजमण्डल की गतिविधि को परिगणित रखने में एकाग्रता का सूचक है। आम्रफल

राष्ट्र में समरसता का प्रतीक है। अन्नपात्र यह द्योतित करता है कि निर्व्यसनी राजा जब राष्ट्र को सुनीति का प्रतिपादन करता है तब राष्ट्र समृद्ध, सक्षम, दुर्भिक्षविहीन, व्यसनरहित बनता है। कर में कमण्डलु भी प्रतीक का वाचक है। इसका तात्पर्य यह है कि यज्ञादि के प्रवर्तन से राष्ट्र में यथासमय सुवृष्टि निश्चित होती है। इस प्रकार अर्थशास्त्र देश, राष्ट्र एवं समाज के लिए सर्वदा एवं सर्वथा, शुभ फलप्रद एवं समृद्धिकारक होता है। अर्थशास्त्र अर्थात् राजधर्म प्रतिपादित सारी प्रेरणा, उपलब्धि, लब्धपरिरक्षण, रक्षित विवर्धन एवं वृद्ध का विनियोग राष्ट्रीय योजनाओं में समाहित है। यह नीति सर्वजन हितकारिणी है। राष्ट्रोन्नतिकारिणी है। अर्थशास्त्रकार ने सप्तांग राज्य, अष्टांग बल, पुरुषार्थ, चतुर्वर्ग, षाड्गुण्यनीति, कूटयुद्ध, माण्डलिक राष्ट्रीयता एवं सार्वभौम सत्ता से संबंधित प्रश्नों एवं तथ्यों को विस्तार से अपने ग्रन्थ *अर्थशास्त्र* में व्याख्यायित किया है। राजधर्म के मूल वृक्ष की आधार भूमि 'अय' एवं चतुर्विध 'मय' को पारिभाषित करते हुए इस राजधर्मरूपी वृक्ष की आठ शाखाओं को राजनीतिविदों ने विवेचित करने का प्रयास अपने ग्रन्थों में किया है।

कामन्दकीय जयमंगलाकार ने राजधर्म की द्रव्य प्रकृतियों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि राजा अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष एवं बल नामक द्रव्य प्रकृतियों को अवश्य रखता है। ये राजधर्म नामक वृक्ष की शाखाओं के आठ पल्लव हैं। सन्धि, विग्रह, यान, आसन और द्वैधीभाव, संश्रय ये छः गुण इस वृक्ष के पुष्प हैं। हृदय स्थान और बुद्धि इस वृक्ष के तीन फल हैं। इस वृक्ष को जानने वाला ही नीतिज्ञ कहलाता है। जैसा कि *जयमंगला* में कहा गया है–

'अष्टशाखं चतुर्मूलं षष्टिपत्रं द्वये स्थितम् ।
षट्पुष्पं त्रिफलं वृक्षं यो जानाति स नीतिविद् ॥'

राजधर्म को व्याख्यायित करते हुए नीतिमयूखकार ने लिखा है–

'नयस्य विनयो मूलं विनयः शास्त्रनिश्चयः ।
विनयो हीन्द्रियजयस्तद्युक्तशास्त्रमृच्छति ॥
आत्मानं प्रथमं राजा विनयेनोपपादयेत् ।
ततोऽमात्यान् ततो भृत्यांस्ततः पुत्रांस्ततः प्रजाः ।
सदानुरक्तप्रकृतिः प्रजापालनतत्परः ।
विनीतात्मा हि नृपतिर्भूयसीं श्रियमश्नुते ॥
एवं करणसामर्थ्यात् संनयन्नात्ममात्मना ।

नयानयनविद् राजा कुर्वीत हितमात्मनः ॥
जितेन्द्रियस्य नृपतेर्नीतिशास्त्रानुसारिणः ।
भवन्त्युज्ज्वलिता लक्ष्म्यः कीर्तयश्य नभृस्पृहाः ॥[1]

राजधर्म के विषय में महत्त्वपूर्ण सामग्री यत्र-तत्र उपलब्ध है। *मत्स्यपुराण, स्कन्दपुराण, पद्मपुराण, गरुड़पुराण* एवं अग्निपुराण आदि में विस्तार से विवेचित है। इस राजधर्म या नृपनीति को भर्तृहरि ने इस प्रकार विश्लेषित किया है–

'सत्याऽनृता च परूषा प्रियवादिनी च ।
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ॥
नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च ।
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥'[2]

रामायण में एक प्रसंग में जहाँ पर दशरथ ने राम को युवराज बनाने के लिए महर्षि वसिष्ठ से राम के गुणों का अर्थात् युवराज के गुणों की चर्चा करते हुए कहा है कि मेरे सभी पुत्रों में राम युवराज बनने के योग्य हैं। इनमें ये निम्नलिखित गुण हैं– 1. प्रियदर्शन, 2. विद्याव्रतस्नातक, 3. प्रजारक्त, 4. असूयाहीन, 5. शूर, 6. नम्र, 7. जितक्रोध, 8. बुद्धिमान्, 9. प्रियंवद 10. निरोग, 11. युवा, 12. भाइयों में ज्येष्ठ, 13. कुलानुसार मतिमान् 14. लौकिक व्यवहारज्ञाता, 15. शुभकर्म में लग्न, 16. वृद्धपूजक 17. दयाशील, 18. स्थिर बुद्धिवाला, 19. गुप्तमन्त्र, 20. उदारबुद्धि, 21. युद्ध में अपराजेय, 22. धनुर्विद्, 23. व्यूहविद्, 24. गजाश्वारोही एवं उसे नियंत्रित करनेवाला, 25. निग्रह-अनुग्रह कालवेत्ता, 26. न्यायकर्ता, 27. विलक्षण 28. दीनप्रिय, 29. पवित्र, 30. दाता, 31. कालविद्, 32. स्मृतिमान्, 33. सर्वप्रिय, 34. दृप्ति-मात्सर्यविहीन, 35. स्वदोष-परदोषज्ञाता, 36. अप्रमत्त, 37. आलस्यहीन, 38. आय-व्यय ज्ञाता, 39. विद्वत्प्रिय, 40. सभ्य, 41. परिवारपालक, 42. औचित्यरक्षक एवं 43. धर्मरक्षक। इन गुणों के कारण मैं राम को युवराज बनाना चाहता हूँ, क्योंकि राजधर्म के लिए आवश्यक गुण इनमें विद्यमान हैं।

कौटिल्य ने अपने *अर्थशास्त्र* के 'अध्यक्ष प्रचार' नामक अध्याय में राजधर्म के व्यवस्थित सञ्चालन के लिए 18 अध्यक्षों की चर्चा की है– 1. मंत्री, 2. पुरोहित, 3. सेनापति, 4. युवराज, 5. दौवारिक, 6. अन्तर्वाशी, 7. प्रशास्ता, 8. समाहर्ता, 9. प्रदेष्टा, 10. नायक, 11. पौर, 12. व्यावहारिक, 13. कार्मान्तिक, 14. सभ्य, 15. दण्डपाल, 16. अन्तपाल, 17. दुर्गपाल एवं 18. अटवीपाल। राजधर्म से संबंधित

सभी विषयों का विस्तार से विवेचन किया है। आचार्य कौटिल्य *अर्थशास्त्र* में 15 अधिकरण, 150 अध्याय एवं 150 प्रकरणों में राज्यव्यवस्था से संबंधित सभी विषयों का प्रामाणिक एवं व्यावहारिक विवेचन करते हैं।

(II)

पुराण-वाङ्मय का भारतीय वैदिक वाङ्मय के साथ अटूट संबंध है। वैदिक परम्परा में पुराण-इतिहास को पञ्चम वेद माना गया है। पुराणों पर ही आश्रित है हमारी भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति। पुराण भारतीय ज्ञान-विज्ञान परम्परा, वैदिक ज्ञानधारा के प्रचारक, प्रसारक एवं रक्षक ग्रन्थ हैं। अष्टादश महापुराण एवं अष्टादश उपपुराण, आख्यान, उपाख्यान, गाथा एवं कल्पशुद्धि के माध्यम से सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर एवं वंशानुचरितादि के माध्यम से ज्ञान को सर्वसाधारण जन के लिए कथा-प्रवचनों के माध्यम से सहस्राब्दियों से इस भारतवर्ष की पुण्यभूमि में प्रचारित एवं प्रसारित कर रहे हैं। *श्रीमद्भागवतपुराण* में अष्टादश महापुराणों की गणना इस प्रकार की गई है—

'ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लैङ्गं सगारुणम् ।
नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कान्दसंज्ञितम् ॥
भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं सवामनम् ।
वाराहं मात्स्यं कौर्मञ्च ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट् ॥'[3]

विष्णुपुराण की पुराणनामावली[4] के अनुसार *अग्निपुराण* का क्रम आठवाँ है। यह *अग्निपुराण* अग्निदेव द्वारा प्रोक्त है। इस पुराण में 383 अध्याय हैं। *अग्निपुराण* की श्लोक-संख्या के विषय में पुराणों में मतभेद है। सम्प्रति उपलब्ध संस्करणों में यह श्लोक संख्या 11,000-15,000 हज़ार के बीच है। *अग्निपुराण* स्वयं कहता है— **'आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वा विद्या प्रदर्शिताः।'**[5] *अग्निपुराण* एक विश्वकोश है। पुराण-वाङ्मय में इसका उत्कृष्ट स्थान है। भारतीय ज्ञान-परम्परा या विद्या-परम्परा का कोई भी पक्ष यहाँ अगृहीत नहीं है। इस पुराण में सभी विद्याएँ प्रदर्शित हैं। *अग्निपुराण* अपनी महत्ता बताते हुए स्वयं कहता है कि जिस परमोत्कृष्ट परमार्थ तत्त्व का उपदेश न तो पिता-पुत्र को एवं न गुरु-शिष्य को कर सकती है, उस परमार्थ तत्त्व का विवेचन मैंने यहाँ पर अग्निपुराण में किया है। ऐसा अग्निदेव वसिष्ठ से कहते हैं—

'न तत्पिता तु पुत्राय न शिष्याय गुरुर्द्विजः ।

परमार्थं परं ब्रूयाद् यद्येतत्ते मयोदितम् ।।' [6]

एक अन्य प्रसंग में अग्निपुराणकार इसकी महत्ता को प्रातिपादित करते हुए लिखते हैं–

'संसारे भ्रमता लभ्यं पुत्रदारधनं वसुः ।
सुहृदश्च तथैवान्ये नोपदेशो द्विजेदृशः ।।
किं पुत्रदारैर्मित्रैर्वांकिं मित्रक्षेत्रबान्धवैः ।
उपदेशः परोबन्धुरीदृशो यो विमुक्तये ।।' [7]

अन्य प्राप्तियों से अच्छा है, यह उपदेश जो सबसे बड़ा बन्धु है क्योंकि यह संसार से मुक्ति दिलानेवाला है। *अग्निपुराण* प्राणियों की द्विविधा सृष्टि दैवी एवं आसुरी की चर्चा करते हुए लिखता है कि जो भगवान् विष्णु की भक्ति में है वह दैवीय सृष्टि में है; जो भगवान् से विमुख होकर रहता है, वह आसुरी सृष्टि में है। यह *अग्निपुराण* क्या-क्या देता है इसको पुराणकार ने इस प्रकार लिखा है–

'नोपसर्गा न चानर्था न चौरारिभयं गृहे ।
तस्मिन्स्याद्यत्र चाग्नेयपुराणस्य हि पुस्तकम् ।।
न गर्भहारिणी भीतिर्न च बालग्रहा गृहे ।
यत्राग्नेयं पुराणं स्यान्न पिषाचादिकं भयम् ।। [8]
यः पठेच्छ्रणुयान्नित्यं समदृग्विष्णुमानसः ।
ब्रह्माग्नेयं पुराणं सत्तत्र नश्यन्त्युपद्रवाः ।।
दिव्यान्तरिक्षभौमाद्या दुःस्वप्नाद्याभिचारकाः ।
यच्चान्यद् दुरितं किञ्चित् तत् सर्वं हन्ति केशवः ।। [9]
पठतः श्रृण्वतः पुंसः पुस्तकं यजतो महत् ।
आग्नेयं श्रीपुराणं हि हेमन्ते यः श्रृणोति वै ।।
प्रपूज्य गन्धपुष्पाद्यैरग्निष्टोमफलं लभेत् ।
शिशिरे पुण्डरीकस्य वसन्ते चाश्वमेधजम् ।।
ग्रीष्मे तु वाजपेयस्य राजसूयस्य वर्षति ।
गोसहस्रस्य शरदि फलं तत्पठतो ह्युतौ ।। [10]
यः पठेच्छुणुयाद्वा स लिखेद्वा लेखयेदपि ।
श्रावयेत्पाठयेद्वापि पूजयेद्धारयेदपि ।।

सर्वपापविनिर्मुक्तः प्राप्तकामो दिवं व्रजेत् ।
लेखयित्वा पुराणं यो दद्यात् विप्रेभ्य उत्तमम् ॥
स ब्रह्मलोकमाप्नोति कुलानां शतमुद्धरेत् ।
एकं श्लोकं पठेद्यस्तु पापपटाद्विमुच्यते ॥'[11]
विद्यार्थिनस्तथा विद्यां राज्यं राज्यार्थिनो गताः ।
अपुत्राः पुत्रिणः सन्ति नाश्रया आश्रयं गताः॥'[12]

इस प्रकार *अग्निपुराण* की सर्वविध महत्ता प्रतिपादित करने के पश्चात् अग्निपुराण-प्रतिपादित राजधर्म की चर्चा हम करेंगे। राजधर्म के विषय अनेक हैं। उनमें से प्रथम विषय **राजा** है। राजा के कर्तव्यों की चर्चा करते हुए *अग्निपुराण* में लिखा है–

'राज्ञा सेनापतिः कार्यो ब्राह्मणः क्षत्रियोऽथवा ।
कुलीनो नीतिशास्त्रज्ञः प्रतीहारश्चनीतिविद् ॥
दूतश्च प्रियवादी स्यादक्षीणोऽतिबलान्वितः ॥'

राजा को सभी प्रकार से अपने राज्य की रक्षा के उपाय करने चाहिये। इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि उसका सेनापति कुलीन, नीतिशास्त्रज्ञ हो। द्वारपाल नीतिज्ञ हो। दूत मृदुभाषी, बलवान् एवं सामर्थ्यवान् होना चाहिए। राज्य प्रशासन के संचालन के लिये राजा को शुद्ध आचार-विचारवाले पदाधिकारियों की नियुक्ति करनी चाहिए, जैसा कि अग्निपुराणकार लिखते हैं–

'ताम्बूलधारी वा स्त्री वा भक्तः क्लेशसहःप्रियः ।
सन्धिविग्रहिकः कार्यः षाड्गुण्यादिविशारदः ॥
खड्गधारी रक्षकः स्यात् सारथि स्याद्बलादिवत् ।
सूताध्यक्षो हितविज्ञो महानसगतो हि सः ॥
सभासदस्तु धर्मज्ञा लेखकोऽक्षरविद्विदः ।
आह्वानकालविज्ञाः स्युर्हिता दौवारिका जनाः ॥
उत्तमाधममध्यानि पुरुषान् विनियोजयेत् ।
जयेच्छुः पृथिवीं राजा सहायान् तान् वै हितान् ॥
धर्मिष्ठान् धर्मकार्येयु शूरान् संग्रामकर्मसु ।
निपुणानर्थकृत्येषु सर्वत्र च तथा शुचीन् ॥'[13]

धर्मे चार्थे च कामे च नियुञ्जीताधमेऽधमान् ।
राजा यथार्हं कुर्याच्च उपधाभिः परीक्षितान् ॥
समन्वी च यथान्यायात् कुर्याद्धस्तिवनेचरान् ।
तत्पदावेषणे यत्तानध्यक्षास्तत्र कारयेत् ॥'[14]

'यस्मिन् कर्मणि कौशल्यं यस्य तस्मिन् नियोजयेत् ।
पितृपैतामहान् भृत्यान् सर्वकर्मसु योजयेत् ॥
विना दायादकृत्येषु तत्र ते हि समागताः ।
परराजगृहात् प्राप्तान् जनान् संश्रयकाम्यया ॥
दुष्टानप्यथ वाऽदुष्टान् संश्रयेत प्रयत्नतः ।
देशान्तरगतान् पार्श्वे चारैर्ज्ञात्वा हि पूजयेत् ॥
शत्रवोऽग्निर्विषं सर्पो निस्त्रिंशमपि चैकतः ॥
भृत्या विशिष्टं विज्ञेयाः कुभृत्याश्च तथैकतः ।
चारचक्षुर्भवेद् राजा नियुञ्जीत सदाचरान् ॥'[15]

राजा के अन्य कर्तव्यों की चर्चा में अग्निपुराणकार लिखते हैं कि न्यायपूर्वक धनार्जन, अर्जितधन का विवर्धन, उसकी स्वजन-परिजन से रक्षण, सत्पात्र नियोजन ये चार प्रकार के कर्त्तव्य राजा के व्यवहार के रूप व्याख्यायित हैं–

'न्यायेनार्जनमर्थस्य वर्द्धनं रक्षणं चरेत् ।
सत्पात्रप्रतिपत्तिश्च राज्यवृत्तं चतुर्विधम् ॥'[16]

इसी प्रकार *अग्निपुराण* यह भी कहता है कि राजा को 'नय' एवं पराक्रम से सम्पन्न तथा उद्योगशील होकर स्वमण्डल एवं परमण्डल की समृद्धि का चिन्तन करना चाहिये। नय का मूल विनय है और विनय की प्राप्ति शास्त्र निश्चय से होती है। इन्द्रिय जय को ही विनय कहते हैं। विनययुक्त वही है जो शास्त्रों में निष्ठा रखता है। शास्त्र के अर्थ स्पष्टता से प्रकाशित होने के कारण स्वमण्डल और परमण्डल की श्री प्राप्त होती है।

'नयस्य विनयो मूलं विनयः शास्त्रनिश्यचात् ।
विनयो हीन्द्रियजयस्तैर्युक्तः पालयेन्महीम्॥'[17]

राजा के आवश्यक हेतुभूत गुणों को सम्पत्ति के रूप में व्याख्यायित करते हुए अग्निपुराणकार का कहना है कि शास्त्रज्ञान, धृति, दक्षता, प्रगल्भता,

धारणशीलता, उत्साह, प्रवचनशक्ति, दृढ़ता, प्रभाव, शुचिता, मैत्री, त्याग, सत्य, कृतज्ञता, कुल, शील एवं दम आदि गुण राजा की आन्तरिक सम्पत्ति हैं–

'शास्त्रं प्रज्ञा धृतिर्दाक्ष्यं प्रागल्भ्यं धारयिष्णुता ।
उत्साहो वाग्मितौदार्य्यमापत्कालसहिष्णुता ॥
प्रभावः शुचिता मैत्री त्यागः सत्यं कृतज्ञता ।
कुलं शीलं दमश्चेति गुणाः सम्पत्तिहेतवः ॥'[18]

आन्तरिक सम्पत्ति गुणों से सम्पन्न राजा को चतुर्विध विद्याओं का विद्वानों के साथ चिन्तन करते हुए उनका प्रयोग राष्ट्र अभिवृद्धि के लिए करना चाहिए।

'आन्वीक्षिकीं त्रयीं वार्तां दण्डनीतिं च पार्थिवः ।
तद्विद्यैस्तत्क्रियोपेतैश्चिन्तयेद् विनयान्वितः ॥
आन्वीक्षिक्यार्थविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ ।
अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ ॥'

राजा के गुणों की चर्चा के प्रसंग में अन्य गुणों की विवेचना *अग्निपुराण* में की गयी है कि प्रजासंग्रह के उपाय हैं राजा के गुण। ये गुण न केवल प्रजा संग्रह करते हैं अपितु श्रेष्ठता, अभ्युदय एवं निरोगता को प्रदान करते हैं।

'अहिंसा सुनृतावाणी सत्यं शौचं दया क्षमा ।
वर्णिनां लिङ्गिनां चैव सामान्यो धर्म उच्चते ॥
प्रजाः समनुगृह्णीयात् कुर्यादाचारसंस्थितिम् ।
वाक्सूनृता दया दानं हीनोपगतरक्षणम् ॥
इतिवृत्तं सतां साधुहितं सत्पुरुषव्रतम् ।
आधिव्याधिपरीताय अद्य वो वा विनाशिने ॥
को हि राजा शरीराय धर्मोपेतं समाचरेत् ॥'

अग्निपुराण में प्रतिपादित राजा स्वसुख के लिए दीन-हीन को पीड़ित नहीं करता है। क्योंकि पीड़ित का दुःख राजा का विनाश कर देता है। दुष्टों को सामनीति से वश में रखता है। अन्यों के प्रति प्रिय वचन बोलता है। प्रियवादी को देवता एवं कटुवादी को पशु कहते हैं–

'न हि स्वसुखमन्विच्छन् पीडयेत् कृपणं जनम् ।
कृपणः पीड्यमानो हि मन्युना हन्ति पार्थिवम् ॥

क्रियतेऽभ्यर्हणीयाय स्वजनाय यथाञ्जलिः ।
ततः साधुतरःकार्यो दुर्जनाय शिवार्थिना ।।
प्रियमेवाभिधातव्यं सत्सु नित्यं द्विषत्सु च ।
देवास्ते प्रियवक्तारः पशवः क्रूरवादिनः ।।'[19]

राजधर्म के अन्तर्गत राजा के आन्तरिक गुणों की चर्चा के पश्चात् अभिगामिक गुणों, आत्मसम्पत्ति एवं मंत्रिसम्पत् गुणों की चर्चा अग्निपुराणकार इस प्रकार करते हैं—

'राज्याङ्गानां वरं राष्ट्रं साधनं पालयेत् सदा ।
कुलं शीलं वयः सत्वं दाक्षिण्यं क्षिप्रकारिता ।।
अविसंवादिता सत्यं वृद्धसेवा कृतज्ञता ।
दैवसम्पन्नता बुद्धिरक्षुद्रपरिवारता ।।
शक्यसामन्तता चैव तथा च दृढभक्तिता ।
दीर्घदशित्वमुत्साहः शुचिता स्थूललक्षता ।।
विनीतत्वं धार्मिकता साधोश्च नृपतेर्गुणाः ।।'[20]

राजा के आत्मसम्पत्ति गुण एवं मन्त्रिसम्पद् गुणों को भी यहाँ पर रेखाङ्कित किया गया है—

'कुर्वीतात्महिताङ्काक्षी परिचारं महीपतिः ।
वाग्मी प्रगल्भः स्मृतिमानुदग्रो बलवान् वशी ।।
नेता दण्डस्य निपुणः कृतशिल्पपरिग्रहः ।
पराभियोगप्रसहः सर्वदुष्टप्रतिक्रिया ।।
परवृत्तान्तवेदी च सन्धिविग्रहतत्त्ववित् ।
गुणानुरागस्थितिमानात्मसम्पद्गुणाः स्मृताः ।।
दृढता मन्त्रिगुप्तिश्च मन्त्रिसम्पत् प्रकीर्तिताः ।।'[21]

राजधर्म के अन्य महत्त्वपूर्ण विषय **राज्यांग**-सम्बन्धी विवेचन *अग्निपुराण* में किया गया है। राज्य के सात अंगों में राजा, मन्त्री, जनपद, दुर्ग, दण्ड, कोष, मित्र का विश्लेषण *अग्निपुराण* के दो अध्यायों में विस्तार से किया गया है।

'स्वाम्यमात्यं जनपदा दुर्गं दण्डस्तथैव च ।
कोशो मित्रं च धर्मज्ञः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ।।

स्वाम्यमात्यं तथा दुर्गं कोषो दण्डस्तथैव च ।
मित्रं जनपदश्चैव राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते ॥
स्वाम्यमात्यं च राष्ट्रं च दुर्गं कोशो बलं सुहृत् ।
परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥'[22]

सप्ताङ्ग राज्य के संचालन में बाधा उत्पन्न करनेवालों को पूर्णरूपेण नष्ट करने का विधान *अग्निपुराण* करता है–

'सप्ताङ्गस्य तु राज्यस्य विघ्नकर्तॄन् विनाशयेत् ।
मण्डलेषु च सर्वेषु बुद्धिः कार्या महीक्षिता ॥'[23]

सप्ताङ्गों का नेतृत्व राजा करता है। अतः उसे राज्य-प्रशासन का सञ्चालन उत्तम रीति से करना चाहिए अन्यथा राज्य एवं राजा दानों की समाप्ति हो जाती है। जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री अपने सुख का त्यागकर गर्भस्थ बच्चे को सुख देने की सर्वविध चेष्टा करती है, उसी प्रकार राजा को भी प्रजारक्षण का कार्य करना चाहिए। अन्यथा राजा पाप का भागी होता है। इस सन्दर्भ में *अग्निपुराण* कहता है–

'नित्यं राज्ञा तथा भाव्यं गर्भिणी सहधर्मिणी ।
यथा स्वं सुखमुत्सृज्य गर्भस्य सुखमावहेत् ॥
किं यज्ञैस्तपसा तस्य प्रजा यस्य न रक्षिताः ।
सुरक्षिताः प्रजा यस्य स्वर्गस्तस्य गृहोपमः ॥
अरिक्षिताः प्रजा यस्य नरकं तस्य मन्दिरम् ।
राजा षड्भागमादत्ते सुकृताद् दुष्टकृतादपि ॥
धर्मागमो रक्षणाच्च पापमाप्नोत्यरक्षणात् ॥'[24]

राज्य-प्रशासन के समुचित सञ्चालन के लिए *अग्निपुराण* ने एक समुत्कृष्ट व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। प्रत्येक ग्राम का अधिपति, दस-दस ग्रामों का अधिपति, पुनः सौ-सौ ग्रामों का अधिपति, इन सबके ऊपर एक अन्य अधिपति राजा को नियुक्त करना चाहिए। इनके कार्यभार के अनुसार इनका भत्ता निश्चित करना चाहिए। इनके कार्यों का निरीक्षण एवं परीक्षण गुप्तचरों के माध्यम से राजा को करना चाहिए–

'ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद् दशग्रामाधिपं नृपः ।
शतग्रामाधिपं चान्यं तथैव विषयेश्वरम् ॥

तेषां भोगविभागश्च भवेत्कर्मानुरूपतः ।
नित्यमेव तथा कार्यं तेषां चारैः परीक्षणम् ॥'[25]

ग्रामों में उत्पन्न होनेवाले उपद्रवों को ग्रामाधिकारी को ही परस्पर एक-दूसरे के सहयोग से समाप्त करना चाहिए, ऐसा *अग्निपुराण* का मत है—

'ग्रामे दोषान् समुत्पन्नान् ग्रामेशः प्रशमं नयेत् ।
अशक्तो दशपालस्य स तु गत्वा निवेदयेत् ॥
श्रुत्वापि दशपालोऽपि तत्र युक्तिमुपाचरेत् ॥'[26]

अग्निपुराणकार राज्य-सञ्चालन के आवश्यक धन-धान्य की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं कि जब उत्तम शासन व्यवस्था से राष्ट्र सुरक्षित रहता है तभी राजा को राष्ट्र के लिए आवश्यक धन-धान्य राज्य से प्राप्त होते हैं। अन्यथा आचरण करने पर राजा एवं राज्य— दोनों की ही अपगति होती है—

'वित्तमाप्नोति राजा वै विषयात्तु सुरक्षितात् ।
धनवान् धर्ममाप्नोति धनवान् काममश्नुते ॥
उच्छिद्यन्ते विना ह्यर्थैः क्रिया ग्रीष्मे सरिद्यथा ।
विशेषो नास्ति लोकेषु पतितस्याधनस्य च ।
पतितान्न तु गृह्णन्ति दरिद्रो न प्रयच्छति ॥
धनहीनस्य भार्यापि नैका स्यादुपवर्तिनी ।
राष्ट्रपीडाकरो राजा नरके वसते चिरम् ॥'[27]

षाड्गुण्यों की चर्चा करते हुए अग्निपुराणकार लिखते हैं कि सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय की विशेष विवेचना राजा को हमेशा करनी चाहिए—

'षाड्गुण्यं संप्रवक्ष्यामि तद्वरौ सन्धिविग्रहौ ।
सन्धिश्च विग्रहश्चैव यानमासनमेव च ॥
द्वैधीभावः संक्षयश्च षड्गुणाः परिकीर्तिताः ॥'[28]

अग्निपुराणकार सन्धि नामक प्रथम षाड्गुण्य के सोलह भेदों की चर्चा विस्तार से करते हैं। कपाल, उपहार, संतान, संगत, उपन्यास, प्रतिकार, संयोग, पुरुषान्तर, अदृष्टपुरुष, आदिष्ट, आत्मामिष, उपग्रह, परिक्रिय, उच्छिन्न, परदूषण,

स्कन्धोपनेय आदि सन्धियों की चर्चा *अग्निपुराण* में की गयी है। राजा को राज्य की तात्कालिक एवं दूरगामी हितदृष्टि को ध्यान में रखते हुए आवश्यकतानुसार सन्धि करनी चाहिए–

'बलवद् विगृहीतेन सन्धिं कुर्याच्छिवाय च ।
कपाल उपहारश्च संतानः संगतस्तथा ॥
उपन्यासः प्रतिकारः संयोगः पुरुषान्तरः ।
अदृष्टनर आदिष्ट आत्मामिष उपग्रहः ॥
परिक्रमस्तथोछिन्नस्तथा च परदूषणम् ।
स्कन्धोपनेयः सन्धिश्च सन्धयः षोडशोदिताः ॥'[29]

चतुर्विधमान्य सन्धियों का भी विवेचन *अग्निपुराण* में है। परस्परोपकार, मैत्र, सम्बन्धज तथा उपहार– ये चार मान्य सन्धियाँ हैं–

'परस्परोपकारश्च मैत्रः सम्बन्धकस्तथा ।
उपहारश्च चत्वारस्तेषु मुख्याश्च सन्धयः ॥'[30]

इसी प्रकार विस्तार से विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव एवं संश्रय आदि का विवेचन यहाँ हुआ है। विग्रह का तात्पर्य युद्ध है। अग्निपुराणकार ने लिखा है कि परस्पर अपकार से राज्यों में **विग्रह** होता है। राजा को राज्य के अभ्युदय की आकांक्षा से शत्रुपीडन के कारण देशकाल के अनुसार शक्ति सम्पन्न होने पर विग्रह करना चाहिए–

'परस्परापकारेण पुंसां भवति विग्रहः ।
आत्मनोऽभ्युदयाकांक्षी पीड्यमानः परेण वा ॥
देशकालबलोपेतः प्रारभेतेह विग्रहम् ॥'[31]

विग्रह के प्रमुख कारणों की विवेचना *अग्निपुराण* में की गयी है–

'राज्यस्त्रीस्थानदेशानां ज्ञानस्य च बलस्य च ।
अपहारो मदो मानः पीडा वैषयिकी तथा ॥
ज्ञानात्मशक्तिधर्माणां विघातो दैवमेव च ।
मित्रार्थं चापमानं च तथा बन्धुविनाशनम् ॥
भूतानुग्रहविच्छेदस्तथा मण्डलदूषणम् ।

एकार्थाभिनिवेशित्वमिति विग्रहयोनयः ॥'[32]

विग्रह के साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि विग्रह राज्य क लिए हितकर है या अहितकर। *अग्निपुराण* में सोलह प्रकार के ऐसे विग्रहों की चर्चा की गयी है जिसमें राज्य की हानि होती है। अतः ऐसे विग्रहों को नहीं करने का राजा को परामर्श दिया गया है।[33] विग्रह के समय राजा को यह विचार कर लेना चाहिए कि उसकी सेना हृष्ट-पुष्ट एवं उत्साहसम्पन्न है। शत्रु की सेना इसके विपरीत है। मित्र, आक्रन्द, आक्रान्दासार– इन तीनों की राजा के प्रति दृढ़भक्ति हो। शत्रु पक्ष में इसके विपरीत परिस्थिति हो तो शत्रु के साथ विग्रह करने का उपदेश *अग्निपुराण* करता है–

'हृष्टं पुष्टं बलं मत्वा गृह्णीयाद् विपरीतकम् ।
मित्रमाक्रन्द आसारो यदा स्युः दृढभक्तयः॥
परस्य विपरीतं च तदा विग्रहमाचरेत् ॥'[34]

यान का तात्पर्य है शत्रु सेना के विरुद्ध युद्ध के लिए प्रस्थान। विग्रह के लिये सर्वथा अनुकूल परिस्थिति होने पर राजा को यान के लिए प्रस्थान-निर्देश किया गया है–

'यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् ।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद् रिपुं प्रति ॥'

युद्ध के लिए प्रस्थान के पाँच भेद *अग्निपुराण* में बताए गए हैं– विगृह्ययान, संधाय यान, सम्भूय यान, प्रसंग यान एवं उपेक्षा यान। युद्ध-नीति का विधान परिस्थितियों को देखकर राजा को करना चाहिये–

'विगृह्य संधाय तथा सम्भूयाथ प्रसंगतः ।
उपेक्षया च निपुणैर्यानं पञ्चविधं स्मृतम् ॥'[35]

आसन का तात्पर्य है शत्रु राष्ट्र के प्रति तटस्थता का भाव। जब राजा युद्ध के लिए विपरीत परिस्थितियों में घिर जाता है, तब वह आसन यानि तटस्थता की नीति अपनाता है। आसन पाँच प्रकार का होता है। यान के ही पञ्चविध भेद आसन के भी हैं, यथा– 1. विगृह्य आसन, 2. संधाय आसन, 3. सम्भूय आसन, 4. प्रसंग आसन एवं 5. अपेक्षा आसन–

'परस्परस्य सामर्थ्यविघातादासनं स्मृतम् ।
अरेश्च विजिगीषोश्च यानवत् पञ्चधा स्मृतम् ॥' [36]

विभेदकारक नीति को **'द्वैधीभाव'** कहते हैं। सशक्त शत्रुओं के मध्य पड़ जाने पर द्वैधीभाव की नीति अपनाई जाती है। *अग्निपुराण* कहता है–

'बलिनोर्द्विषतोर्मध्ये वाचात्मानं समर्पयन् ।
द्वैधीभावेन तिष्ठेत काकाक्षिवदलक्षितः ॥
उभयोरपि संपाते सेवेत बलवत्तरम् ।
यद्वा द्वावपि नेच्छेतां संश्लेषं जातसंविदौ ॥
तदोपसर्पेत् तच्छत्रुमधिकं वा स्वयं व्रजेत् ॥' [37]

संश्रय का तात्पर्य है शरणागत हो जाना। राजा जब बलवान् शत्रु से सर्वथा घिर जाए, संकट-समाधान का कोई अन्य उपाय न रह जाए, तब उसे किसी बलवान्, सदाचारी राजा का आश्रय लेना चाहिये–

'उच्छिद्यमानो बलिना निरुपायप्रतिक्रियः ।
कुलोद्भतं सत्यसामर्थ्यमासेवेत बलोत्कटम् ॥
तद्दर्शनोपास्तिकता नित्यं तद्भावभाविता ।
तत्कारितापश्रयिता वृत्तं संश्रयिणः श्रुतम् ॥' [38]

इन षाड्गुण्यों के माध्यम से राजा यथोचित विधि से राज्य का संचालन करे। यह उसका कर्तव्य है। प्रथम पाँच गुण श्रेष्ठ जबकि अन्तिम संश्रय दुर्बलता मानी गई है। अतः राजा को चाहिए कि वह ऐसी नीति का प्रणयन करे कि जिससे उसे कभी भी संश्रय गुण का सहारा न लेना पड़े।

कूटनीति भी *अग्निपुराण* में प्रतिपादित एक विषय है। कूटनीति एक कला के रूप में व्याख्यायित है। इस कूटनीति का वर्णन सभी राजधर्म व्याख्याताओं ने किया है। कूटनीति के विना राज्य-सञ्चालन संभव नहीं है। *अग्निपुराण* भी कूटनीति के वर्णन के प्रसंग में सात उपायों– साम, दान, भेद, दण्ड, उपेक्षा, एवं इन्द्रजाल की विस्तार से चर्चा करता है। इन उपायों को हम कूटनीति के अन्तर्गत रखते हैं। ये उपाय गुप्त एवं प्रकाशभेद से द्विविध माने गये हैं। राजा को शत्रुदेशों के प्रति उपायों का प्रयोग करना चाहिए। अग्निपुराणकार ने कूटनीति के मायामय उपायों का वर्णन भी विस्तार से किया है–

'साम चोपप्रदानं च भेददण्डौ तथापरौ ।
मायोपेक्षेन्द्रजालं च ह्युपायान् सप्त तान् शृणु ॥'[39]

'प्रकाशश्चाप्रकाशश्च द्विविधो दण्ड उच्यते ।
लुण्ठनं ग्रामघातश्च सस्यघातोऽग्निदीपनम् ॥'[40]

प्रकाशोऽर्थः विषं वह्निर्विविधैः पुरुषैर्वधः ।
दूषणं चैव साधूनामुदकानां च दूषणम् ॥ [41]

'मायोपायं प्रवक्ष्यामि उत्पातैरनृतैश्चरन् ।
शत्रोरुद्वेजनं शत्रोः शिविरस्थस्य पक्षिणः ॥
स्थूलस्य तस्य पुच्छस्थां कृत्वोल्कां विपुलां द्विज ।
विसृजेच्च ततश्चैवमुल्कापातं प्रदर्शयेत् ॥'[42]

अग्निपुराणकार ने द्वादश **राजमण्डल** पर न केवल विचार किया है अपितु विस्तार से इसका विवेचन भी किया है। विजिगीषु, अरि, मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र, अरिमित्र मित्र, पार्ष्णिग्राहासार, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार, आक्रन्दासार, मध्यम एवं उदासीन– ये बारह राजमण्डल में विवेचित हैं। इनके विषय में *अग्निपुराण* कहता है–

'मण्डलं चिन्तयेन्मुख्यं राजा द्वादशराजकम् ।
अरिर्मित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रमतः परम् ॥
तथारिमित्रमित्रं च विजिगीषोः पुरः स्मृताः ।
पार्ष्णिग्राहः स्मृतः पश्चादाक्रन्तस्तदनन्तरम् ।
आसारावनयोश्चैवं विजिगीषोश्च मण्डलम् ॥'[43]

अग्निपुराणकार त्रिविध शत्रुओं की ओर संकेत करते हैं–

'त्रिविधाः रिपवो ज्ञेयाः कुल्यानन्तरकृत्रिमाः ।
पूर्वपूर्वो गुरुस्तेषां दुश्चिकित्स्यतमो मतः ॥'[44]

कुल्य, अनन्तर एवं कृत्रिम नामक शत्रु पूर्व-पूर्व शत्रु से बलवान् होते हैं। इनको पराजित करना बड़ा कठिन होता है। कभी-कभी देखा जाता है कि पड़ोसी मित्र भी आगे चलकर शत्रु हो जाता है। इसलिए राजा को अपने शत्रु का स्वयं विनाश करना चाहिए। प्रतापी मित्र से भी भय रहता है। प्रतापहीन शत्रु से भय कहाँ का। राजा को धर्मविजयी भी होना चाहिए। उद्वेग के विना प्रजा को वश में रखना

एवं प्रजा का विश्वासपात्र भी होना चाहिए।

'अनन्तरोऽपि यः शत्रुः सोऽपि मे कृत्रिमो मतः ।
पार्ष्णिग्राहो भवेच्छत्रोर्मित्राणि रिपवस्तथा ॥
पार्ष्णिग्राहमुपायैश्च शमयेच्च तथा स्वयम् ।
मित्रेण शत्रोरुच्छेदं प्रशंसन्ति पुरातनाः ॥
मित्रं च शत्रुतामेति सामन्तत्त्वादनन्तरम् ।
'शत्रुं विजिगीषुरुच्छिन्द्यात् स्वयं शक्नोति चेद्यदि ।
प्रपापबृद्धौ तेनापि नामित्राज्जायते भयम् ॥
यथा ते नोद्विजेत् लोको विश्वासश्च यथा भवेत् ।
जिगीषुधर्मविजयी तथा लोकं वशं नयेत् ॥'[45]

राजा द्वारा युद्ध के लिए प्रस्थान ही **प्रयाण** कहलाता है। राजा का मुख्य कर्तव्य है प्रजापालन एवं राष्ट्ररक्षा। इसलिए यदि कोई शत्रुराष्ट्र शक्ति में बराबर या शक्तिशाली, शक्तिहीन भी हो, तो यदि वह युद्ध के लिये ललकारता है तो प्रजापालन धर्म का पालन करते हुए राजा को प्रयाण करना चाहिए। युद्ध राष्ट्ररक्षा का अन्तिम उपाय है। शत्रु का युद्ध आह्वान प्रत्यक्ष एवं परोक्ष– दोनों प्रकार से हो सकता है। इसलिये किसी भी परिस्थिति में राष्ट्ररक्षा हेतु युद्धभूमि में प्रस्थान अवश्य करना चाहिए। युद्ध प्रस्थान के समय शुभाशुभ काल का विचार भी राजा को करते हुए अच्छे मूहुर्त में प्रस्थान करना चाहिए।

'यदा मन्यते नृपतिराक्रन्देन बलीयसा ।
पार्ष्णिग्राहोऽभिभूतो वै तदा यात्रां प्रयोजयेत् ॥
पुष्टा योधा भृता भृत्याः प्रभूतं च बलं मम ।
मूलरक्षासमर्थोऽस्मि तैर्गत्वाशिविरे व्रजेत् ॥'[46]
'सर्वयात्रां प्रवक्ष्यामि राजधर्मसमाश्रयात् ।
अस्तंगते नीचगते विकले रिपुराशिगे ॥
प्रतिलोमे च विध्वंस्ते शुक्रे यात्रां विसर्जयेत् ।
प्रतिलोमे बुधे यात्रां दिक्पतौ च तथा गृहे ॥
वैधृतौ च व्यतीयाते नागे च शकुनौ तथा ।
चतुस्पादे च किंस्तुघ्ने तथा यात्रां विवर्जयेत् ॥

विपत्तारे नैधने च प्रत्यरौ चाथजन्मनि ।
गण्डे विवर्जयेद्यात्रां रिक्तायां च तिथावपि ॥' [47]

मन्त्रणा, यह भी युद्धकला में राजधर्म का आवश्यक अंग है। मन्त्रियों एवं सहयोगियों के साथ मन्त्रणा आवश्यक मानी गयी है; क्योंकि मन्त्रशक्ति, प्रभावशक्ति एवं उत्साह शक्ति से बढ़कर है। मंत्र पाँच प्रकार के होते हैं। इनका क्रमशः विचार अवश्य करना चाहिए।

'प्रभावोत्साहशक्तिभ्यां मंत्रशक्तिः प्रशस्यते ।
प्रभावोत्साहवान् काव्यो जितो देवपुरोधसा ॥
सहायाः साधनोपायाः विभागो देशकालयोः ।
विपत्तेश्च प्रतीकारः पञ्चाङ्गो मन्त्र इष्यते ॥' [48]

युद्धक्षेत्र में व्यूह-रचना का बड़ा ही महत्त्व है। *अग्निपुराण* में व्यूह रचना-प्रतिपादन के साथ भेदोपभेद सहित नवविध व्यूहों की भी विवेचना की गई है।

'व्यूहाः प्राणिरूपाश्च द्रव्यरूपाश्च कीर्तिताः ।
गरुडो मकरव्यूहश्चक्रः श्येनस्तथैव च ॥
अर्द्धचन्द्रश्च वज्रश्च शकटव्यूह एव च ।
मण्डलं सर्वतोभद्रः सूचीव्यूहश्च ते नराः ॥' [49]

युद्धक्षेत्र में प्राणिस्वरूप, द्रवस्वरूप व्यूहों के साथ-साथ गरुड़, मकर, श्येन, अर्धचन्द्र, वज्र, शकट, चक्र सर्वतोभद्र एवं सूची व्यूहों की चर्चा विस्तार से *अग्निपुराण* करता है।

विधि-व्यवस्था भी राजधर्म का महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रजा के हर सुख-दुःख का ध्यान रखना एवं समस्याओं का निदान करना महत्त्वपूर्ण माना गया है।

'धनवान्धर्ममाप्नोति धनवान् काममश्नुते ।
उच्छिद्यन्ते विना ह्यर्थैः क्रिया ग्रीष्मे सरिद् यथा ॥
विशेषो नास्ति लोकेषु पतितस्याधनस्य च ।
पतितान्न तु गृह्णन्ति दरिद्रो न प्रयच्छति ॥
धनहीनस्य भार्यापि नैका स्यादुपवर्तिनी ।

राष्ट्रपीडाकरो राजा नरके वसते चिरम् ॥' [50]

कर-संग्रहण में राजकीय विधि-व्यवस्था को विशेष ध्यान रखने का निर्देश दिया गया है कि राजा को अपने प्रिय व्यक्तियों, चोरों और राजकीय कर्मचारियों द्वारा पीड़ित हो रही प्रजा की रक्षा करनी चाहिये। **कर–व्यवस्था** का भी यहाँ पर समुचित विधान *अग्निपुराण* करता है–

'सुभगा विटभीतेव राजवल्लभतस्करैः ।
भक्ष्यमाणाः प्रजाः रक्ष्याः कायस्थैश्च विशेषतः ॥' [51]
'शूकधान्येषु षड्भागं शिम्बिधान्ये तथाष्टमम् ।
राजा वन्यार्थमादद्याद्देशकालानुरूपकम् ।
पञ्चषड्भागमादद्याद्राजा पशुहिरण्योः ॥' [52]

गुप्तचर–व्यवस्था भी राजधर्म का हिस्सा है। *अग्निपुराण* के अनुसार राजा को चार चक्षु होना चाहिए। गुप्तचर-व्यवस्था का नियम है कि **'विश्वस्तं नीतिविश्वसेत्'**। इस नीति का पालन प्रायः सभी राजा करते थे। राजा की आँखें गुप्तचर ही होते हैं। उन्हीं के माध्यम से राज्य का सुव्यवस्थित सञ्चालन करता है–

'भृत्या विशिष्टं विज्ञेयाः कुभृत्याश्च तथैकतः ।
चारचक्षुर्भवेद्राजा नियुञ्जीत सदा चरान् ॥
जनस्याविहितान् सौम्यांस्तथाज्ञातान् परस्परम् ।
वणिजो मन्त्रकुशलान् सांवत्सरचिकित्सकान् ।
तथा प्रव्रजिताकारान् बलाबलविवेकिनः ॥' [53]

राजधर्म में **सैन्य व्यवस्था** भी एक महत्त्वपूर्ण विषय है। **दुर्गों** का विवेचन सैन्य व्यवस्था के अंतर्गत है। अग्निपुराणकार छः दुर्गों का धन्वदुर्ग, मद्रीदुर्ग, नरदुर्ग, वृक्षदुर्ग, जलदुर्ग एवं पर्वतदुर्ग का विस्तार से विवेचन करते हैं–

'षण्णामेकतमं दुर्गं तत्र कृत्वा वसेद् वली ।
धनुदुर्गं महीदुर्गं नरदुर्गं तथैव च ॥
वार्क्षं चैवाम्बुदुर्गं च गिरिदुर्गं च भार्गव ।
सर्वोत्तमं शैलदुर्गमभेद्यं चान्य भेदनम् ॥' [54]

दुर्गों के निर्माण के समय अनेक विषयों का ध्यान रखना चाहिए जिसको

अग्निपुराणकार इस प्रकार बताते हैं–

'पृथुसीमं महाखातमुच्च प्राकारतोरणम् ।
पुरं समावसेच्छैलसरिन्मरुवनाश्रयम् ।
जलवद्धान्यधनवद्दुर्गं कालसहं महत् ।।' [55]

राजधर्म के अन्य ग्रन्थों में चार **उपायों** की चर्चा है। परन्तु अग्निपुराणकार सात उपायों की चर्चा करते हुए विवेचन भी करते हैं। साम, दान, भेद, दण्ड, उपेक्षा, माया और इन्द्रजाल की विस्तृत चर्चा *अग्निपुराण* में मिलती है–

'सामादिभिरूपायैस्तु सर्वे सिध्यन्त्युपक्रमाः।
साम चोपप्रदानं च भेददण्डौ तथापरौ ।।
मायोपेक्षेन्द्रजालं च ह्युपायाः सप्त तान् शृणु ।।' [56]

इस प्रकार *अग्निपुराण* प्रतिपादित राजधर्म के अनेक व्यापक पक्ष हैं। राजधर्म वस्तुतः वर्णव्यवस्था एवं प्राणियों के परस्पर सम्बन्धों को भी व्याख्यायित करता है। राजधर्म को सभी धर्मों में प्रधान माना गया है। सभी विद्याओं में इसे महत्त्वपूर्ण माना गया है। *अग्निपुराण* में विवेचित राजधर्म को आधुनिक राजशास्त्र के साथ मिलाकर पढ़ने एवं अनुसंधान करने की आज आवश्यकता है, तभी हम इस युग में भी इसकी प्रासंगिकता एवं उपयोगिता सिद्ध कर सकेंगे।

सन्दर्भ :

1. *नीतिमयूख*, द्वितीय प्रयोगः
2. *नीतिशतक*, 47
3. *श्रीमद्भागवतमहापुराण*, 12.7.23-24
4. *विष्णुपुराण*, 3.6.21-23
5. *अग्निपुराण*, 283.52
6. *वही*, 383.9
7. *वही*, 383.10-11
8. *वही*, 383.21-22
9. *वही*, 383.24-25
10. *वही*, 383.26-28
11. *वही*, 383.34-36
12. *वही*, 383.41
13. *वही*, 220.3-7
14. *वही*, 220.14-15
15. *वही*, 220.16-20

16. वही, 238.2
17. वही, 238.3
18. वही, 238.4-5
19. वही, 238.13-15
20. वही, 239.2-4 1/2
21. वही, 239.6-8, 10 1/2, 15 1/2
22. वही, 225.11; 233.12; 239.1
23. वही, 233.13
24. वही, 223.8-10 1/2
25. वही, 223.1-2
26. वही, 223.3 1/2
27. वही, 223.4-7
28. वही, 234.16-17
29. वही, 240.6-8
30. वही, 240.9
31. वही, 246.14-15
32. वही, 240.16-18
33. वही, 240.20-24
34. वही, 240.25 1/2
35. वही, 240.26
36. वही, 240.27
37. वही, 240.28-30
38. वही, 240.31-32
39. वही, 226.5
40. वही, 234.2
41. वही, 238.8
42. वही, 2/40.1-2
43. वही, 233.21
44. वही, 233.22-26
45. वही, 228.1-2
46. वही, 233.1-4
47. वही, 241.1; 241.4
48. वही, 236.28-29 1/2
49. वही, 223.5-7
50. वही, 223.5-7
51. वही, 223.11-12
52. वही, 223.26-27
53. वही, 220.20-22
54. वही, 222.4-5
55. वही, 239.28-29
56. वही, 226.5-6

अग्निपुराण : तीर्थयात्रा-माहात्म्य

डॉ० रत्नेश कुमार त्रिपाठी *

र्थ' एक ऐसा शब्द है जो व्यापक रूप से सभी धर्मों, जातियों या समाजों के इतिहास, सभ्यता, संस्कृति एवं जीवन-प्रणाली की प्रक्रिया का निदर्शन प्रस्तुत करता है। सभी धर्मों में कुछ विशिष्ट स्थलों की पवित्रता पर बल दिया गया है और वहाँ जाने के लिए धार्मिक व्यवस्थाएँ बतलायी गयी हैं। भारतवर्ष के पवित्र स्थानों ने भारतीय समाज के सृजन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। विशाल एवं लम्बी नदियाँ, पर्वत आदि सदैव पुण्यप्रद एवं दिव्य स्थल कहे गये हैं। भारत में तीर्थयात्राओं से समाज एवं स्वयं तीर्थयात्रियों को बहुत लाभ होता था। यद्यपि भारतवर्ष कई राज्यों मे विभाजित था और लोग भाँति-भाँति के सम्प्रदायों एवं उपसम्प्रदायों के अनुयायी थे, किन्तु तीर्थयात्राओं ने भारतीय-संस्कृति एवं देश की महत्त्वपूर्ण मौलिक एकता की भावना को संवर्धित किया। पवित्र स्थानों से सम्बन्धित परम्पराओं, तीर्थयात्रियों की संयमशीलता, पवित्र एवं दार्शनिक लोगों के समागम एवं तीर्थों के वातावरण ने यात्रियों को एक उच्च आध्यात्मिक स्तर पर अवस्थित कर रखा था और उनके मन में एक ऐसी श्रद्धा-भक्ति की भावना भर उठती थी, जो तीर्थयात्रा से लौटने के उपरान्त

---

* राष्ट्रीय कार्यालय-सचिव एवं शोध-सहायक, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना एवं शोधाध्येता, भारतीय पुराण अध्ययन संस्थान, बाबा साहेब आपटे स्मृति भवन, 'केशव कुञ्ज', झण्डेवालान, नयी दिल्ली

भी दीर्घ काल तक उन्हें अनुप्राणित किये रहती थी। तीर्थयात्रा करना एक ऐसा साधन था जो साधारण लोगों को स्वार्थमय जीवन-कर्मों से दूर रखने में सहायक होता था और उन्हें उच्चतर एवं दीर्घकालीन महान् नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन-मूल्यों के विषय में सोचने को प्ररित करता रहता था।[1]

अग्निपुराण एक ऐसा पुराण है जिसमें ज्ञान का प्रचुर भण्डार है। इसमें राजनीति, धर्म, काव्य, व्याकरण, भूगोल, वास्तु, ज्योतिष, योग, आयुर्वेद, सृष्टि, वेदान्त, अवतारों की अवधारणा, अंतरिक्षविज्ञान, महाभारत, रामायण आदि का विधिवत् वर्णन मिलता है इसके साथ ही साथ अग्निपुराण विभिन्न कलाओं के ज्ञान से भी परिपूर्ण है, जैसे– धनुर्विद्या, मूर्तिकला, सैन्य शिक्षा-पद्धति, राज्य-प्रबंधन आदि। *अग्निपुराण* में तीर्थों से संबंधित जानकारी प्रचुर मात्रा में मिलती है। *अग्निपुराण* के अंतर्गत कुछ महत्त्वपूर्ण तीर्थों की यात्रा और उसके विधान तथा उससे मिलनेवाले फल का वर्णन है जिनमें प्रमुख रूप से पुष्कर, गंगा, प्रयाग, नर्मदा और गया तीर्थ आये हैं।

पुष्कर–तीर्थ :

'पुष्करं परमं तीर्थं सान्निध्यं हि त्रिसंध्यकम्।
दशकोटिसहस्राणि तीर्थानां विप्र पुष्करे ॥'[2]
'ब्रह्मा सह सुरैरास्ते मुनयः सर्वमिच्छवः ।
देवाः प्राप्ताः सिद्धिमत्र स्नाताः पितृसुरार्चकाः ॥'[3]

अग्निपुराण के 109वें अध्याय के तीर्थमाहात्म्य में पुष्कर की महिमा का वर्णन करते हुए ब्रह्मा जी कहते हैं कि पुष्कर श्रेष्ठ तीर्थ है। वहाँ तीनों संध्याओं तक उसका सान्निध्य प्राप्त करना चाहिये क्योंकि वहाँ 10 हज़ार कोटि तीर्थों का निवास रहता है। पुष्कर में सम्पूर्ण देवताओं के साथ ब्रह्मा जी निवास करते हैं। सब कुछ चाहनेवाले मुनि और देवता वहाँ सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। पुष्कर में देवताओं और पितरों की पूजा करनेवाले मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त करके ब्रह्मलोक में जाते हैं।[4] *अग्निपुराण* (109.7) के एक श्लोक में पुष्कर तीर्थ में कार्तिक पूर्णिमा को अन्नदान करना महत्त्वपूर्ण बताते हुए इसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति का साधन बताया गया है।[5] *अग्निपुराण* में पुष्कर तीर्थ को अत्यन्त कठिन तीर्थों में माना गया है। श्लोक 109.8 में आया है कि पुष्कर की यात्रा तो कठिन है ही, वहाँ तपस्या करना, दान देना तथा निवास करना और भी कठिन है।[6] पुष्कर तीर्थ के फल को बताते हुए ऐसा

वर्णन है कि वहाँ पर निवास करने से, जप करने से, और श्राद्ध करने से 100 कुलों का उद्धार हो जाता है।[7]

गंगातीर्थ माहात्म्य :

'गंगामाहात्म्यमाख्यास्ये सेव्या सा भुक्तिमुक्तिदा ।
येषां मध्ये याति गंगा ते देशाः पावना वराः ॥'[8]
'गतिर्गंगा तु भूतानां गतिमन्वेषतां सदा ।
गंगा तारयते चोभौ वंशौ नित्यं हि सेवता। ।'[9]

अग्निपुराण में गंगामाहात्म्य का वर्णन करते हुए अग्निदेव ने कहा है कि भोग और मोक्ष को देनेवाली गंगा सदैव सेवनीय हैं। जिन-जिन प्रदेशों से होकर गंगाजी बहती हैं, वे प्रदेश श्रेष्ठ और पवित्र हैं तथा पावन हैं। उत्तम गति की खोज करनेवाले प्राणियों के लिए गंगा ही सर्वोत्तम गति हैं। गंगा का सेवन करने पर वह माता और पिता– दोनों के कुलों का उद्धार करती हैं। 1000 चंद्रायण व्रत की अपेक्षा गंगाजी के जल का पीना उत्तम है।[10] गंगामाहात्म्य में इस तीर्थ के फल को बताते हुए *अग्निपुराण* में उद्धृत है कि एक मास तक गंगाजी की सेवा करने से सम्पूर्ण यज्ञों का फल प्राप्त हो जाता है। वह देवी समस्त पापों का नाश करनेवाली तथा स्वर्गलोक को देनेवाली हैं। जबतक मनुष्य की अस्थि मात्र गंगा में रहती है, तब तक वह स्वर्ग में निवास करता है। अन्धे आदि विकलांग भी गंगा का सेवन करने से देवताओं की समता प्राप्त कर लेते हैं। जो व्यक्ति गंगातीर्थ से मिट्टी खोदकर ले जाता है, उसके पाप नष्ट हो जाते हैं और वह सूर्य के समान तेजस्वी हो जाता है। गंगा के दर्शन, स्पर्श, पान तथा नाम के संकीर्तन से मनुष्य सैकड़ों, हज़ारों पूर्वजों को पवित्र कर देता है।[11]

प्रयाग-तीर्थ माहात्म्य :

'वक्ष्ये प्रयागमाहात्म्यं भुक्तिमुक्तिप्रदं परम् ।
प्रयागे ब्रह्मविष्ण्वाद्या देवा मुनिवराः स्थिताः ॥'[12]
'सरितः सागराः सिद्धा गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।
तत्र त्रीण्यग्निकुण्डानि तेषां मध्ये तु जाह्नवी ॥'[13]
'वेगेन समतिक्रान्ता सर्वतीर्थपुरस्कृता ।
तपनस्य सुता तत्र त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥'[14]

अग्निपुराण के 111वें अध्याय के 1-3 श्लोक में वर्णित है कि प्रयाग भोग और मोक्ष प्रदान करने का उत्तम तीर्थस्थान है। प्रयाग में ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता तथा बड़े-बड़े मुनिवर निवास करते हैं। नदियाँ, समुद्र, सिद्ध, गन्धर्व तथा अप्सरायें भी उस तीर्थ में वास करती हैं। प्रयाग में तीन अग्निकुण्ड हैं, उनके बीच में गंगा सब तीर्थों को साथ लिए बड़े वेग से बहती हैं। वहाँ त्रिभुवनविख्यात सूर्यकन्या यमुना भी हैं।[15] आगे के श्लोकों में प्रयाग की भौगोलिक स्थिति का वर्णन मिलता है जिसमें कहा गया है कि गंगा और यमुना का मध्य भाग पृथ्वी देवी की जंघा है तथा इन दोनों नदियों के बीच में स्थित प्रयाग योनि है, ऐसा ऋषियों ने माना है। प्रयाग के साथ है प्रतिष्ठानपुर (आधुनिक झूँसी)। प्रयाग में कम्बल तथा अश्वतर नामक दो तीर्थ हैं तथा वहाँ भोगवती नामक तीर्थ है जो ब्रह्मा की वेदी कहलाता है।[16] प्रयाग तीर्थ से मिलनेवाले फल का वर्णन करते हुए *अग्निपुराण* में ऐसा आया है कि प्रयाग में सभी वेद तथा यज्ञ मूर्तिमान् होकर रहते हैं, अतः प्रयाग की स्तुति करने से, उनका नाम संकीर्तन करने से तथा वहाँ की मिट्टी लेने मात्र से ही प्राणी सभी पापों से मुक्त हो जाता है। प्रयाग में संगम पर किए हुए दान, श्राद्ध तथा जप आदि का अक्षय फल मिलता है।[17] प्रयाग तीर्थ को मोक्ष का मार्ग बताते हुए *अग्निपुराण* में वर्णित है कि प्रयाग में मरने का विचार न तो वेदवचनों से ही छोड़ा जा सकता है और न लोकवचनों से ही। केवल दस हज़ार ही क्या, साठ करोड़ तीर्थों का सान्निध्य प्रयागराज को प्राप्त है। इसलिए प्रयाग तीर्थों में सर्वश्रेष्ठ है।[18] प्रयाग-स्थित वटवृक्ष के नीचे तथा संगम आदि स्थानों में मृत्यु होने से विष्णुधाम की प्राप्ति होती है। प्रयाग में स्नान की महत्ता बताई गई है। ऐसा वर्णित है कि प्रयाग में तीन दिन स्नान करने से उतना ही फल प्राप्त होता है जितना करोड़ों गायों का दान करने से। विद्वानों का मत तो यह है कि माघ मास में प्रयाग में स्नान करने से भी यही फल प्राप्त होता है।[19] प्रयाग में दान की महिमा को बताते हुए आया है कि गंगा सब स्थानों पर सुलभ है किन्तु तीन स्थानों की गंगा दुर्लभ हैं। ये स्थान हैं गंगाद्वार (हरिद्वार), प्रयाग तथा गंगासागर-संगम। यहाँ पर दान करने से मनुष्य स्वर्ग प्राप्त करता है तथा दूसरे जन्म में राजाधिराज होता है।[20]

वाराणसी तीर्थ माहात्म्य :

'वाराणसी परं तीर्थं गौर्यै प्राह महेश्वरः ।
भुक्तिमुक्तिप्रदं पुण्यं वसतां गृणतां हरिम् ॥'[21]

अग्निपुराण में वर्णित वाराणसी तीर्थ माहात्म्य में ऐसा आया है कि वाराणसी तीर्थ श्रेष्ठ तीर्थ है। जो वहाँ हरि नाम लेते हुए निवास करते हैं, उन सबको वह भोग और मोक्ष प्रदान करता है। महादेव पार्वती से वाराणसी के ये माहात्म्य बताये हैं।[22] *अग्निपुराण* में वाराणसी तीर्थ से संबंधित प्राप्त सूचनाएँ वाराणसी के विस्तार को भी बताती हैं तथा साथ ही साथ प्रमुख तीर्थों की जानकारी भी उपलब्ध कराती है। *अग्निपुराण* के 112वें अध्याय के 2-7 श्लोकों में ऐसा वर्णन है कि भगवान् शंकर वहाँ हमेशा निवास करते हैं, इसलिए इस क्षेत्र को 'अविमुक्त क्षेत्र' कहा जाता है, और इस क्षेत्र में किया गया जप, तप, होम, मरण, देवपूजन, श्राद्ध, दान और निवास आदि जो-जो भी किया जाता है, वह मोक्ष प्रदान करनेवाला होता है। काशी में हरिश्चन्द्र, आम्रातकेश्वर, जप्येश्वर, श्रीपर्वत, महालय, भूमि, चण्डेश्वर और केदार– ये आठों तीर्थ अत्यन्त गुह्य तीर्थ हैं। यह क्षेत्र पूर्व की ओर दो योजन तक और उसके विपरीत (पश्चिम) दिशा में आधे योजन तक फैला हुआ है। वरुणा और नासी (असी) नामक दो नदियों के बीच में बसी होने के कारण इस नगरी को वाराणसी कहते हैं।[23]

नर्मदा-तीर्थ माहात्म्य :

'नर्मदादिकमाहाम्यं वक्ष्येऽहं नर्मदां पराम् ।
सद्यः पुनाति गांगेयं दर्शनद्वारि नार्मदम् ॥'[24]
'विस्तराद्याजनेशतं योजनद्वयमायतम् ।
षष्टिस्तीर्थसहस्राणि षष्टिकोट्यस्तथाऽपराः ॥'[25]

नदी-तीर्थों की शृंखला में नर्मदा नदी तीर्थ के माहात्म्य का वर्णन करते हुए *अग्निपुराण* में वर्णित है कि नर्मदा अत्यन्त उत्कृष्ट नदी है। गंगाजल स्पर्श से ही पवित्र कर देता है, किन्तु नर्मदा का जल तो दर्शन मात्र से ही पवित्र कर दिया करता है। *अग्निपुराण* में नर्मदा के तटवर्ती तीर्थों की संख्या साठ करोड़ साठ हज़ार बताई गई है जो सौ योजन में फैले हुए तथा दो योजन चौड़े हैं।[26] यहाँ पर दान, तप तथा श्राद्ध अक्षय फल देनेवाले बताए गए हैं। यहाँ पर होनेवाली मृत्यु शिवलोकगामी बतायी गयी है। यहाँ भगवान् शंकर माता गौरी के साथ क्रीड़ा करते हैं अतः यह तीर्थ परम पवित्र तथा सब कुछ देनेवाला है। इस तीर्थ में हिरण्यकश्यप की तपस्या तथा मुनियों को सिद्धि प्राप्त होने की भी सूचना मिलती है।

अन्य तीर्थ :

अग्निपुराण में तीर्थस्थानों की एक लम्बी और विस्तृत सूची मिलती है जिनमें जम्बूमार्ग तीर्थ, तण्डुलिकाश्रम, कण्वाश्रम, कोटितीर्थ, नर्मदातीर्थ, श्रेष्ठ अर्बुद तीर्थ, चर्मण्वती, सिन्धु, सोमनाथ, प्रभास, सरस्वती और समुद्र का संगम, सागर तीर्थ, पिण्डारक, द्वारका, सकलसिद्धिदायिनी गोमती, भूमितीर्थ, ब्रह्मतुंग तीर्थ, श्रेष्ठ पंचनद तीर्थ, भीम तीर्थ, गिरीन्द्र, पापनाशिनी देविका, पवित्र विनशन तीर्थ, पापनाशक नागोद्‌भेद तीर्थ, कुमारकोटि, कुरुक्षेत्र, सरस्वती तीर्थ, धर्मतीर्थ, सुवर्णतीर्थ, परमोत्तम गंगाद्वार (हरिद्वार), कनखल तीर्थ, पवित्र भद्रकर्ण सरोवर, गंगा सरस्वती संगम, ब्रह्मावर्त, अघार्दन, भृगुतुंग, कुब्जाभ्र, गंगोद्‌भेद, अघान्तक, वाराणसी-सर्वश्रेष्ठ अविमुक्त तीर्थ, कपालमोचन तीर्थ, तीर्थराज प्रयाग, गोमती-गंगा-संगम, राजगृह तीर्थ, शालग्राम तीर्थ, वटेश तीर्थ, उत्तम कालिका संग तीर्थ, लौहित्य तीर्थ, करतोया, शोण, ऋषभ तीर्थ, श्री पर्वत, कोल्लगिरि, सह्यपर्वत, मलयगिरि, गोदावरी, तुंगभद्रा, कावेरी, वरदानदी, तापी, पयोष्णी, रेवा, दण्डकारण्य, कालंजर, मुंजवट तीर्थ, सुर्पारक तीर्थ, मन्दाकिनी, चित्रकूट, श्रृंगवेरपुर, अवन्तिकानगरी, अयोध्या और नैमिषारण्य। गया तीर्थ का सबसे विस्तृत वर्णन *अग्निपुराण* में मिलता है।[27]

तीर्थयात्रा के फल :

'माहात्म्यं सर्वतीर्थानां वक्ष्ये यद्‌भुक्तिमुक्तिदम् ।
यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ॥'[28]
'विद्यातपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ।
प्रतिग्रहादुपावृत्तो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ॥'[29]
'निष्पापस्तीर्थयात्री तु सर्वयज्ञफलं लभेत् ।
अनुपोश्य त्रिरात्राणि तीर्थान्यभिगम्य च ॥'[30]
'अदत्त्वा काञ्चनं गाश्च दरिद्रो नाम जायते ।
तीर्थाभिगमने तत् स्याद्यद्यज्ञेनाऽऽप्यते फलम् ॥'[31]

अग्निपुराण में तीर्थयात्रा के फल का विस्तृत वर्णन करते हुए अग्निदेव कहते हैं कि तीर्थ लोक और परलोक– दोनों में मोक्ष प्रदान करनेवाला है। तीर्थों का फल उसी को प्राप्त होता है जिनके हाथ-पाँव तथा मन आदि सभी इन्द्रियाँ सुसंयत हैं और जो विद्वान्, तपस्वी और कीर्तिमान् है। वह तीर्थयात्री सभी यज्ञों के फल को प्राप्त कर लेता है, जो दान-आदि नहीं लेता है और स्वल्पाहारी, जितेन्द्रिय तथा

निष्पाप हुआ करता है। जिसने कभी तीन रात उपवास नहीं किया, तीर्थयात्रा नहीं की तथा स्वर्ण और गायों का दान नहीं किया, वह निश्चय ही (दूसरे जन्म में) दरिद्र होता है। यही नहीं, तीर्थयात्रा से वही फल प्राप्त होता है जो साधारणतया यज्ञों से प्राप्त होता है।[32]

स्कन्दपुराण में ऐसा आया है कि जिसके हाथ, पैर, मन, विद्या, तप और कीर्ति सभी संयम में हैं, वह तीर्थ के पूर्ण फल का भागी होता है। जो प्रतिग्रह नहीं लेता और जिस किसी भी वस्तु से संतुष्ट रहता है तथा जिसमें अहंकार का सर्वथा अभाव रहता है, वह तीर्थफल का भागी होता है। जो दम्भी नहीं है, नये-नये कार्यों का प्रारम्भ नहीं करता, थोड़ा खाता है, इन्द्रियों को काबू में रखता है, सब प्रकार की आसक्तियों से दूर रहता है, वह तीर्थ फल का भागी होता है। जो क्रोधी नहीं है, जिसकी बुद्धि निर्मल है, जो सत्य बोलनेवाला और दृढ़तापूर्वक व्रत का पालन करनेवाला है, जो सब प्राणियों के प्रति अपने ही समान बर्ताव करता है, वह तीर्थफल का भागी होता है। जो तीर्थों का सेवन करनेवाला, धीर, श्रद्धालु और एकाग्रचित्त है, वह पहले का पापाचारी हो, तो भी शुद्ध हो जाता है। जो पुण्य कर्म करनेवाला है, उसके लिए तो कहना ही क्या हैं ! तीर्थसेवी मनुष्य कभी पशुयोनि में जन्म नहीं लेता, कुदेश में जन्म नहीं लेता और वह कभी दुःख का भागी नहीं होता। वह स्वर्ग भोगता और मोक्ष का उपाय प्राप्त कर लेता है। अश्रद्धालु, पापात्मा, नास्तिक, संशयात्मा और केवल तर्क का सहारा लेनेवाला– ये पाँच प्रकार के मनुष्य तीर्थसेवन का फल नहीं उठाते।[33] *स्कन्दपुराण* में ऐसा आया है कि पापाचारी मनुष्यों के पाप का, तीर्थ में स्नान करने से नाश होता है। श्रद्धालु मनुष्यों को तीर्थ यथार्थ फल देनेवाला होता है। जो दूसरों के लिए तीर्थयात्रा करता है, वह तीर्थजनित पुण्य के 16वें अंश को पाता है।[34] *नारदपुराण* के उत्तर भाग में काशी तीर्थों का माहात्म्य वर्णन करते हुए ऐसा आया है कि तीर्थयात्रा से, पवित्र नदियों के स्नान से सभी प्रकार से पाप नष्ट होते हैं और इष्ट कामनाओं की प्राप्ति होती है।[35]

पद्मपुराण में ऐसा आया है कि विधिपूर्वक तीर्थयात्रा करनेवाले मनुष्यों को विशेष रूप से फल की प्राप्ति होती है। इसलिए पूर्ण प्रयत्न करके तीर्थयात्रा की विधि का पालन करना चाहिए।[36] *वामनपुराण* में कहा गया है कि सभी आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास) के लोग तीर्थ में स्नान कर कुल सात पीढ़ियों की रक्षा करते हैं। चातुर्वर्ण्य के लोग एवं स्त्रियाँ भक्तिपूर्वक स्नान करने से परमोच्च ध्येय का दर्शन करती हैं। *ब्रह्मपुराण* में कहा गया है कि ब्रह्मचारी, गुरु की आज्ञा या सहमति से

तीर्थयात्रा कर सकते हैं, गृहस्थ को अपनी पतिव्रता स्त्री के साथ (यदि जीवित हो तो) तीर्थयात्रा अवश्य करनी चाहिए, नहीं तो उसे तीर्थयात्रा का फल नहीं प्राप्त हो सकता।[37]

पुराणों में वर्णित तीर्थयात्रा के इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भारत में प्राचीन काल से तीर्थयात्रा व्यक्ति के कर्म और उसके शुद्धि का साधन रही है। तीर्थयात्रा के सम्बन्ध में *ब्रह्मपुराण* का यह कथन कि 'जो दुष्ट हृदय हैं वे तीर्थों में स्नान करने से शुद्ध नहीं हो सकते हैं। जिस प्रकार वह पात्र जिसमें सुरा रखी गयी हो, सैकड़ों बार धोने से अपवित्र रहती है, उसी प्रकार तीर्थ, दान, व्रत, आश्रम उस व्यक्ति को पवित्र नहीं करते, जिसका हृदय दुष्ट रहता है, जो कपटी होता है और जिसकी इन्द्रियां असंयमित रहती हैं।' अर्थात् तीर्थयात्रा करने से पापकर्मों का नाश होता है, किन्तु पापकर्म करते हुए तीर्थयात्रा करना उन पापों की दुगुनी गति से बढ़ता है। धीर और संयमित मनुष्य तीर्थयात्रा के विविध फलों को प्राप्त कर अपना और अपने वंश का उद्धार करता है और दुष्ट और असंयमित मुनष्य इन फलों से वञ्चित रहता है। अतः अपने सभी पापकर्मों को त्यागकर तीर्थयात्रा करने से मनुष्यमात्र तीर्थफल को प्राप्त करता है और अपने पापों से छुटकारा पाता है। अन्ततः हम यह कह सकते हैं कि पुराणों में वर्णित तीर्थयात्रा-विधान भारतीय संस्कृति की वह अनमोल कड़ी है जो व्यक्ति के साथ-साथ समाज को भी परिष्कृत और शुद्ध करने का कार्य करती है।

सन्दर्भ :

1. डॉ० रत्नेश कुमार त्रिपाठी, *'सरस्वती घाटी के प्रमुख तीर्थों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन'*, 2010, मोरोपन्त पिंगळे राष्ट्रीय पुस्तकालय, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना, नयी दिल्ली, पृ० 1
2. *अग्निपुराण* (तीर्थ माहात्म्य, 109.5)
3. *वही*, 109.6
4. *वही* (तीर्थ माहात्म्य), हिंदी-अनुवाद, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ० 235
5. **अश्वमेधफलं प्राप्य ब्रह्मलोकं प्रयान्ति ते।**
   कार्तिक्यामन्नदानाच्च निर्मलो ब्रह्मलोकभाक्॥
6. **पुष्करे दुष्करं गन्तुं पुष्करे दुष्करं तपः।**
   दुष्करं पुष्करे दानं वस्तुं चैव सुदुष्करम्॥
7. *अग्निपुराण* (तीर्थ माहात्म्य, 109.9)
8. *वही* (गंगा माहात्म्य, 110.1)
9. *वही* (गंगा माहात्म्य, 110.2)

10. *वही* (गंगा माहात्म्य, 110.1-2)

11. 'चान्द्रायणसहस्राच्च गंगाम्भ:पानमुत्तमम् ।
गंगा मासं तु संसेव्या सर्वयज्ञफलं लभेत् ॥
सकलाघहरी देवी स्वर्गलोकप्रदायिनी ।
यावदस्थि च गंगायां तावत्स्वर्गे स तिष्ठति ॥
अन्धाादयस्तु तां सेव्य देवैर्गच्छन्ति तुल्यताम् ॥
गंगातीर्थसमुद्भूतमृद्धारी सोऽघहाऽकुर्वत् ॥
दर्शनात्स्पर्शनात्पानात्तथा गंगेतिकीर्तनात् ।
पुनाति पुण्यपुरुषाञ्शतशोऽथ सहस्रशः ॥'

12. *वही* (प्रयाग माहात्म्य, 111.1)
13. *वही* (प्रयाग माहात्म्य, 111.2)
14. *वही* (प्रयाग माहात्म्य, 111.3)
15. *वही* (प्रयाग माहात्म्य, 111.1-3)
16. 'गंगायमुनयोर्मध्यं पृथिव्या जघनं स्मृतम् ।
प्रयागं जघनस्यान्तरुपस्थमृषयो विदुः ॥
प्रयागं सप्रतिष्ठानं कम्बलाश्वतरावुभौ ।
तीर्थं भोगवती चैव वेदी प्रोक्ता प्रजापतेः ॥' —*वही*, 111.4-5
17. *वही* (प्रयाग माहात्म्य, 111.4-7)
18. *वही* (प्रयाग माहात्म्य, 111.8-9)
19. 'गवां कोटिप्रदानाद्यत्र्यहं स्नानस्य तत्फलम् ।
प्रयागे माघमासे तु एवमाहुर्मनीषिणः ॥
सर्वत्र सुलभा गंगा त्रिषु स्थानेषु दुर्लभा ॥' —*वही*, 111.10-11
20. *वही* (प्रयाग माहात्म्य, 111.12-13)
21. *वही* (वाराणसी माहात्म्य, 112.1)
22. *वही* (वाराणसी माहात्म्य, 112.1)
23. *वही* (वाराणसी माहात्म्य, 112.1)
24. *वही* (नर्मदा माहात्म्य, 113.1)
25. *वही* (वाराणसी माहात्म्य, 113.2)
26. *वही* (वाराणसी माहात्म्य, 112.1-2)
27. *वही* (हिंदी-अनुवाद), गीताप्रेस-संस्करण, गोरखपुर, पृ० 235-236
28. *वही* (तीर्थमाहात्म्य 109.1), हिंदी साहित्य सम्मेलन-संस्करण, प्रयाग, पृ० 403
29. *वही,* (तीर्थमाहात्म्य 109.2)
30. *वही,* (तीर्थमाहात्म्य 109.3)
31. वही, (तीर्थमाहात्म्य 109.4)
32. *वही* (तीर्थमाहात्म्य), पृ० 403

33. *स्कन्दपुराण* (काशीखण्ड, पूर्वार्ध), गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ० 727
34. *वही*
35. *नारदपुराण* (उत्तरभाग), गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ० 677, 678
36. *पद्मपुराण* (पातालखण्ड), गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ० 450
37. महामहोपाध्याय पाण्डुरंग वामन काणे, *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग 3, उत्तरप्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, पृ० 1310-11

अग्निपुराण : आत्मा, ज्ञान तथा मोक्ष-विमर्श

ठाकुर शिवलोचन शाण्डिल्य *

सी भी संस्कृति की दो प्रमुख धाराएँ होती हैं– लोक एवं शास्त्र। किसी संस्कृति में लोक का प्राधान्य देखा जाता है तो किसी में शास्त्र का। भारतीय-संस्कृति की विशेषता यह है कि यहाँ लोक और शास्त्र की धाराएँ समानान्तरभूता होकर साथ-साथ चलती हैं। इन दोनों के मध्य परस्पर आदान-प्रदान की व्यापक परम्परा परिलक्षित होती है। लोक शास्त्रों से उपादान ग्रहणकर समृद्धि प्राप्त करता है और शास्त्र विभिन्न विषयों पर लोक से उदाहरण ग्रहणकर अपने पक्ष की सम्पुष्टि करते हैं।

अदादिगण में पठित 'शास्' धातु (शासु अनुशिष्टौ) से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न 'शास्त्र' शब्द का अर्थ होता है– कर्तव्य व अकर्तव्य के विषय में शासन करनेवाला उपदेशविशेष–

'प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥'[1]

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ में उपदेश के त्रैविध्य का निबन्धन किया है– 1. प्रभुसम्मित उपदेश, 2. सुहृत्सम्मित उपदेश एवं 3. कान्तासम्मित उपदेश।

---

* शोध-छात्र, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन-केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

वेद का उपदेश प्रभुसम्मित होता है, शब्दप्रधान वेद मनुष्यों को आदिष्ट करता है। काव्य कान्तासम्मित सरस उपदेश करते हैं तथा पुराणेतिहासादि सुहृत्सम्मित उपदेश प्रदान करते हैं। जिस प्रकार कोई मित्र अपने सुहृद् को भली-भाँति समझा-बुझाकर सन्मार्ग पर प्रवृति व कुमार्ग से निवृत्ति कराता है, उसी प्रकार इतिहासपुराणादि शास्त्र भी अपने उपदेशों से मानव-समाज का उपकार करते हैं।[2]

वेदादि शास्त्रों में प्रत्येक व्यक्ति का अथवा जनसामान्य का सहज-प्रवेश सम्भव नहीं है, इन शास्त्रों के अनुशीलन हेतु अधिकारित्व की अपेक्षा होती है परन्तु पुराणों का उपदेश सर्वजनसुलभ है। वैदिक उपदेशों में निहित गूढ़ तात्पर्य का रोचक कथा-आख्यानादि के माध्यम से जनसामान्य को अवगमन कराना पुराणों का मुख्य कार्य है ।

पुराणों को भारतीय संस्कृति का एक प्रमुख अभिलक्षण माना गया है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने पुराण को 'भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड' कहा है।[3] 'पुराण' शब्द का निर्वचन करते हुए निरुक्तकार यास्क ने कहा है कि जो प्राचीन होकर भी नया होता है (**'पुरा नवं भवति'**)[4], उसकी 'पुराण' संज्ञा है। पाणिनीय *अष्टाध्यायी* की प्रक्रिया के अनुसार 'पुरा' शब्द से **'सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्य-येभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च'**[5] सूत्र द्वारा 'ट्यु' प्रत्यय करने पर नियमतः तुडागम होकर 'पुरातन' शब्द निष्पन्न होता है, परन्तु निपातनात् तुडागम का अभाव प्राप्त होकर यहाँ 'पुराण' शब्द सिद्ध होता है। स्वयं पाणिनि ने भी **'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु'**[6] आदि सूत्रों में 'पुराण' शब्द का प्रयोग किया है। 'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए *ब्रह्माण्डपुराण* में कहा गया है कि जो ऐसी जानकारी दे कि 'प्राचीन काल में ऐसा हुआ' (**पुरा ह्यभूच्चैतत्**)[7], उसे पुराण कहा गया है।[8]

पुराणों का प्रमुख प्रतिपाद्य बताते हुए *महाभारत* में कहा गया है कि पुराण में दिव्य कथाओं का और बुद्धिमानों के आदिवंशों का वर्णन रहता है—

'पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम् ।
कथ्यन्ते ये पुरास्माभिः श्रुतपूर्वाः पितुस्तव ॥'[9]

पुराणों के प्रतिपाद्यों की पञ्चलक्षणों के अंतर्गत परिगणना की गयी है सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित—

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ।।'[10]

विभिन्न काव्यों व शास्त्रों में पुराणों की महत्ता का उल्लेख किया गया है। *महाभारत* में कहा गया है कि श्रेष्ठ कवियों द्वारा पुराणों में आस्तिक्य, सत्य, शौच, दया व सरलता-जैसे गुणों का वर्णन किया गया है तथा उसका आश्रय लेकर ही विद्वज्जन लोक में इन गुणों का उपदेश करते हैं—

'माहात्म्यमपि चास्तिक्यं सत्यं शौचं दयार्जवम् ।
विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः ।।'[11]

भारतीय-वाङ्मय-परम्परा में पुराणों का महत्त्व इस तथ्य से भी स्पष्ट होता है कि इस विद्या की परिगणना चतुर्दश विद्यास्थानों में की गयी है—

'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।।'[12]

महाभारत में कहा गया है कि पुराणरूपी पूर्णचन्द्र श्रुतिरूपा ज्योत्स्ना का प्रसार करता है, इससे सङ्केत किया गया है कि पुराण वेदविहित श्रुति के अर्थ का लोक में प्रसार करते हैं—

'पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्ना प्रकाशिता'[13]

पुराणेतिहास के माहात्म्य के रूप में *महाभारत* की यह उक्ति भी प्रसिद्ध है कि इतिहास और पुराण के माध्यम से वेद का सम्यक् उपबृंहण करना चाहिये, अल्पश्रुत व्यक्ति से वेद भी डरता है कि यह मेरे स्वरूप व तात्पर्य की हानि कर देगा—

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।।'[14]

'पुरणात् पुराणम्'— इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेदार्थों की पूर्ति करने के कारण इन ग्रन्थों की पुराण संज्ञा हुई है। *मार्कण्डेयपुराण* में वर्णित है कि वेद के समान ही पुराण भी सृष्टि के प्रारम्भ से ही विद्यमान थे, जिस प्रकार ऋषियों ने वेद का ग्रहण किया उसी प्रकार मुनियों ने पुराण का—

'उत्पन्नमात्रस्य पुरा ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ।
पुराणमेतद्वेदाश्च मुखेभ्योऽनुविनिःसृता ।।

वेदान् सप्तर्षयस्तस्माज्जगृहुस्तस्य मानसाः ।
पुराणं जगृहुश्चाद्या मुनयस्तस्य मानसाः ॥'[15]

पुराणों को यद्यपि ब्रह्मा के मुख से निःसृत माना गया है तथापि पुराणरूपी इस विद्या को सुव्यवस्थितरूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय कृष्णद्वैपायन व्यास जी को प्राप्त है।

अष्टादश पुराणों में *अग्निपुराण* का विशेष महत्त्व है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इसे 'भारतीय-विद्याओं का विश्वकोश' कहा है।[17] *अग्निपुराण* में कुल 383 अध्याय हैं। *अग्निपुराण* में अग्निदेव ने ईशान कल्प का वर्णन महर्षि वसिष्ठ से किया है। इसमें पन्द्रह हज़ार श्लोक हैं, इसके वर्ण्यों में पहले पुराण विषय के प्रश्न हैं फिर अवतारों की कथा कही गयी है, तदनन्तर सृष्टि का विवरण और विष्णुपूजा का वृत्तांत है। इसके बाद अग्निकार्य, मन्त्र, मुद्रादि लक्षण, सर्वदीक्षा विधा और अभिषेक निरूपण है। इसके बाद मंडल का लक्षण, कुशामापार्जन, पवित्ररोपण विधि, देवालय विधि, शालग्राम की पूजा और मूर्तियों का अलग अलग विवरण है। तत्पश्चात् न्यास आदि का विधान प्रतिष्ठा पूर्तकर्म, विनायक आदि का पूजन, नाना प्रकार की दीक्षाओं की विधि, सर्वदेव प्रतिष्ठा, ब्रह्माण्ड का वर्णन, गंगादि तीर्थों का माहात्म्य, द्वीप और वर्ष का वर्णन, ऊपर और नीचे के लोकों की रचना, ज्योतिष्चक्र का निरूपण, ज्योतिषशास्त्र, युद्धजयार्णव, षट्कर्म मंत्र, यंत्र, ओषधिसमूह, कुब्जिकाादि की पूजा, छः प्रकार की न्यास-विधि, कोटिहोम विधि, मन्वन्तर-निरूपण, ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के धर्म, श्राद्धकल्प विधि, ग्रह यज्ञ, श्रौतस्मार्त कर्म, प्रायश्चित्त-वर्णन, तिथि-व्रतादि का वर्णन, वार व्रत का कथन, नक्षत्र व्रत विधि का प्रतिपादन, मासिक व्रत का निर्देश, उत्तम दीपदान विधि, नवव्यूहपूजन, नरक-निरूपण, व्रतों और दानों की विधि, नाड़ी-चक्र का संक्षिप्त विवरण, संध्या की उत्तम विधि, गायत्री के अर्थ का निर्देश, लिंगस्तोत्र, राज्याभिषेक के मंत्र, राजाओं के धार्मिक कृत्य, स्वप्न-संबंधी विचार, शकुन आदि का निरूपण, मण्डल आदि का निर्देश, रत्न दीक्षा विधि, रामोक्त नीति का वर्णन, रत्नों के लक्षण, धनुर्विद्या, व्यवहार दर्शन, देवासुर संग्राम की कथा, आयुर्वेद-निरूपण, गज आदि की चिकित्सा, उनके रोगों की शान्ति, गो-चिकित्सा, मनुष्यादि की चिकित्सा, नाना प्रकार की पूजा-पद्धति, विविध प्रकार की शान्ति, छंदशास्त्र, साहित्य, एकाक्षर, आदि कोष, प्रलय का लक्षण, शारीरकशास्त्र का निरूपण, योगशास्त्र, ब्रह्मज्ञान तथा पुराण-श्रवण का फल बताया गया है। इस प्रकार *अग्निपुराण* में प्रायः सभी विद्याओं का निबन्धन किया गया है। इसी अर्थ में इसे

भारतीय विद्याओं का विश्वकोश कहा जाता है। स्वयं *अग्निपुराण* में भी कहा गया है कि इससे अधिक दुर्लभ वस्तु इस पृथ्वी पर कोई अन्य नहीं है, इस पुराण में समस्त विद्याएँ प्रदर्शित की गयी हैं–

'नास्मात्परतरं भूमौ विद्यते वस्तु दुर्लभम् ।
आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वविद्याः प्रदर्शिताः ॥'[18]

अग्निपुराण में आत्मा, ज्ञान तथा मोक्ष के स्वरूप के विषय में विशद चर्चा की गयी है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही विद्या के स्वरूप एवं प्रकार का निरूपण किया गया है। सर्वप्रथम 'परा' और 'अपरा' नामक दो विद्याओं के स्वरूप की चर्चा की गयी है।[19] कर्मकाण्ड का प्रधानता से विवेचन करने के बाद भी *अग्निपुराण* में ज्ञान के स्वरूप एवं महत्त्व के विषय में यथेष्ट उपदेश किया गया है। ज्ञान व आत्मा के स्वरूप के उपस्थापन में *अग्निपुराण* का मत अद्वैत-वेदान्तमत के सन्निकट प्रतीत होता है। इस पुराण के 376वें से 378वें अध्याय में ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया गया है, 379वाँ अध्याय विशेषरूप से अद्वैत-वेदान्त के सिद्धान्तों पर संकेन्द्रित है तथा 380वें अध्याय में गीतासार का वर्णन किया गया है। इन अध्यायों में आत्मा, ज्ञान तथा मोक्ष के स्वरूप का तात्त्विक विवेचन प्राप्त होता है।

ज्ञान का क्षेत्र असीम माना गया है। सभी विद्याएँ ज्ञानस्वरूपा ही हैं, *अग्निपुराण* भी स्वयं को सर्वोत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप घोषित करता है।[20] अद्वैतवेदांत एकमेवाद्वितीय ब्रह्म को मानता है तथा उसे शुद्ध व अभिन्न आत्मस्वरूप बताता है। अद्वैतियों के अनुसार आत्मा ज्ञानस्वरूप अथवा चैतन्यस्वरूप है। चूँकि वेदांत उपनिषदों की प्रामाणिकता पर आधारित दर्शन है, अतः अपने मत की सम्पुष्टि के लिये वह **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'**[21] तथा **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**[22] आदि श्रुतियों का उल्लेख करता है।

अद्वैत मत में चैतन्य अथवा ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, गुण अथवा धर्म नहीं। *बृहदारण्यकोपनिषद्* (1.4.10) के भाष्य में आद्य शंकराचार्य कहते हैं कि 'जैसे उष्णता अग्नि का स्वरूप है वैसे ही ज्ञान आत्मा का स्वरूप है।' आत्मा और ज्ञान परस्पर अभिन्न हैं। यह अभिन्नता मात्र तर्क द्वारा ही सिद्ध नहीं होती अपितु अनुभव द्वारा सत्यापित एवं श्रुतियों द्वारा प्रमाणित होती है ।

आत्मा, ज्ञान और मोक्ष– इन तीनों तत्त्वों का परस्पर घनिष्ठ संबंध है। *अग्निपुराण* के 377वें अध्याय में अग्निदेव ने कहा है कि "अब मैं अज्ञानजन्य संसार

के बन्धन से मुक्ति प्राप्त कराने हेतु ब्रह्मज्ञान का उपदेश करूँगा।" ब्रह्मज्ञान का तात्पर्य आत्मज्ञान से है, अग्निदेव कहते हैं कि "यह आत्मा ही ब्रह्म है और वह मैं ही हूँ, ऐसा चिन्तन करने वाला व्यक्ति मुक्त हो जाता है"–

'ब्रह्मज्ञानं प्रवक्ष्यामि संसाराज्ञानमुक्तये ।
अयमात्मा परं ब्रह्म अहमस्मीति मुच्यते ॥'[23]

उपर्युक्त उपदेश की *बृहदारण्यकोपनिषद्* व *माण्डूक्योपनिषद्* के महावाक्य **'अयमात्मा ब्रह्म'**[24] तथा *शतपथब्राह्मण* के महावाक्य **'अहं ब्रह्मास्मि'**[25] से तुलना उल्लेखनीय है। पुनः आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए *अग्निपुराण* में कहा गया है कि आत्मा देह और इन्द्रियादि से व्यतिरिक्त सद्रूप है। आत्मा-जैसे गूढ़ तत्त्व का स्वरूप बताने के लिए भारतीय-वाङ्मय में अनेक स्थलों पर **'नेति नेति'**[26] की प्रविधि का अवलम्बन किया गया है। 'आत्मा क्या है?'– इसे बताने के लिए *अग्निपुराण* में भी पहले यह उपदेश किया गया है कि 'आत्मा क्या नहीं है' *अग्निपुराण* में कहा गया है कि आत्मा घटादि के समान चक्षुगोचर नहीं है, देह को आत्मा नहीं माना जा सकता क्योंकि यह घटादि के समान दृश्य होता है। सुषुप्ति की अवस्था में व मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा का अस्तित्व होना यह सिद्ध करता है कि आत्मा निश्चय ही शरीर से भिन्न है।[27] *अग्निपुराण* में तर्क दिया गया है कि यदि देह को आत्मा मान लिया जाए, तब तो मृत्यु के पश्चात् भी देह को अविकृत व सजीववत् बना रहना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता। शरीर के समान ही चक्षुरादि इन्द्रियों को भी आत्मा नहीं माना जा सकता।[28] आत्मा कर्ता होता है जबकि चक्षुरादि इन्द्रियाँ तो करण हैं, अतः इन्द्रियों को भी आत्मा नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार प्राण को भी आत्मा नहीं माना जा सकता है, आत्मा तो शुद्धज्ञानस्वरूप व नित्यचैतन्यस्वरूप है जबकि प्राण पर सुषुप्तिकाल में अचित् का प्रभाव होता है; जाग्रतावस्था तथा स्वप्नावस्था में तो चैतन्य से मिश्रित होने के कारण प्राण भी तद्वत् प्रतीत होता है परन्तु सुषुप्ति की अवस्था में वह चैतन्य से विरहित ही सिद्ध होता है, अतः प्राण भी आत्मा नहीं है। अंतःकरण भी आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा तो कर्ता होता है।[29] ध्यातव्य है कि अद्वैतमत में अंतःकरण अथवा मनस् को तो एक ही माना गया है; परन्तु वृत्तिभेद से यह मनस्, बुद्धि और अहंकार के रूप में व्यपदिष्ट होता है–

'मनस्त्वेकमनेकवृत्तिकम्'

इस प्रकार *अग्निपुराण* यह स्थापित करता है कि शरीर, इन्द्रिय, अंतःकरण

व प्राण में से कोई भी आत्मा नहीं है, परन्तु यह सभी आत्मा के हैं; आत्मा शरीर नहीं अपितु शरीरी है।[30] *अग्निपुराण* के अनुसार आत्मा सभी जीवों के हृत्-प्रदेश में स्थित होता है, यह आत्मा ही द्रष्टा तथा भोक्ता है। यह आत्मा प्रकाशस्वरूप है, जिस प्रकार प्रदीप रात्रि के समय अन्धकार का शमन कर वस्तुओं को प्रकाशित करता है उसी प्रकार यह ज्ञानरूप स्वयंप्रकाश आत्मा अज्ञानरूपी अन्धकारमय जगत् को प्रकाशित करता है।[31] आत्मा ही ब्रह्म है और वही समस्त जगत् का उपादान कारण है। स्थूल एवं सूक्ष्म– दोनों प्रकार के शरीरों का कारण एक ही आत्मा है, वह शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरवयव और साक्षी है। *अग्निपुराण* में निर्दिष्ट है कि चैतन्य जब आभास से युक्त हो जाता है तब इस प्रकार के ज्ञान को अध्याहृत ज्ञान कहा जाता है।[32] आत्मा शुद्ध, अक्षर, शान्त, निर्गुण तथा प्रकृति से परे है। आत्मा में वृद्धि अथवा ह्रास नहीं होता, वह अविकारी है। वह नित्य, अद्वय एवं विभु है तथा समस्त जीवों में व्याप्त है।[33]

आत्मा परमार्थतः शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, परन्तु यह चैतन्य जब आभास से युक्त हो जाता है तो घट-पटादि की प्रतीति होने लगती है। जिस प्रकार असर्पभूता रज्जु में सर्प का अध्यास होता है उसी प्रकार अविद्या के कारण शुद्ध अविकारी चैतन्य में भी घट-पटाकारों का आभास होने लगता है। यह संसार परमार्थतः अविद्या के कारण ही प्रतीत होता है, अद्वैतवेदान्त में इसे आभासवाद, प्रतिबिम्बवाद व अवच्छेदवाद के माध्यम से व्याख्यायित किया गया है। आत्मा की ज्ञानरूपता तो वस्तुतः अनिवार्य ही है। आत्मा एवं ज्ञान की अभिन्नता का प्रतिपादन करते हुए विद्यारण्य स्वामी अपने ग्रन्थ *'विवरणप्रमेयसंग्रह'* में कहते हैं कि जैसे सूर्य व प्रकाश में अभेद है वैसे ही आत्मा व अनुभव में भी अभेद है। यदि आत्मा की सिद्धि अनुभव के अधीन मानी जाये तो वह भी घट-पटादि के समान अनात्मा होकर रह जायेगा।[34] अद्वैत मत में ज्ञान शब्द द्विविध अर्थों में प्रयुक्त होता है आत्मा का स्वरूपभूत नित्य ज्ञान और घट-पटादि का अनित्य ज्ञान। आद्य शंकराचार्य प्रथम को लौकिक और द्वितीय को पारमार्थिक बताते हैं–

'दृष्टिरिति द्विविधा भवति लौकिकी पारमार्थिकी चेति तत्र लौकिकी चक्षुःसंयुक्ता अन्तःकरणवृत्तिः सा क्रियत इति जायते विनश्यति च या त्वात्मनोः दृष्टि अग्न्युष्णप्रकाशादिवत् सा च द्रष्टुः स्वरूपत्वान्न जायते न विनश्यति च'[35]

इस प्रकार सुख-दुःख, इच्छा-द्वेषादि तथा घट-पटादि का अनित्य ज्ञान

लौकिकी अर्थात् वृत्तिज्ञान है, जबकि इनको प्रकाशित करनेवाला इनका साक्षी चैतन्यस्वरूप आत्मा स्वयंप्रकाश व साक्षात् अपरोक्ष है। घट, पटादि के अनित्य विज्ञान वस्तुतः घटाकारित, पटाकारित बुद्धिवृत्तियाँ मात्र हैं जो स्वरूपतः अचेतन हैं परन्तु चेतना के उपराग से चेतनवत् प्रतीत होती हैं। नित्य ज्ञान इनका अधिष्ठान व ग्राहक होता है।[36] यह चेतना ही आत्मा या परमतत्त्व ब्रह्म है तथा यही स्वरूपार्थ में संवित् या ज्ञान है। यह ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वतःसंवेद्य है। यह सभी वृत्तियों व अनुभवों का पूर्ववर्ती है। यह सभी विषयों का अधिष्ठान है, स्वयं विषयरूप नहीं है। यह प्रतिबोधविदित तत्त्व है तथा प्रत्यक्चैतन्य में अन्तःसन्निविष्ट है। आत्मा के स्वरूपभूत चैतन्य या ज्ञान के स्वरूप को समझाने के लिये अद्वैतवेदांत में प्रकाश के उपमा की सहायता ली गयी है। शंकराचार्य *केनोपनिषद्* के पद-भाष्य में स्पष्ट करते हैं कि 'जिस प्रकार प्रदीप को प्रकाशित होने के लिये अन्य किसी प्रदीप की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा या ज्ञान को भी प्रकाशित होने के लिये किसी ज्ञानान्तर रूप प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती। वह तो स्वरूपतः स्वयंप्रकाश है।'[37]

आत्मज्ञान अथवा स्वरूपज्ञान ही मोक्ष का हेतु है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष– ये चार पुरुषार्थ कहे गये हैं। इन चारों में से प्रथम तीन साधन हैं तथा मोक्ष इनका साध्य है, अतएव मोक्ष को परमपुरुषार्थ की संज्ञा दी गयी है। *अग्निपुराण* मोक्षप्राप्ति के मार्ग के उपदेश में भी अद्वैतमत का आश्रय लेता है। *अग्निपुराण* उपदेश करता है कि तत्त्वतः ब्रह्म से व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं है, संसार की प्रतीति अविद्या के कारण होती है। ब्रह्मज्ञान किंवा आत्मज्ञान से इस अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है और वह निवृत्तात्मा मुक्त हो जाता है। *अग्निपुराण* के 380वें अध्याय में सौवीर नरेश तथा ब्राह्मणपुत्र जड़भरत की कथा के माध्यम से उपदेश किया गया है कि संसार का प्रयोजन कर्मों के फल-भोग हेतु है, धर्माधर्मजन्य सुख-दुःख को भोगने के लिये ही जीव किसी भी देश अथवा शरीर को प्राप्त करता है।[38]

अग्निपुराण के 379वें अध्याय में अग्निदेव ने स्वयं वसिष्ठ जी को उपदेश किया है कि व्यक्ति ज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करता है। यहाँ मनुष्य की पञ्चविध-गतियों का उपदेश करते हुए कहा गया है कि 'मनुष्य यज्ञ के द्वारा देवताओं को, तपस्या के द्वारा विराट्-पद को, कर्म-संन्यास के द्वारा ब्रह्मपद को, त्याग के द्वारा प्रकृति में लय को तथा ज्ञान के द्वारा कैवल्य को प्राप्त करता है'।[39]

चूँकि यह स्पष्ट है कि संसाररूपी बन्ध का कारण अविद्या अथवा अज्ञान

को माना गया है, ज्ञान इसी अज्ञान का शमन कर बन्धन से मुक्त कराता है, अतः सर्वप्रथम अज्ञान का स्वरूप जान लेना अपेक्षित है। अद्वैतियों की स्थापना है कि शुद्धज्ञानस्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् की वस्तुसत्ता नहीं है। परमार्थतः सच्चिदानन्तानन्दाद्वय ब्रह्म ही वस्तु है तद्भिन्न सभी अवस्तु ही हैं। लेकिन घट-पटादि की व्यावहारिक सत्ता का निषेध भी नहीं किया गया है। अज्ञान के कारण ही हमें जगत् की भेदात्मक प्रतीति होती है। अज्ञान को पारिभाषित करते हुए अद्वैतवेदांत में इसे सदसदनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मक ज्ञानविरोधी भावरूप बताया गया है।[40]

अग्निपुराण में कहा गया है कि अनात्मा में जो आत्मबुद्धि होती है तथा अस्व में जो स्वबुद्धि होती है वही अज्ञान है तथा यही अज्ञान समस्त सांसारिक बन्धनों का कारण है। देहाभिमानी जीव अज्ञानान्धकार से आच्छन्न होने के कारण देह में आत्मबुद्धि का अध्यास करके 'मैं देह ही हूँ'– इस रूप से देह को ही आत्मा मानने लगता है, इसी प्रकार अपने देह से उत्पन्न पुत्र-पौत्रादि में ममता को सुदृढ़ कर लेता है और सांसारिक कर्म-बन्धनों में आबद्ध होता चला जाता है।[41]

ज्ञान का स्वरूप बताते हुए *अग्निपुराण* कहता है कि 'स्वयं को चेतन एवं अचेतन वस्तुओं से भिन्न जानना ही ज्ञान है।'[42] परमात्मा ही सबका आधार है, वही श्रुतियों में विष्णु के नाम से प्रतिष्ठित है। प्रवृत्तिमार्गी लोग यज्ञों के द्वारा उसकी प्राप्ति का प्रयास करते हैं तथा निवृत्तिमार्गी लोग ज्ञान के द्वारा उसका साक्षात्कार करते हैं। समस्त ह्रस्वदीर्घप्लुतात्मकवचन उसी परमात्मा के वचन हैं।[43] परमात्मा की प्राप्ति के दो मार्ग बताए गए हैं– ज्ञानयोग तथा कर्मयोग। ज्ञान भी द्विविध कहा गया है– आगमोक्तज्ञान तथा विवेकख्याति। इनमें से शब्दब्रह्म का ज्ञान आगमोक्त है तथा परब्रह्म का ज्ञान विवेकख्यातिजन्य ज्ञान है।[44]

विद्वान् मनुष्य समस्त जीवों के उपकार के लिये कर्मों को करता है और ममत्वादि बन्धनों में नहीं पड़ता।[45] *अग्निपुराण* यह उपदेश करता है कि सुख-दुःखादि धर्म आत्मा के नहीं अपितु प्रकृति के हैं– **'दुःखज्ञानमयोऽधर्मः प्रकृतेः स तु नात्मनः।'**[46] आत्मा तो वस्तुतः शान्त, निर्वाणमय, ज्ञानमय व निर्मल है, बन्धन का कारण तो देह के द्वारा किये जानेवाले कर्म ही हैं।[47] जिस प्रकार जल स्वभावतः शीतस्पर्शवान् होने बाद भी अग्नि के संसर्ग से उष्ण प्रतीत होने लगता है, उसी प्रकार जीव भी प्रकृति के संसर्ग से अहंकार तथा ममकार आदि दोषों से सम्पृक्त होकर बद्धवत् प्रतीत होने लगता है। वह प्रकृति के धर्मों को अपना लेता है जबकि वह

तत्त्वतः प्राकृत धर्मों से पृथक् तथा निर्विकार है। विषयों में आकृष्ट मनस् बन्ध का कारण होता है और यही मनस् जब विषयों से विरक्त हो जाता है, तब वह मोक्ष की प्राप्ति हेतु विवेकख्याति का साधन बन जाता है।[48]

इस प्रकार बन्ध व मोक्ष के कारणों का व्याख्यान करने के पश्चात् मोक्षप्राप्ति के उपाय का उपदेश करते हुए *अग्निपुराण* में कहा गया है कि मनस् को समस्त प्राकृत विषयों से हटाकर ब्रह्मस्वरूप श्रीहरि का ध्यान करना चाहिये। जिस प्रकार चुम्बक लोहे को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी अपने स्मरण करनेवाले को ब्रह्मस्वरूप बना देता है।[49] ऐसे व्यक्ति के मनस् की जो विशिष्ट गति होती है, उसके ब्रह्म से संयोग को ही योग कहा जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जीवात्मा का परमात्मा से संयोग ही योग है और इसके लिये व्यक्ति को अपने मनस् को विषयों से विरक्तकर ब्रह्म में लगाने का उद्योगमात्र करना होता है। जो स्थिरभाव से ब्रह्म में समाधिस्थ होता है उसे परंब्रह्म की प्राप्ति होती है।[50] अतः यम, नियम, प्राणायाम तथा प्रत्याहार के द्वारा प्राण एवं इन्द्रियों को वशीभूत करके मनस् को ब्रह्मरूपी शुभाश्रय में स्थिर करना चाहिये। मनस् का शुभाश्रयभूत ब्रह्म द्विविध होता है– मूर्त ब्रह्म व अमूर्त ब्रह्म।[51] ब्रह्मस्वरूप श्रीविष्णु तो वस्तुतः अपने उत्कृष्ट स्वरूप में रूपादि से रहित, अजन्मा और अविनाशी हैं परन्तु प्रारम्भ में ही अमूर्तरूप का ध्यान करना प्रायः कठिन अथवा दुःसाध्य होता है अतः पहले मूर्त आदि का ही ध्यान करना चाहिये।[52] इस प्रकार ब्रह्म का ध्यान करनेवाला मनुष्य भगवद्भाव को प्राप्तकर परमात्मा के साथ एकीभूत हो जाता है (**'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'**[53]), भेदादि की प्रतीति तो अज्ञान के कारण होती है।[54]

जहाँ समस्त भेदादि प्रत्यस्तमित हो जाते हैं, जो सत्तामात्र है तथा वाणी से गम्य नहीं है तथा स्वात्मनुभूत्यैकमात्रगम्यमान है, उस ज्ञान की ही 'ब्रह्म' संज्ञा कही गई है।[55] *अग्निपुराण* में उपदिष्ट है कि सर्वदा वेदाध्ययन, निष्कामयज्ञ, ब्रह्मचर्य, तपस्या, शम-दम, श्रद्धा, उपवास तथा सत्यभाषण– ये आत्मज्ञान की प्राप्ति के सहकारी साधन हैं।[56] *अग्निपुराण* उपदेश करता है कि हृदयाकाश में दीपक के समान प्रकाशमान ब्रह्म का सर्वदा ध्यान करनेवाला जीव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[57] न्यायपूर्वक धनोपार्जन करनेवाला, तत्त्वज्ञान में स्थित, अतिथिप्रिय, श्राद्ध करनेवाला तथा सत्यभाषण करनेवाला गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि *अग्निपुराण* में आत्मा, ज्ञान तथा मोक्ष के

विषय में गहन चिन्तन व विशद विवेचन किया गया है। निश्चय ही इन विचारों पर अद्वैतवेदांतमत का प्रभाव परिलक्षित होता है परन्तु कुछ स्थलों पर धर्मशास्त्रीय प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है।

सन्दर्भ :

1. *श्लोकवार्तिक*, शब्दपरिच्छेद, 4
2. **'प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशब्देभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च..... ।'** –*काव्यप्रकाश*, 1.2 स्वोपज्ञवृत्ति
3. 'भारतीय संस्कृति के स्वरूप की जानकारी के लिए पुराण के अध्ययन की महती आवश्यकता है। पुराण भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड हैं। पुराण वह आधारपीठ हैं, जिसपर आधुनिक भारतीय-समाज अपने नियमन को प्रतिष्ठित करता है।' –उपाध्याय, बलदेव, *पुराण-विमर्श*, पृ० 3
4. *निरुक्त*, 3.19
5. *पाणिनीय अष्टाध्यायी*, 4.3.23
6. *वही*, 4.3.105
7. **'यस्मात् पुरा ह्यभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम्।'** –*ब्रह्माण्डपुराण*, 1.1.173
8. देखें : उपाध्याय, बलदेव, *पुराण-विमर्श*, पृ० 3-5
9. *महाभारत*, आदिपर्व, 5.2
10. *विष्णुपुराण*, 3.6.24
11. *महाभारत*, आदिपर्व, 1.240
12. *याज्ञवल्क्यस्मृति*, आचाराध्याय, 3
13. *महाभारत*, आदिपर्व, 1.86
14. *वही*, आदिपर्व, 1.264
15. *मार्कण्डेयपुराण*, 45.20,23
16. *देवीभागवतपुराण*, 1.3.21
17. 'इस पुराण को यदि समस्त भारतीय विद्याओं का विश्वकोश कहें तो किसी प्रकार अत्युक्ति न होगी। इन पुराणों का उद्देश्य जनसाधारण में ज्ञातव्य विद्याओं का प्रचार करना भी था, इसका पूरा परिचय हमें इस पुराण के अनुशीलन से मिलता है।' –उपाध्याय, बलदेव, *पुराण-विमर्श*, पृ० 151
18. *अग्निपुराण*, 383.51
19. **'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।**
    द्वे विद्ये वेदितव्ये इति चाथर्वणी श्रुतिः ॥' –*वही*, 1.5
20. **'पुराणं परमाग्नेयं ब्रह्मविद्याक्षरं परम्।**
    ऋग्वेदाद्यपरं ब्रह्म सर्वदेवसुखं परम् ॥' –*वही*, 1.9

21. *बृहदारण्यकोपनिषद्*, 3.9.27
22. *तैत्तिरीयोपनिषद्*, 2.1.1
23. *अग्निपुराण*, 377.1
24. **'अयमात्मा ब्रह्म'** —*बृहदारण्यकोपनिषद्*, 2.5.19
'सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्' —*माण्डूक्योपनिषद्*, 2
25. *शतपथब्राह्मण*, 4.3.2.21
26. *बृहदारण्यकोपनिषद्*, 4.4.22
27. **'देह आत्मा न भवति दृश्यत्वाच्च घटादिवत् ।**
प्रसुप्ते मरणे देहादात्माऽन्यो ज्ञायते ध्रुवम् ॥' —*अग्निपुराण*, 377.2
28. **'देहः स चेत् व्यवहरेदविकार्यादिसन्निभः ।**
चक्षुरादीनीन्द्रियाणि नात्मा वै करणं त्वतः ॥' —*वही*, 377.3
29. **'मनो धीरपि आत्मा न दीपवत् करणं त्वतः ।**
प्राणोऽप्यात्मा न भवति सुषुप्तेऽचित्प्रभावतः ॥
जाग्रत्स्वप्ने च चैतन्यं संकीर्णत्वान्न बुध्यते ।
विज्ञानरहितः प्राणः सुषुप्ते ज्ञायते यतः ॥' —*वही*, 377.4-5
30. **'अतो नात्मेन्द्रियं तस्मादिन्द्रियादिकमात्मनः ।**
अहंकारोऽपि नैवात्मा देहवद् व्यभिचारतः ॥' —*वही*, 377.6
31. **'उक्तेभ्यो व्यतिरिक्तोऽयमात्मा सर्वहृदि स्थितः ।**
सर्वद्रष्टा च भोक्ता च नक्तमुज्ज्वलदीपवत् ॥' —*वही*, 377.7
32. **'स्थूलसूक्ष्मशरीराख्यद्वयस्यैकं हि कारणम् ।**
आत्मा ज्ञानं च साभासं तदध्याहृतमुच्यते ॥' —*वही*, 377.15
33. **'आत्मा शुद्धोऽक्षरः शान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।**
प्रवृद्धयपचयौ नास्य एकस्याखिलजन्तुषु ॥' —*वही*, 380.13
34. *विवरणप्रमेयसंग्रह*, पृ० 200
35. *बृहदारण्यकोपनिषद्*, शाङ्करभाष्य, 3.4.2
36. **'नित्या आत्मनो दृष्टिर्बाह्यानित्यदृष्टेर्ग्राहिका'** —*ऐतरेयोपनिषद्*, शाङ्करभाष्य, 2.1
37. **'संवेदनस्वरूपत्वात्संवेदनान्तरापेक्षा च न सम्भवति, यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरापेक्षाया न संभवस्तद्वत्'** —*केनोपनिषद्*, शाङ्करभाष्य, 2.4
38. **'श्रूयतां कोऽहमित्येतद् वक्तुं नैव शक्यते ।**
उपभोगनिमित्तञ्च सर्वत्रागमनक्रिया ॥
सुखदुःखोपभोगौ तु तौ देशाद्युपपादकौ ।
धर्माधर्मोद्भवौ भोक्तुं जन्तुदेशादिमृच्छति ॥' —*अग्निपुराण*, 380.20-21
39. **'यज्ञैश्च देवानाप्नोति वैराजं तपसा पदम् ।**
ब्रह्मणः कर्मसंन्यासाद् वैराग्यात् प्रकृतौ लयम् ॥

ज्ञानात् प्राप्नोति कैवल्यं पञ्चैता गतयः स्मृताः ।' —*वही*, 379.1-2

40. 'अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधिभावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात्, 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यादिश्रुतेश्च' —*वेदांतसार*, पृ० 40

41. 'अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या अस्वेस्वमिति या मतिः ।
अविद्याभवसम्भूतिर्वीजमेतद् द्विधा स्थितम् ॥
पञ्चभूतात्मके देहे देही मोहनमाश्रितः ॥
अहमेतदितीत्युच्चैः कुरुते कुमतिर्मतिम् ।
इत्थञ्च पुत्रपौत्रेषु तद्देहोत्पतितेषु च ॥' —*अग्निपुराण*, 379.15-17

42. 'चेतनाचेतनान्यत्वज्ञानेन ज्ञानमुच्यते ।
परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः ॥' —*वही*, 379.4

43. 'विष्णुनाम्ना च वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते ।
यज्ञेश्वरो यज्ञपुमान् प्रवृत्तैरिज्यते ह्यसौ ॥
निवृत्तैर्ज्ञानयोगेन ज्ञानमूर्तिः स चेक्ष्यते ।
ह्रस्वदीर्घप्लुताद्यन्तु वचस्तत्पुरुषोत्तमः ॥' —*वही*, 379.5-6

44. 'तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानञ्च कर्म चोक्तं महामुने ।
आगमोक्तं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तथोच्यते ॥
शब्दब्रह्मागममयं परं ब्रह्म विवेकजम् ।
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये ब्रह्मशब्दपरञ्च यत् ॥' —*वही*, 379.7-8

45. 'करोति पण्डितः साम्यमनात्मनि कलेवरे ।
सर्वदेहोपकाराय कुरुते कर्म मानवः ॥' —*वही*, 379.18

46. *वही*, 379.20

47. 'देहश्चान्यो यदा पुंसस्तदा बन्धाय तत्परम् ।
निर्वाणमय एवायमात्मा ज्ञानमयोऽमलः ॥' —*वही*, 379.19

48. 'शब्दास्ते कादिका धर्मास्तत् कृता वै महामुने ।
तथात्मा प्रकृतौ संगादहंमानादिभूषितः ॥
भजते प्राकृतवान् धर्मान् अन्यस्तेभ्यो हि सोऽव्ययः ।
बन्धाय विषयासंगं मनो निर्विषयं धिये ॥' —*वही*, 379.21-22

49. 'विषयात् तत् संभाष्य ब्रह्मभूतं हरिं स्मरेत् ।
आत्मभावं नयत्येनं तद्ब्रह्म ध्यायिनं मुने ॥
विचार्य स्वात्मनः शक्त्या लौहमाकर्षको यथा ।
आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः ॥' —*वही*, 379.23-24

50. 'तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ।
विनिष्पन्दः समाधिस्थः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥' —*वही*, 379.25

51. 'यमैः सनियमैः स्थित्या प्रत्याहृत्या मरुज्जयैः ।
प्राणायामेन पवनैः प्रत्याहारेण चेन्द्रियैः ॥
वशीकृतैस्ततः कुर्य्यात् स्थितं चेतः शुभाश्रये ।
आश्रयश्चेतसो ब्रह्म मूर्त्तञ्चामूर्त्तकं द्विधा ॥' —*वही*, 379.26-27

52. 'तच्च विष्णोः परं रूपमरूपस्याजमक्षरम् ।
अशक्यं प्रथमं ध्यातुमतोमूर्त्तादिचिन्तयेत् ॥' —*वही*, 379.31

53. 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति ।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ।'
—*मुण्डकोपनिषद्*, 3.2.9

54. 'भगवद्भावमापन्नस्ततोऽसौ परमात्मना ।
भवत्यभेदो भेदश्च तस्याज्ञानतो भवेत् ॥' —*अग्निपुराण*, 379.32

55. 'प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम् ॥' —*वही*, 379.30

56. 'वेदानुवचनं यज्ञा ब्रह्मचर्यं तपो दमः ।
श्रद्धोपवासः सत्यत्वमात्मनो ज्ञानहेतवः ।
स त्वाश्रमैर्निदिध्यास्यः समस्तैरेवमेव तु ॥' —*वही*, 376.35-36

57. 'हृदये दीपवद् ब्रह्म ध्यानाज्जीवोऽमृतो भवेत् ।
न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥' —*वही*, 379.43-44

अग्निपुराण : काव्यशास्त्रीय गुणविचार :

मणिशंकर द्विवेदी *

यदि सम्पूर्ण चराचर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का तथा मानव-जाति के आदिम इतिवृत्त का प्रामाणिक एवं सुष्पष्ट दिग्दर्शन करना हो तो पुराणों का कोई विकल्प नहीं है। **'पूरणात् पुराणम्'**— इस व्युत्पत्ति के अनुसार पुराणों से ही वेदार्थ का पूरण होता है। चूँकि वेद भारतीय संस्कृति के उत्स हैं तथा वेदार्थ की पूर्ति पुराणों से होती है, अतः पुराण-साहित्य भी भारतीय संस्कृति का अप्रतिम स्रोत है। पुराणों को भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड कहा जाता है, क्योंकि भारतीय संस्कृति इनमें अविकल रूप में प्राप्त होती है। पुराण सम्पूर्ण भारतीय जीवन-पद्धति, वर्णाश्रम-व्यवस्था, आचार-विचार तथा ज्ञान-विज्ञान के विश्वकोश हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार वेदों तथा स्मृतियों के बाद तथा धर्म के हृदयभूत पुराण ही प्रमाण हैं।[1] प्राचीन वैदिक संस्कृति में जिन सूक्ष्म अमूर्त भावों की उपलब्धि होती है, उन्हीं भावों के दिग्दर्शन युग की परिस्थितियों के अनुरूप पुराणों में विभिन्न आख्यानों एवं उपाख्यानों के माध्यम से होते हैं।

पुराण-साहित्य भारत की गौरवशाली परम्परा का ज्ञान कराने, भौगोलिक एवं ऐतिहासिक तत्त्वों के अन्वेषण करने, संस्कृति के समग्र रूप को परिलक्षित करने तथा पुरुषार्थचतुष्ट्यादि समस्त प्रचलित विचारधाराओं का सम्यक् परिचय करानेवाली अमूल्य निधि हैं। पुराणों में वेदों के गम्भीर एवं दुरूह रहस्यों को सरल,

---

* शोध-छात्र, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन-केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

सरस एवं सुबोध शैली में समझाया गया है जिसे समझना सर्वसाधारण के लिए अत्यन्त सुलभ है। जो व्यक्ति वेदों में निहित ज्ञानामृत का पान करने में सक्षम नहीं हैं वे पुराणों के माध्यम से सहज ही उस अमृत का पान कर आनन्दानुभूति को प्राप्त करते हैं। महर्षि वेदव्यास ने तो *महाभारत* में स्पष्ट रूप से यह उद्घोष किया है कि इतिहास एवं पुराण के द्वारा ही वेद का उपबृंहण करना चाहिए। वेद, ऐसा न करनेवाले अल्पज्ञों से सदा भयभीत रहता है कि वे मुझे मार न डालें।[2] *नारदपुराण* ने तो पुराणार्थ को वेदार्थ से भी अधिक माना है।[3] *वायुपुराण* के अनुसार जो अङ्गों तथा उपनिषदों सहित चारों वेदों को तो जानता हो किन्तु पुराणज्ञ न हो, तो उसे विद्वान् नहीं माना जा सकता।[4] पुराणों का उदय 'उच्छिष्ट' संज्ञक ब्रह्म से बतलाया गया है। *अथर्ववेद* के अनुसार ऋक्, साम, छन्द और यजुर्वेद के साथ ही पुराण भी उस उच्छिष्ट से अर्थात् यज्ञ के अवशेष से अथवा जगत् पर शासन करनेवाले यज्ञमय परमात्मा से उत्पन्न हुए।[5] इसके साथ ही विभिन्न ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं धर्मसूत्रों में भी 'पुराण' शब्द का अनेकधा उल्लेख मिलता है जिससे पुराणों की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता सिद्ध होती है। वेदनिहित तथ्यों को सरल रूप में उपस्थापित करने का श्रेय तो पुराणों को प्राप्त है ही साथ ही साथ जैन-बौद्ध तथा अन्य वेदविरोधी धर्मों के प्रभाव को रोकने में भी पुराणों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। पुराणों में वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, काव्यशास्त्र, राजनीति, शस्त्रविद्या एवं ज्योतिषादि का पूर्ण समावेश होने से पुराणों को भारतीय ज्ञान के विश्वकोश की उपाधि से अभिहित किया गया है।

'पुरा भवम्'– इस अर्थ में 'पुरा' अव्यय से 'ट्यु'[6] प्रत्यय द्वारा 'पुराण' शब्द निष्पन्न होता है। 'पुराण' शब्द का निर्वचन करते हुए यास्क कहते हैं कि **'पुराणं कस्मात्- पुरा नवं भवति'**[7] अर्थात् पुराण इसलिए कहा जाता है क्योंकि उसमें अतीत ताजा हो जाता है। *वायुपुराण* के अनुसार जो प्राचीनकाल में जीवित था, वह वृत्त पुराण है।[8] *पद्मपुराण* के अनुसार पुरा अर्थात् परम्परा की कामना पुराण है।[9] *ब्रह्माण्डपुराण* के अनुसार प्राचीनकाल में ऐसा हुआ– इस प्रकार की व्युत्पत्ति से 'पुराण' शब्द निष्पन्न होता है।[10] अमरकोशकार ने पुराण को प्रतन-प्रत्न-पुरातन तथा चिरन्तन का पर्याय माना है।[11] पुराण की उपर्युक्त सभी व्युत्पत्तियों का निहितार्थ यह है कि पुराणों का वर्ण्य-विषय प्राचीन काल से सम्बद्ध था। *देवीभागवतपुराण* में पुराणों की संख्या 18 बतलायी गयी है। ये पुराण हैं– मकारादि दो पुराण– मत्स्य तथा मार्कण्डेय, भकारादि दो पुराण– भविष्य तथा भागवत, बकारादि तीन पुराण–

ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त तथा ब्रह्माण्ड; वकारादि चार पुराण– विष्णु, वायु, वामन, तथा वराह; अग्नि, नारद, पद्म, लिङ्ग, गरुड़, कूर्म तथा स्कन्द।[12]

उपर्युक्त पुराणों में *अग्निपुराण* का स्थान महत्त्वपूर्ण है। अन्य पुराणों से इस पुराण का वैशिष्ट्य यह है कि इस पुराण में समस्त वाङ्मय के अधिकांश शास्त्रों का दिग्दर्शन किया जा सकता है। यह पुराण 383 अध्यायों में विभक्त है। इसमें काव्यशास्त्रीय विषयों पर भी विचार-विमर्श किया गया है। इस पुराण के 336-346 तक के 11 अध्याय पूर्णरूपेण काव्यशास्त्र को समर्पित हैं । इन अध्यायों में काव्य का लक्षण, नाटक, शृंगारादि रस, रीति, नृत्यादि में उपयोगी अंगकर्मों, अभिनयादि, शब्दालंकार, अर्थालंकार, शब्दार्थालंकार, काव्यगुणों एवं काव्यदोषों का विवेचन किया गया है। इसके अलावा अन्य अध्यायों में विभिन्न विषयों यथा आयुर्वेद, धनुर्विद्या, गोचिकित्सा, रत्नपरीक्षा, वास्तुविद्या, प्रतिमालक्षण आदि अन्यान्य विषयों पर पर सम्यक् विचार-विमर्श प्रस्तुत किया गया है। यही कारण है कि इस पुराण के माहात्म्य को बतलाते हुए कहा गया है कि पृथिवी पर इससे बढकर कोई भी दुर्लभ वस्तु नहीं है। इस *अग्निपुराण* में सभी विद्याओं का उपदेश किया गया है।[13]

प्रस्तुत शोधपत्र के माध्यम से *अग्निपुराण* में प्रतिपादित काव्यगुणों के स्वरूप, उनके लक्षण, भेद तथा उनकी विशेषताओं पर विचार करते हुए अन्य काव्यशास्त्रियों द्वारा विवेचित काव्यगुणों से उनकी समानता या असमानता-विषयक तथ्यों का तुलनात्मक रूप में दिग्दर्शन करते हुए काव्यगुणों की प्रकृति को समझने का प्रयास किया गया है।

भारतीय-काव्यशास्त्र में काव्यगुणों का विशिष्ट स्थान है। गुणों को काव्य का अभिन्न अंग माना गया है। यद्यपि काव्यगुणों के विवेचन का आरम्भ काव्यदोषों के अभावात्मक रूप में हुआ था लेकिन उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रियों ने इसे भावात्मक रूप प्रदान किया। आचार्य भरत ने *नाट्यशास्त्र* में दस दोषों का विवरण देने के उपरान्त कहा था कि इन दोषों के विपर्यय, माधुर्य, औदार्य आदि गुण होते हैं।[14] भरत के परवर्ती दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने गुणों को भावात्मक स्वीकार कर गुण-विपर्यात्मक दोषों का उल्लेख किया है।[15] वामन ने गुणों को काव्य का अनिवार्य एवं मूल शोभाधायक तत्त्व[16] बतलाकर उन्हें शब्द एवं अर्थ का नित्य धर्म बतलाते हुए काव्य की शोभा बढ़ानेवाले के रूप में प्रतिष्ठापित किया है। गुण एवं अलंकार में अन्तर स्थापित करते हुए वामन ने बतलाया है कि गुण काव्य के नित्य धर्म हैं एवं अलङ्कार अनित्य। गुणों से काव्य की शोभा का सृजन होता है जबकि अलङ्कार काव्य

की श्रीवृद्धि करते हैं। गुण के अभाव में काव्य का अस्तित्व ही नहीं रह सकता किन्तु अलंकार के बिना भी गुण के सद्भाव में काव्य का सौन्दर्य बना रहेगा। गुण के अभाव में अलङ्कार के सद्भाव होने पर भी काव्य का अपकर्ष हो जायेगा।[17]

काव्य में गुणों का प्राधान्य बतलाते हुए *अग्निपुराण* में कहा गया है कि अलंकारों से अलंकृत होकर भी गुणहीन काव्य सहृदयहृदयाह्लादक उसी प्रकार नहीं हो पाता जिस तरह लालित्यरहित रमणी के शरीर पर हार भी भार के समान प्रतीत होता है।[18] *अग्निपुराण* की गुण की अवधारणा सर्वथा नवीन है। इस पुराण में गुणों को काव्यदोषों के अभावात्मक रूप में नहीं बल्कि भावात्मकरूप में स्वीकार किया गया है। यह पुराण स्पष्ट करता है कि यदि कोई ऐसा कहे कि दोषों के अभाव को ही गुण कहते हैं तो ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि श्लेष आदि गुण गूढार्थ आदि दोषों से पृथक् हैं।[19]

अग्निपुराण के अनुसार गुण काव्य में कान्ति का आधान करनेवाले धर्म होते हैं। इन गुणों को सामान्य एवं वैशेषिक– दो वर्गों में विभाजित किया गया है।[20] सर्वसाधारण गुण को सामान्य गुण बतलाकर इस वर्ग के तीन उपवर्गों की कल्पना की गयी है– 1. शब्दगत गुणवर्ग, 2. अर्थगत गुणवर्ग एवं 3. उभयगत गुणवर्ग।[21] *अग्निपुराण* में स्थिति-विशेष में काव्य के शोभाधायक गुण बन जानेवाले काव्यदोषों को वैशेषिक गुणवर्ग में रखा गया है और काव्यदोष-प्रकरण में उस पर विचार-विमर्श किया गया है। ध्यातव्य है कि भोजराज ने भी काव्यगुणों को सामान्य तथा वैशेषिक वर्गों में विभक्त किया है। भोज की गुणसंबंधी अवधारणा एवं *अग्निपुराण* की गुणसंबंधी अवधारणा में पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है। दोनों के कई गुणों के लक्षण एवं उदाहरण में समानता दृष्टिगोचर होता है। यहाँ भोजराज का प्रभाव *अग्निपुराण* पर है या *अग्निपुराण* से भोज स्वयं प्रभावित हैं, इसको लेकर विद्वानों में वैमत्य दृष्टिगत होता है। डॉ० शोभाकान्त मिश्र ने लिखा है कि जहाँ वी० राघवन् *अग्निपुराण* पर भोज के काव्यसिद्धान्त का प्रभाव स्वीकार करते हैं वहीं डॉ० सुशील कुमार डे इस विचार से असहमति प्रकट करते हुए *अग्निपुराण* को भोज से पूर्ववर्ती होने का अनुमान कर भोज पर ही उसका पुष्कल प्रभाव मानते हैं।[22] चूँकि *अग्निपुराण* की रचना-तिथि निर्णित नहीं हो पायी है, अतः यह कह पाना मुश्किल है कि किसपर किसका प्रभाव है। *अग्निपुराण* में सामान्य गुणों की संख्या 19 बतलायी गयी है। इन गुणों में 7 शब्दगत, 6 अर्थगत एवं 6 शब्दार्थोभयगत गुण हैं। इन गुणों को निम्न प्रकार से देखा जा सकता है–

अग्निपुराणस्थ शब्दगत सामान्यगुण :

इस पुराण में सामान्य गुणों के शब्दगत उपवर्ग में गुणों की संख्या 7 बतलाई गई है– श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सौकुमार्य, उदारता, ऊर्जस्वी एवं यौगिकी।[23]

1. श्लेष– *अग्निपुराण* में शब्दों के सुश्लिष्ट सन्निवेश को श्लेषगुण कहा गया है।[24] *अग्निपुराण* का यह सुश्लिष्ट सन्निवेश वामन के मसृणत्व[25] एवं भोजराज के सुश्लिष्टपदता से अभिन्न है। ध्यातव्य है कि वामन ने मसृणत्व को तथा भोज ने सुश्लिष्टपदता को श्लेष कहा है।[26]

2. लालित्य– लालित्य नामक गुण को पारिभाषित करते हुए कहा गया है कि जहाँ 'गुण' या आदेश के द्वारा सभी अक्षर सुष्ठुरूप से पद से सम्बद्ध रहें और जहाँ एक की दूसरे के साथ सन्धि न हो, वहाँ लालित्य गुण होता है।[27] यहाँ लालित्य-गुण के परिभाषा में प्रयुक्त गुण एवं आदेश शब्द व्याकरण के पारिभाषिक शब्द हैं। जहाँ गुण का अर्थ अ, ए, ओ स्वर होता है[28] वहीं किसी शब्दरूप का दूसरे रूप में विधान आदेश कहलाता है, जैसे– ए=अय्, ओ=अव्, ऐ=आय्, औ=आव्।[29] इस प्रकार गुण एवं आदेश आदि के द्वारा जहाँ शब्द में सभी वर्ण सुस्पष्ट रहें, वहाँ लालित्य गुण माना गया है। इसे स्फुटाक्षरत्व कहा जा सकता है जो पृथक्पदत्व माधुर्य का समकक्षी है। ध्यातव्य है कि भोज ने शब्दगुण माधुर्य को पृथक्पदता कहा है और माधुर्य अग्निपुराण के लालित्य नामक गुण से अधिक सन्निकटता रखता है। यही कारण है कि न तो अग्निपुराणकार ने माधुर्यगुण का उल्लेख किया है न ही भोजराज ने लालित्यगुण का। सम्भव है कि इन्होंने एक लालित्य या माधुर्य गुण का विवेचन करने के उपरान्त दूसरे गुण के विवेचन को आवश्यक न समझा हो, क्योंकि ये दोनों ही गुण पर्याप्त साम्य रखते हैं।

3. गाम्भीर्य– गाम्भीर्य-गुण को पारिभाषित करते हुए *अग्निपुराण* कहता है कि जहाँ विशिष्ट लक्षण के अनुरूप पद का उल्लेख हो एवं जहाँ उत्तानपदता हो, वहाँ 'गाम्भीर्य' नामक गुण होता है इसे ही कुछ लोग शब्दता अथवा सुशब्दता गुण भी कहते हैं।[30] यहाँ विशिष्ट लक्षणोल्लेख का अभिप्राय है– शब्दशास्त्रसम्मत पदप्रयोग। इसे ही भोज ने **'सुप्तिङ्व्युत्पत्ति'** कहकर इसे 'सुशब्दता' नामक गुण से अभिहित किया है।[31] उत्तानपदता का अर्थ है– ऐसे पदों का प्रयोग जो उच्च भाव के व्यञ्जक एवं आडम्बर विशिष्ट हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि भोज ने जिसे **'सुशब्दता'** नामक गुण कहा है, *अग्निपुराण* में उसका अंतर्भाव गाम्भीर्य-गुण के

अन्तर्गत ही हो जाता है। यही कारण है कि *अग्निपुराण* में सुशब्दता-गुण का अलग उल्लेख नहीं हुआ है।

4. सुकुमारता– जहाँ अनिष्ठुर अक्षरयुक्त शब्द का प्रयोग होता है, वहाँ सुकुमारता-गुण माना गया है। अर्थात् जो रचना निष्ठुर अक्षरों से रहित होती है या जिसमें कोमल पदसमूह का प्रयोग होता है, उसे सौकुमार्य-गुण विशिष्ट माना जाता है।[32] ध्यातव्य है कि अग्निपुराणस्थ सुकुमारता दण्डी के सुकुमारता से अभिन्न है। दण्डी ने भी अनिष्ठुराक्षरप्रायत्व को ही सुकुमरता कहा है।[33] दण्डी की तरह भोज ने भी अनिष्ठुराक्षरप्रायत्व को सुकुमारत्व कहा है।[34]

5. औदार्य– अग्निपुराण के अनुसार जिस रचना में श्लाघ्य विशेषणों से युक्त उत्कृष्ट पदों का प्रयोग होता है, उसे औदार्य गुण माना जाता है।[35] *अग्निपुराण* की औदार्य-गुण की अवधारणा दण्डी के उदारता-गुण से प्रभावित है। दण्डी ने उत्कृष्ट गुण-प्रतीति को उदारता का लक्षण मानकर कहा था कि कुछ लोग श्लाघ्यविशेषण को भी उदारतागुण कहते हैं।[36]

6. ओज– *अग्निपुराण* में शब्दगत जिन 7 गुणों का उल्लेख है उनमें ओज गुण परिगणित नहीं है। उपर्युक्त 5 गुणों के अतिरिक्त ऊर्जस्वी एवं यौगिकी– इन दो गुणों का उल्लेख है, परन्तु परिभाषा के क्रम में अग्निपुराणकार ने उन दोनों के स्थान पर ओजगुण को परिभाषित किया है। ओजगुण को पारिभाषित करते हुए *अग्निपुराण* का कथन है कि समास बहुल रचना ओजगुण विशिष्ट होती है। यह गुण पद्यादि काव्य का प्राण होता है। ब्रह्मा से लेकर एक तृणपर्यन्त समस्त प्राणियों के पौरुष का वर्णन केवल ओजगुण से किया जाता है। ध्यातव्य है कि दण्डी एवं भोज ने भी ओज को 'समासभूयस्त्व' कहा है। दण्डी के ओज एवं *अग्निपुराण* के ओज में मुख्य अन्तर यह है कि दण्डी ने जहाँ उसे गद्यादि का प्राण माना था, वहीं *अग्निपुराण* में उसे पद्यादि का प्राण मान लिया गया है। दण्डी ने केवल गौड़ मार्ग में पद्य में भी ओज को समादृत माना था[38] जबकि *अग्निपुराण* में उसे सर्वत्र पद्य आदि का जीवित कहा गया है।

अर्थगत सामान्य गुण :

अर्थगुण को पारिभाषित करते हुए *अग्निपुराण* में कहा गया है कि जिस किसी भी शब्द के द्वारा वर्ण्यमान वस्तु के उत्कर्ष का वहन करनेवाला गुण अर्थगुण कहलाता है।[39] ये अर्थगत गुण 6 प्रकार के माने गए हैं– माधुर्य, संविधान, कोमलत्व, उदारत्व,

प्रौढ़ि और सामयिकत्व।[40]

1. माधुर्य– *अग्निपुराण* के अनुसार क्रोध तथा ईर्ष्या में भी आकार की गम्भीरता तथा धैर्य धारण को माधुर्य कहते हैं।[41]

2. संविधान– *अग्निपुराण* का यह सर्वथा नवीन गुण है। अपेक्षित अर्थ की सिद्धि में जो सहायक हो उसे संविधान संज्ञक अर्थगत गुण माना गया है।[42] ध्यातव्य है कि भोज ने अर्थगुण श्लेष को भी **'संविधानगत सुसूत्रता'** कहा है।[43] इस प्रकार *अग्निपुराण* का 'संविधान' नामक अर्थगुण भोज के अर्थगुण श्लेष के समान ही है।

3. कोमलत्व– कोमलत्व गुण का लक्षण *अग्निपुराण* में इस प्रकार दिया गया है कि जो कठिनता आदि दोषों से रहित हो तथा सन्निवेश विशेष का तिरस्कार करके मृदुरूप में ही प्रतीत होता है, उस गुण को 'कोमलता' कहते हैं।[44] भोज ने अर्थ की कोमलता या अनिष्ठुरता को सौकुमार्य अर्थगुण कहा है। *अग्निपुराण* का कोमलत्व अंशतः भोज के अर्थ सौकुमार्य से साम्य रखता है।

4. उदारत्व– जिसमें स्थूल लक्ष्यत्व की प्रवृत्ति का लक्षण लक्षित होता है तथा आशय अत्यन्त सुन्दर रूप में प्रकट होता है, वह 'उदारता' नामक गुण कहलाता है।[45]

5. प्रौढ़ि– जहाँ अभिप्राय के निर्वाह को उत्पन्न करनेवाली हेतुगर्भित युक्तियाँ विद्यमान रहती हैं, वहाँ 'प्रौढ़ि' गुण माना गया है।[46] कवि के अभिप्रेत अर्थ का पोषण ही अर्थगत प्रौढ़ि गुण है। भोज ने अर्थगत प्रौढ़ि गुण को विवक्षित अर्थ का निर्वाह कहा है।[47] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि *अग्निपुराण* और भोज की प्रौढ़िगुण की अवधारणा समान है।

6. सामयिकत्व– *अग्निपुराण* के अनुसार स्वतन्त्र अथवा परतन्त्र कार्य के आभ्यन्तर अथवा बाह्यसंयोग से जिस अर्थ की व्युत्पत्ति होती है, उसे सामयिकत्व कहते हैं।[48]

शब्दार्थोभयगत सामान्य गुण :

जो शब्द एवं अर्थ– दोनों को उपकृत करता है, उसे 'शब्दार्थोभय गुण' कहते हैं। इन गुणों के विषय में *अग्निपुराण* का कथन है कि काव्यशास्त्र के मर्मज्ञों ने इसका

विस्तार 6 भेदों में किया है। वे भेद हैं– प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्रस्तता, पाक तथा राग।[49]

1. प्रसाद – सुप्रसिद्ध अर्थों से समन्वित पदों का सन्निवेश प्रसाद कहलाता है।[50] उल्लेखनीय है कि प्रसाद गुण की भामह, दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों की अवधारणा को ही *अग्निपुराण* में स्वीकृति मिली है।

2. सौभाग्य– सौभाग्य गुण को पारिभाषित करते हुए *अग्निपुराण* में कहा गया है कि जिसके उक्त होने पर कोई गुण उत्कर्षवान् होता हुआ प्रतीत होता है, विद्वान् उसको 'औदार्य' या 'सौभाग्य' कहते हैं।[51] ध्यातव्य है कि दण्डी ने जो परिभाषा 'उदारता' नामक गुण के लिए दी है उसे ही *अग्निपुराण* में सौभाग्य की परिभाषा मान लिया गया है।[52] कुन्तक ने *वक्रोक्तिजीवितम्* में 'सौभाग्य' नामक साधारण गुण का वर्णन किया है।[53] सम्भवतः 'सौभाग्य' शब्द *अग्निपुराण* में वहीं से गृहीत है।

3. यथासंख्य– तुल्य वस्तुओं का क्रमशः कथन 'यथासंख्य' कहलाता है। यथासंख्य को गुणरूप में प्रथम बार *अग्निपुराण* में ही मान्यता मिली है।[54] अन्य काव्यशास्त्रियों ने यथासंख्य को अलंकार में ही परिगणित किया है। यथासंख्य अलंकार में पूर्वकथित बातों का उसी क्रम में कही जानेवाली बातों से अन्वय होता है। दण्डी ने इसे उद्दिष्ट पदार्थ का यथाक्रम अनूद्देश कहा है।[55]

4. प्रशस्तता– वर्णनीय दारुण वस्तु का अदारुण शब्दों से वर्णन प्राशस्त्य कहलाता है।[56] *अग्निपुराण* का यह गुण यद्यपि नाम्ना सर्वथा नवीन है तथापि इस गुण के स्वरूप की कल्पना प्राचीन है। वामन ने परुष अर्थ में भी अपारुष्य को सौकुमार्य अर्थगुण माना है।[57] वामन का यही सौकुमार्य गुण *अग्निपुराण* में प्रशस्तता के नाम से उल्लिखित है। भोज ने इस गुण को 'सुशब्दता' के नाम से अभिहित किया है।[58] इस प्रकार *अग्निपुराण* के प्रशस्तता गुण का वामन के सौकुमार्य एवं भोज के सुशब्दता अर्थगुण से साम्य को स्पष्टतया देखा जा सकता है।

5. पाक– किसी पदार्थ की उच्च परिणति को *अग्निपुराण* में 'पाक' कहा गया है। यह पाक मृद्वीका पाक, नारिकेल पाक, अम्बुपाक आदि भेद से चार प्रकार का होता है। उल्लेखनीय है कि *अग्निपुराण* के पाकलक्षण में तीन पाकों का ही उल्लेख है लेकिन उसे चार प्रकार का बतलाया गया है।[59] सम्भवतः अग्निपुराणकार को उक्त तीन पाकों के साथ भोज का सहकारपाक चौथे पाक के रूप में स्वीकृत हो।

पाकगुण की कल्पना अन्यत्र नहीं मिलती, यह *अग्निपुराण* की मौलिक उद्‌भावना है। भोज ने 'प्रौढ़ि' नामक शब्दगुण के विश्लेषण के क्रम में पाक का उल्लेख किया है। उन्होंने पाक को प्रौढ़ि गुण माना है।[60] इससे *अग्निपुराण* के पाकगुण एवं भोज के प्रौढ़ि गुण में साम्य प्रतीत होता है। ये दोनों गुण नाम्ना भिन्न अवश्य हैं किन्तु स्वरूपतः अभिन्न हैं। उपर्युक्त चार पाकों में से मृद्वीपाक को पारिभाषित करते हुए *अग्निपुराण* में कहा गया है कि आदि और अन्त में जहाँ सौरस्य का वर्णन हो वह मृद्वीपाक है।[61]

6. राग– *अग्निपुराण* में उल्लिखित 'राग' नामक गुण भी एक नवीन गुण है। इसे पारिभाषित करते हुए कहा गया है कि जो गुण काव्य-परम्परा से विशेषरूप में आता है, उसे 'राग' कहते हैं। अभ्यास में लाये जाने पर यह राग कान्ति को भी लाँघ जाता है। यह राग तीन प्रकार का होता है– 1. हारिद्रराग, 2. कौसुम्भराग तथा 3. नीलीराग।[62]

उपर्युक्त सामान्य गुणों के विवेचन के पश्चात् *अग्निपुराण* में वैशेषिक गुण को पारिभाषित करते हुए कहा गया है कि जो स्वलक्षण गोचर (अनन्य साधारण) गुण हो उसको 'वैशेषिक गुण' कहते हैं।[63] इस प्रकार *अग्निपुराण* के गुण-विभाजन को यदि संक्षेप में देखें तो सर्वप्रथम उसे सामान्य एवं वैशेषिक– दो वर्गों में विभाजित किया गया है। पुनः सामान्य गुणों को शब्दगत, अर्थगत एवं शब्दार्थोभयगत– तीन उपवर्गों में विभाजित कर उनके क्रमशः 7, 6 एवं 6 भेदों का उल्लेख किया गया है । इस प्रकार सामान्य गुणों की कुल संख्या 19 है जिसे निम्न तालिका के माध्यम से स्पष्टतया देखा जा सकता है–

काव्यगुण
सामान्य गुण
वैशेषिक गुण
शब्दगत सामान्य गुण
अर्थगत सामान्य गुणमान्य
शब्दार्थोभयगत सामान्य गुण
श्लेष
लालित्य
गाम्भीर्य
सौकुमार्य
उदारता
ओज
यौगिकी
माधुर्य
संविधान
कोमलता
उदारता
प्रौढ़ि
सामयिकता
प्रसाद
सौभाग्य
यथासंख्य
प्रशस्तता
पाक
राग
मृद्वीकापाक
नारिकेलपाक
अम्बुपाक
हारिद्रराग
कौसुम्बराग
नीलीराग
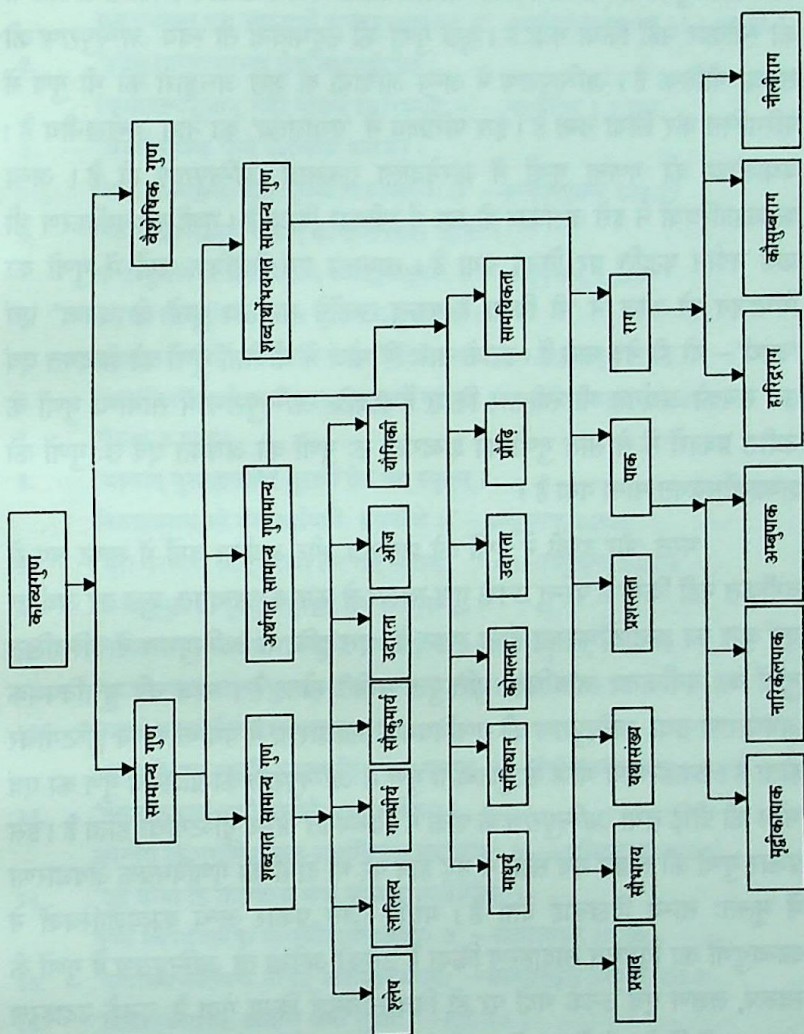
उपसंहार :

अग्निपुराण में उल्लिखित काव्यशास्त्रीय गुण विषयक उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि *अग्निपुराण* में यद्यपि भरत, दण्डी और वामन द्वारा प्रतिपादित दस गुणों में से अधिकांश गुणों को नाम्ना स्वीकार अवश्य किया गया है तथापि उनके सभी लक्षणों को स्वीकार नहीं किया गया है। कुछ गुणों की उद्भावना तो स्वयं *अग्निपुराण* की सर्वथा मौलिक है। *अग्निपुराण* में अन्य आचार्यों के कुछ अलङ्कारों को भी गुण में परिगणित कर लिया गया है। इस परिप्रेक्ष्य में 'यथासंख्य' का नाम उल्लेखनीय है। यथासंख्य की गणना गुणों में करनेवाला एकमात्र *अग्निपुराण* ही है। अन्य काव्यशास्त्रियों ने इसे अलंकार के रूप में स्वीकार किया है। गुणों का वर्गीकरण भी यहाँ नवीन पद्धति पर किया गया है। सामान्य एवं वैशेषिक वर्गों में गुणों का विभाजन तो भोज ने भी किया है परन्तु उन्होंने सामान्य गुणों के 'शाब्द' एवं 'आर्थ'– दो ही भेद माने हैं। इसके साथ ही भोज ने चौबीसों गुणों को शब्दगत एवं उन सबको अर्थगत भी स्वीकार किया है जबकि *अग्निपुराण* में सामान्य गुणों के उन्नीस प्रकारों में से सात गुणों को शब्दगत, छः गुणों को अर्थगत एवं छः गुणों को शब्दार्थोभयगत माना गया है।

भरत और दण्डी ने गुणों को शब्दगत और अर्थगत वर्गों में स्पष्ट रूप से वर्गीकृत नहीं किया है परन्तु उनके गुण स्वरूप से कुछ का शब्दगत, कुछ का अर्थगत एवं कुछ का शब्दार्थोभयगत होना स्पष्ट है। इस दृष्टि से *अग्निपुराण* में उल्लिखित गुणों का वर्गीकरण अत्यधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। भोज की गुणविषयक अवधारणा तथा *अग्निपुराण* की गुणविषयक अवधारणा में पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ भोज के सुशब्दता गुण से *अग्निपुराण* का प्राशस्त्य गुण का एवं भोज की प्रौढ़ि तथा *अग्निपुराण* के पाक में स्वरूपगत अभेद दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार गुणों की संख्या एवं संज्ञा में भेद होने पर भी दोनों की गुणविषयक अवधारणा में मूलतः साम्य दिखलाई देता है। यद्यपि जिस प्रकार अन्य काव्यशास्त्रियों ने काव्यगुणों का विवेचन सोदाहरण किया है उसकी अपेक्षा तो *अग्निपुराण* में गुणों के स्वरूप, लक्षण एवं उनके भेदों पर ही विचार-विमर्श किया गया है, उनके उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये गये हैं तथापि *अग्निपुराण* की गुणविषयक अवधारणा काव्यगुणों के सन्दर्भ में विशिष्ट स्थान रखती है।

सन्दर्भ :

1. 'बहुत्वादिह शास्त्राणां निश्चयः स्यात्कथं मुने ।
कियत्प्रमाणं तद्ब्रूहि धर्ममार्गविनिर्णये ॥
श्रुतिस्मृती उभेनेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम् ।
एतत्त्रयोक्त एव स्याद्धर्मो नान्यत्र कुत्रचित् ॥' –*देवीभागवतपुराण*, 11.1.20-21
2. 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥' –*महाभारत*, 1.1.267
3. 'वेदार्थाधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने ।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः ॥' –*नारदीयपुराण*, 224.17
4. 'यो विद्याच्चतुरो वेदान् सांगोपनिषदो द्विजः ।
न चेत्पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः ॥' –*वायुपुराण*, 1.200
5. 'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः ॥' –*अथर्ववेद*, 11.7.4
6. 'सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यस्ट्युट्युलौ तुट् च ।' –*पाणिनीयसूत्र*, 4.4.23
7. *निरुक्त*, 3.19.24
8. 'यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम् ।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥' –*वायुपुराण*, 1.203
9 'पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम्' –*पद्मपुराण*, 5.2.53
10. 'यस्मात्पुरा ह्यभूच्चैतत्पुराणं तेन तत्स्मृतम् ।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥' –*ब्रह्माण्डपुराण*, 1.1.173
11. 'पुराणे पतन-प्रत्न-पुरातन-चिरन्तनाः' –*अमरकोश*, श्लोक 76
12. 'मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम् ।
अनापलिंगकुस्कानि पुराणानि पृथक् पृथक् ॥' –*देवीभागवतपुराण*, 1.3.2
13. 'नास्मात्परतरं भूमौ विद्यते वस्तु दुर्लभम् ।
आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वाविद्याः प्रदर्शिताः ॥' –*अग्निपुराण*, 382.51
14. 'एते दोषा हि काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिताः ।
गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः ॥' –*नाट्यशास्त्र*, 16.95
15. 'गुणविपर्ययात्मनो दोषाः अर्थस्तदवगमः' –*काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति*, 2.1.1
16. 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः' –*वही*, 3.1.1
17. 'ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः । ते चौजः प्रसादादयः । न यमकोपमादयः । कैवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात् । तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः । पूर्वे नित्याः । तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः ।'
–*वही*, 3.1.2-4

18. 'अलङ्कृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत् ।
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम् ॥' —*अग्निपुराण*, 346.1

19. 'न च वाच्यं गुणो दोषाभाव एव भविष्यति ।
गुणाः श्लेषादयो दोषा गूढार्थाद्याः पृथक् कृताः ॥' —*वही*, 346.2

20. 'यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः ।
सम्भवत्येष सामान्यो वैशेषिक इति द्विधा ॥' —*वही*, 346.3

21. 'सर्वसाधारणीभूतः सामान्य इति मन्यते ।
शब्दमर्थमुभौ प्राप्तः सामान्यो भवति त्रिधा ॥' —*वही*, 346.4

22. उद्धृत, डॉ० शोभाकान्त मिश्र, *काव्यगुणों का शास्त्रीय इतिहास*, बिहार हिंदी-ग्रन्थ अकादमी पटना, प्रथम संस्करण, 1972, पृ० 128

23. 'शब्दमाश्रयते काव्यं शरीरं यः स तद्गुणः ।
श्लेषो लालित्यगाम्भीर्यसौकुमार्यमुदारता ॥
ऊर्जस्वी यौगिकी चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा ॥' —*अग्निपुराण*, 346.5-6

24. 'सुश्लिष्टसन्निवेशत्वं शब्दानां श्लेष उच्यते' —*वही*, 346.6

25.(क) 'मसृणत्वं श्लेषः' —*काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति*, 3.1.11

(इ) 'मसृणत्वं नाम यस्मिन् सति बहून्यपि पदान्येकपदवद्भासन्ते' —*वही*

26. 'गुणः सुष्लिष्टपदता श्लेष इत्यभिधीयते' —*सरस्वतीकण्ठाभरण*, 1.61

27. 'गुणादेशादिना पूर्वं पदसम्बद्धमक्षरम् ।
यत्र सन्धीयते नैव तल्लालित्यमुदाहृतम् ॥' —*अग्निपुराण*, 346.7

28. 'अदेङ् गुणः' —*पाणिनिसूत्र*, 1.1.2

29. 'एचोऽयवायावः' —*वही*, 6.1.78

30. 'विशिष्टलक्षणोल्लेखलेख्यमुत्तानशब्दकम् ।
गाम्भीर्यं कथयन्त्यार्य्यास्तदेवान्येषु शब्दताम् ॥' —*अग्निपुराण*, 346.8

31. 'व्युत्पत्तिः सुप्तिङां या तु प्रोच्यते सा सुशब्दता' —*सरस्वतीकण्ठाभरण*, 1.67

32. 'अनिष्ठुराक्षरप्रायशब्दता सुकुमारता' —*अग्निपुराण*, 346.9

33. 'अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते ।
बन्धशैथिल्यदोषोऽपि दर्शितः सर्वकोमले ॥' —*काव्यादर्श*, 1.69

34. 'अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमितिस्मृतम्' —*सरस्वतीकण्ठाभरण*, 1.63

35. 'उत्तानपदतौदार्य्ययुतश्लाघ्यैर्विशेषणैः' —*अग्निपुराण*, 346.9

36. 'उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद्यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते ।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः ॥' —*काव्यादर्श*, 1.76
श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदिष्यते । —*वही*, 1.79

37. 'ओजः समासभूयस्त्वमेतत् पद्यादिजीवितम् ।

आब्रह्मस्तम्भपर्यन्तमोजसैकेन पौरुषम् ॥' —*अग्निपुराण*, 346.10

38. 'ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम् ।
पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम् ॥' —*काव्यादर्श*, 1.80

39. 'उच्यमानस्य शब्देन येन केनापि वस्तुनः ।
उत्कर्षमावहन्नार्थो गुण इत्यभिधीयते ॥' —*अग्निपुराण*, 346.1

40. 'माधुर्य्यं संविधानं च कोमलत्वमुदारता ।
प्रौढिःसामयिकत्वं तद्भेदाः षट् चकासति ॥' —*वही*, 346.12

41. 'क्रोधेर्ष्याकारगाम्भीर्यान्माधुर्यं धैर्यगाहिता' —*वही*, 346.13

42. 'संविधानं परिकरः स्यादपेक्षितसिद्धये' —*वही*

43. 'तेषां श्लेष इति प्रोक्तः संविधाने सुसूत्रता ।' —*सरस्वतीकण्ठाभरण*, 1.73

44. 'यत्काठिन्यादिनिर्मुक्तसन्निवेशविशिष्टता ।
तिरस्कृत्यैव मृदुता भाति कोमलतेति सा ॥' —*अग्निपुराण*, 346.14

45. 'लक्ष्यते स्थूललक्षत्वप्रवृत्तेर्यत्र लक्षणम् ।
गुणस्य तदुदारत्वमाशयस्यातिसौष्ठवम् ॥' —*वही*, 346.15

46. 'अभिप्रेतं प्रति यतो निर्वाहस्योपपादिकाः ।
युक्तयो हेतुगर्भिण्यः प्रौढाप्रौढिरुदाहृता ॥' —*वही*, 346.16

47. 'विवक्षितार्थनिर्वाहः काव्ये प्रौढिरिति स्मृता' —*सरस्वतीकण्ठाभरण*, 1.83

48. 'स्वतन्त्रस्यान्यतन्त्रस्य बाह्यान्तः समयोगतः।
तत्र व्युत्पत्तिरर्थस्य या सामयिकतेति च ॥' —*अग्निपुराण*, 46.17

49. 'शब्दार्थावुपकुर्वाणो नाम्नोभयगुणः स्मृतः।
तस्य प्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यं प्रशस्तता ॥
पाको राग इति प्राज्ञैः षट् प्रपञ्चविपञ्चिताः ॥' —*वही*, 346.18-19

50. 'सुप्रसिद्धार्थता प्रसाद इति गीयते' —*वही*, 346.19

51. 'उत्कर्षवान् गुणः कश्चित् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते ।
तत्सौभाग्यमुदारत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥' —*वही*, 346.2

52. 'उत्कर्षवान् गुणः कश्चित् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते ।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः ॥ —*काव्यादर्श*, 1.76

53. 'इत्युपादेयवर्गेऽस्मिन् यदर्थं प्रतिभा कवेः ।
सम्यक् संरभते तस्य गुणः सौभाग्यमुच्यते ॥' —*वक्रोक्तिजीवितम्*, 1.55

54. 'यथासंख्यमनुद्देशः सामान्यमतिदिश्यते' —*अग्निपुराण*, 346.21

55. 'उद्दिष्टानां पदार्थानामनुद्देशो यथाक्रमम् ।
यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि ॥' —*काव्यादर्श*, 2.273

56. 'अदारुणेन शब्देन प्राशस्त्यमुपवर्णनम्' —*अग्निपुराण*, 346.22

57. ‘अपारुष्यं सौकुमार्यम्’ —*काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति*, 3.1.12

58. ‘अदारुणार्थपर्य्यायो दारुणेषु सुशब्दता’ —*सरस्वतीकण्ठाभरण*, 1.78

59. ‘उच्चैः परिणतिः क्वापि पाक इत्यभिधीयते ।
मृद्वीकानारिकेलाम्बुपाकभेदाच्चतुर्विधः॥’ —*अग्निपुराण*, 346.22-23

60. ‘उक्तेः प्रौढः परीपाकः प्रोच्यते प्रौढिसंज्ञया’ —*सरस्वतीकण्ठाभरण*, 1.72

61. ‘आदावन्तेव सौरस्यं मृद्वीपाक एव सः’ —*अग्निपुराण*, 346-23

62. ‘काव्येच्छाया विशेषो यः स राग इति गीयते ।
अभ्यासोपहितः कान्तिं सहजामतिवर्तते ॥
हारिद्रश्चैव कौसुम्भो नीली भागश्च स त्रिधा ॥’ —*वही*, 346.24-25

63. ‘वैशेषिकः परिज्ञेयो यः स्वलक्षणगोचरः’ —*वही*, 446.25

अग्निपुराण : शिक्षा वेदाङ्ग

प्रचेतस् *

ऐसा माना जाता है कि मानवीय सभ्यता के आदिकाल में पवित्रतम चार ऋषियों के अंतःकरण में वेद प्रकाशित हुए। प्रारम्भ में साक्षात् मन्त्रों से अर्थ समझ लिया जाता था और यही प्रक्रिया कुछ काल तक चलती रही। कालान्तर में वेदार्थ के परिज्ञान के लिए वेदाङ्ग के रूप में षडङ्गों की रचना हुई। वेद के इन छः अंगों में शिक्षा का प्रथम स्थान है। वर्णों के यथातथ्य उच्चारण की रक्षा तथा लौकिकालौकिक अभीष्ट की सिद्धि के लिये शिक्षा का प्रादुर्भाव हुआ। ध्वनिविज्ञान की आधारशिला 'शिक्षा' नामक वेदाङ्ग ही है। प्राचीन काल से ही वेद-व्याख्या में इतिहास-ग्रन्थ *रामायण, महाभारत* तथा पुराणों के आधार ग्रहण की परम्परा दिखाई देती है। वेद को समझने में संतुलित दृष्टि से इतिहास-पुराण भी उपयोगी हो सकते हैं। पुराणों में *अग्निपुराण* का वर्ण्य विषय अन्य पुराणों की अपेक्षा भिन्न है। *अग्निपुराण* में मात्र कर्मकाण्ड की व्याख्या नहीं अपितु अनेक लोकोपयोगी विद्याओं का वर्णन भी मिलता है। संस्कृत-वाङ्मय में उपलभ्यमान शास्त्रों में से अधिकांश की व्याख्या यह पुराण करता है। *अग्निपुराण* के 336वें अध्याय में 'शिक्षा' नामक वेदाङ्ग का वर्णन भी किया गया है। प्रस्तुत शोधपत्र के माध्यम से *अग्निपुराण* में वर्णित शिक्षा वेदाङ्ग के स्वरूप को समझने का प्रयास शोधार्थी द्वारा किया गया है।

वेद के 6 अंग होते हैं– शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, कल्प, छन्द तथा ज्योतिष। जिस प्रकार शरीर के अंग पुरुष की रक्षा करते हैं, कार्यों में सहायक होते हैं

---

* शोध-छात्र, उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार, उत्तराखण्ड

उसी प्रकार वेद के ये 6 अंग भी वेदपुरुष के सहायक होते हैं। शिक्षा को वेदपुरुष की नासिका कहा गया है। सायणाचार्य के अनुसार उदात्तादि स्वर तथा अकारादि वर्णों के उच्चारण की रीति जहाँ सिखलाई जाती है, उसे शिक्षा वेदाङ्ग कहते हैं। शिक्षा का प्रतिपाद्य विषय क्या है या इसके अंतर्गत कौन-कौन से वर्ण आते हैं इसका सर्वप्रथम उल्लेख *तैत्तिरीयोपनिषद्* में प्राप्त होता है। वहाँ ऐसा लिखा है कि वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान ही शिक्षा के मुख्य विषय हैं। वर्ण का अभिप्राय वैदिक वर्णमाला से है, स्वर से अभिप्राय उदात्तादि स्वरों से है, मात्रा से अभिप्राय ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत से है, बल से अभिप्राय अतिद्रुत दोषों से रहित तथा माधुर्यादि गुणों से युक्त पूर्वापर वर्णों के सामञ्जस्यपूर्ण उच्चारण से है तथा संतान से अभिप्राय मन्त्रों को पढ़ते समय पदान्तीय तथा पदादि वर्णों की संहिता से है। इन्हीं विषयों का विवेचन शिक्षा वेदाङ्ग में मिलता है।

अग्निपुराण के 336वें अध्याय में उपर्युक्त सभी विषयों का विवेचन किया गया है। अग्निदेव वसिष्ठ जी से कहते हैं कि अब मैं शिक्षाओं का वर्णन करूँगा। *अग्निपुराण* में कहा गया है कि वर्णों की संख्या 63 या 64 है, स्वरों की संख्या 21 है तथा स्पर्श-वर्णों की संख्या 25 है। यादि की संख्या 8 है– अनुस्वार, विसर्ग, दो पराश्रित क प उपध्मानीय तथा दुःस्पृष्ट लृकार। इस प्रकार वर्णों की संख्या 63 है। यदि ऋ को प्लुत मान लिया जाए तो वर्णों की संख्या 64 हो जाती है। रङ्ग अर्थात् अनुनासिक वर्णों का उच्चारण(खे अराँ) की तरह तथा आदि पञ्चाक्षरयुक्त हकार य र ल व इन– अन्तःस्थ वर्णों से युक्त होकर हकार औरस्य हो जाता है तथा संयुक्त न होने पर कण्ठ्य होता है। शब्दोत्पत्ति का बहुत सुन्दर वर्णन करते हुए *अग्निपुराण* में लिखा है कि आत्मा अर्थात् अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य संस्कार रूप से अपने भीतर घट-पटादि पदार्थों को अपनी बुद्धि का विषय बनाकर बोलने की इच्छा से मन को संयुक्त करता है। संयुक्त हुआ मन कायाग्नि को आहत करता है, उसी से वायु प्रेरित होती है। वह प्राणवायु हृदय-प्रदेश में सञ्चरण करते हुए मन्द ध्वनि में उस प्रख्यात स्वर को उत्पन्न करता है। *अग्निपुराण* में वर्णों के पाँच विभाग पाँच प्रकार के बताये गये हैं। स्वर, काल, स्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न और वाह्य प्रयत्न के भेद से वर्णों में भेद होता है। अग्निपुराणकार ने भी पाणिनीय शिक्षा के समान 8 उच्चारण स्थानों का उल्लेख किया है। ये आठ स्थान हैं–हृदय, कण्ठ, मूर्धा, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, दोनों ओठ और तालु। विसर्ग का अभाव (सभाव), विवृति या विवर्तन, सन्धि का अभाव, शकारादेश, सकारादेश, रेफादेश, जिह्वामूलीयत्व, उपध्मानीयत्व– ये ऊष्म

वर्णों की आठ गतियाँ हैं। जिस उत्तरवर्ती पद में आदि अक्षर उकार हो वहाँ यदि गुण आदि के कारण ओभाव का प्रसन्धान हो तो उस ओकार को स्वरस्थानीय ही समझना चाहिये, जैसे– गङ्गा+उदकम् = गङ्गोदकम्। इससे भिन्न सन्धिस्थल में जो ओभाव का परिज्ञान होता है वह ओभाव ऊष्म का ही गतिविशेष है, जैसे– शिवोवन्द्यः।

अग्निपुराण में सभी वर्णों के उच्चारण-स्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न, बाह्य प्रयत्न बताया गया है। सभी विवेचन पाणिनीय शिक्षा के समान ही है। उच्चारण स्थान के प्रसंग में एक स्थान पर भिन्नता है। व का उच्चारण *अग्निपुराण* में कण्ठ बताया है जब कि पाणिनीय शिक्षा में दन्त और ओष्ठ बताया है। अशिष्ट अध्यापक से पढ़े हुए दोषपूर्ण पाठ की निन्दा करते हुए *अग्निपुराण* में वर्णित है कि आचारहीन गुरु से जो वेदाध्ययन प्राप्त होता है वह नीरस-सा है। उसमें अक्षरों को किसी तरह तोड़-मरोड़कर किसी अर्थ तक पहुँचाया गया है वह बिना गुरु से पढ़े के समान निस्तेज है। इस प्रकार का वेदोच्चारण पाप है तथा इसके विपरीत उच्चारण शुभ है। अग्निपुराणकार शुद्ध वर्णोच्चारण करने में असमर्थ लोगों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि न तो विकराल आकृतिवाला, न लम्बे ओंठवाला, न तो अस्पष्ट उच्चारण करनेवाला, न ही गदगद कण्ठ या जिह्वाबन्ध से उच्चारण करनेवाला शुद्धोच्चारण में समर्थ होता है। संक्षेप में उच्चारण के गुण-दोष बताने के पश्चात् अग्निदेव कहते हैं कि वर्णों का शुद्धोच्चारण करनेवाले मनुष्यों की ब्रह्मलोक में भी पूजा होती है।

अग्निपुराणकार के अनुसार एकार व ऐकार में अकार की आधी मात्रा होती है तथा अयोगवाह (अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा यम) अपने आश्रयस्थान के भागी होते हैं। उदाहरणार्थ अनुस्वार का उच्चारणस्थान नासिका है किन्तु यकार के साथ पठित होने पर (यिं) का उच्चारणस्थान तालु होगा क्योंकि इ का उच्चारण स्थान तालु है। प्रयत्नों की चर्चा करते हुए अग्निपुराणकार लिखते हैं कि अच् (अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ) को स्पर्शाभावरूप विवृतप्रयत्नवाला जानना चाहिए। यण् (य् व् र् ल्) के ईषत्स्पृष्ट) तथा शलों (श, ष् स् ह्) के अर्धस्पष्ट ईषद्विवृत प्रयत्न होते हैं, शेष हलों (क से म तक) के स्पृष्ट प्रयत्न होते हैं। ञम् प्रत्याहार के वर्ण (ञ्, म्, ङ्, ण, न्) अनुनासिक कहलाते हैं। ह तथा र अनुनासिक नहीं होते हैं । हकार, झकार तथा षकार के संवार नाद एवं घोष प्रयत्न हैं, यण् तथा जश् के ईषन्नाद (अल्पप्राण) प्रयत्न हैं। ख, फ, छ, ठ, थ के विवार अघोष तथा श्वास

प्रयत्न हैं। च, ट, त, क, प, श, ष, स के ईषच्छ्वास प्रयत्न हैं। यहाँ अग्निपुराणकार का यह मत *महाभाष्य* में भी प्रकारान्तर रूप में वर्णित है।

इस प्रकार *अग्निपुराण* के 'शिक्षानिरूपण' नामक 336वें अध्याय में शिक्षा वेदाङ्ग के मुख्य विषय सारगर्भित और संक्षिप्त रूप से वर्णित हैं।

सन्दर्भ :

1. **'शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य'** —*पाणिनीयशिक्षा*, 42
2. **'स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते सा शिक्षा'**
   —सायण, *ऋग्वेदभाष्यभूमिका*, पृ० 2
3. **'शिक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलं, साम, सन्तान इत्युक्तः शिक्षाध्यायः'**
   —*तैत्तिरीयोपनिषद्*, शिक्षावल्ली, 1.1
4. **'वक्ष्ये शिक्षान् त्रिषष्टिःस्युर्वर्णा वा चतुराधिका ।
   स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविशतिः ॥'** —*अग्निपुराण*, 336.1
5. **'यादयश्च स्मृता ह्ययष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः ।
   अनुस्वारो विसर्गश्च पौख्यौ चापि पराश्रितौ ॥'** —*वही*, 336.2
6. **'रङ्गश्च खे अरं प्रोक्तं हकारः पञ्चमैर्युतः ।
   अन्तस्थाभिः समायुक्त औरस्यः कण्ठ्य एव सः ॥'** —*वही*, 336.3-4
7. **'आत्माबुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
   मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।
   मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥'** —*वही*, 336.4-5
8. **'वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः ।
   स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नार्थप्रदानतः ॥'** —*वही*, 336.8
9. **'अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
   जिह्वामूलञ्च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च ॥'** —*वही*, 336.9
10. **'सभावश्च विवृत्तिश्च शषसा रेफ एव च ।
    जिह्वामूलमुपधमा च गतिरष्टविधोष्मणः ॥'** —*वही*, 336.10
11. **'यद्यो भावप्रसन्धानमुकारादि परम्पदम् ।
    स्वरानतं तादृशं विद्याद् यदन्यद् व्यक्तमूष्मणः ॥'**—*वही*, 336.11
12. **'कण्ठ्यावहा'** —*वही*, 336.17
13. **'कुतीर्थादागतं दग्धमपवर्णञ्च भक्षितम् ।
    एवमुच्चारणं पापमनेवमुच्चारणं शुभम् ॥'** —*वही*, 336.12

14. 'न करालो न लम्बोष्ठो नाव्यक्तौ नानुनासिकः ।
गद्‌गदो बहुजिह्वश्च न वर्णान् व्यक्तुमर्हति ॥' —*वही*, 336.14

15. 'सम्यक्‌वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते' —*वही*, 336.15

16. 'अर्धमात्रा तु कण्ठस्य एकारैकारयोर्भवेत् ।
अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः ॥' —*वही*, 336.19

17. 'अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषन्नेमस्पृष्टाः शलाः स्मृताः ।
शेषाः स्पृष्टाः हलः प्रोक्ताः निबोधात्र प्रधानतः ॥' —*वही*, 336.20

18. 'ञमोऽनुनासिकानक्रौ (ह्रौ) नादिमौ हझषः स्मृताः ।
ईषन्नादोयणयशः श्वासिनश्च खफादयः ॥
ईषच्छ्‌वासं स्वरं विद्याद्दीर्घमेतद् प्रचक्षते ॥' —*वही*, 336.22

अग्निपुराण : काव्यशास्त्रविमर्श

डॉ० सुमन कुमार झा *

संस्कृत-वाङ्मय में पुराणों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुराण भारतीय-संस्कृति, सभ्यता एवं समाज के आधार हैं, क्योंकि समस्त सामाजिक नियमों, परम्पराओं, प्रथाओं, एवं रीति-रिवाजों की स्थापना पुराणों के आधार पर ही की गई है। अतः भारतीय-संस्कृति के मर्म एवं यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए पुराणों का अध्ययन आवश्यक है। महर्षि वेदव्यास ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से, वेदों के यथार्थ को समझकर उसके प्रचार एवं प्रसार हेतु पुराणों का प्रणयन किया।

पुराण-वाङ्मय भारतीय-साहित्य के अमूल्य रत्न हैं एवं अतीत को वर्तमान से जोड़नेवाली एक स्वर्णमयी शृंखला भी। विश्व-साहित्य के अक्षय-भण्डार में अष्टादश पुराण अनुपम एवं सर्वश्रेष्ठ हैं। हमारा सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक, राजनीतिक एवं भौगोलिक जीवन इन पुराणों में स्वच्छ दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित है। वेदों में जिन तत्त्वों का सूक्ष्म रूप से विधान किया गया है; ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, स्मृतिग्रन्थों एवं दर्शनशास्त्रीय ग्रन्थों में जिनका प्रतिपादन किया गया है, वे सभी तत्त्व आकर्षक, सहज, सरल, बोधगम्य एवं उपदेशात्मक शैली में पुराणों में वर्णित हैं। पुराणों में मानवोपयोगी समस्त ज्ञान के क्षेत्रों का समावेश किया गया है। हमारी समस्त जीवन-पद्धति, ज्ञान-धर्म, वैराग्य, भक्ति, विश्वास, यश,

---

* सहायक आचार्य, साहित्य विभाग, श्रीलाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नयी दिल्ली

दान, तप, यम, नियम, संयम, सेवा, दया, दाक्षिण्य, वर्णाश्रमधर्म, पुरुषधर्म, स्त्रीधर्म, संस्कार, सदाचार, अवतारादि का सदुपदेश सरल एवं सुगम भाषा में लिखित है।

'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिरिति' नियम के अनुसार पुराण-साहित्य का वस्तु-निर्देशात्मक लक्षण महर्षि व्यास ने *विष्णुपुराण* में कहा है—

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥'

पुराणों में सर्गादि पाँच विषयों के अतिरिक्त काव्यशास्त्र, इतिहास, काव्य, कला, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, ज्योतिष, शिक्षादि विभिन्न ज्ञान-विज्ञान से संबंधित विविध विषयों एवं विद्याओं का वर्णन प्राप्त होता है। इसलिए पुराण को सर्वशास्त्रमय कहा गया है—

'पुराणं निखिलं तात सर्वशास्त्रमयं स्मृतम्'[1]

अष्टादश पुराणों में *अग्निपुराण* का वैशिष्ट्य प्रसिद्ध है। समीक्षकों के द्वारा इसे विश्वकोश कहा गया है। 383 अध्यायों में विभक्त इस पुराण के 337 से लेकर 347 तक ग्यारह अध्यायों में प्रायः सभी काव्यशास्त्रीय एवं नाट्यशास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन किया गया है। कुछ समीक्षक इसे ही काव्यालंकारशास्त्र का आदिस्रोत मानते हैं। महेश्वराचार्य ने *काव्यप्रकाश* की आदर्श टीका में प्रतिपादित किया है कि 'भरत ने सुकुमार राजकुमारों को स्वादुकाव्य प्रवृत्ति के द्वारा अलंकारशास्त्र में प्रवृत्त कराने के लिए अग्निपुराण कारिकाएँ उद्धृतकर अलंकारशास्त्र का प्रणयन किया।'[2]

इसी परम्परा के अनुयायी विद्याभूषण ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है— **'काव्यरसास्वादनाय पुराणादिदृष्टां साहित्यविद्यां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिर्निबन्ध'**[3]। इसी परम्परा के पोषक सिल्वैन लेवी (1863-1935) ने भी यही प्रतिपादित किया है कि नाट्यशास्त्र की कारिकाएँ अग्निपुराण से ली गई हैं।[4] इन उद्धरणों के आधार पर *अग्निपुराण* को काव्यालंकारशास्त्र का आदिस्रोत माना जा सकता है। इसी प्रकार भामह, दण्डी, आनन्दवर्धन, भोजराज आदि के उद्धरणों से इस बात की पुष्टि होती है कि *अग्निपुराण* पूर्ववर्ती ग्रन्थ है।

उपर्युक्त ग्यारह अध्यायों में काव्यालंकारशास्त्र की विषयवस्तु का विवेचन निम्नलिखित प्रकार से है—

1. अध्याय 337 की 39 कारिकाओं में काव्यादिलक्षणस्वरुपनिरूपण।
2. अध्याय 338 की 35 कारिकाओं में नाटकादिक्षणनिरूपण।
3. अध्याय 339 की 76 कारिकाओं में नाटकादिविशेषलक्षणनिरूपण।
4. अध्याय 340 की 70 कारिओं में रसादिनिरुपण।
5. अध्याय 341 की 15 कारिकाओं में रीतिवृत्तिलक्षणनिरूपण।
6. अध्याय 342 की 29 कारिकाओं में अभिनयादिनिरूपण।
7. अध्याय 343 की 89 कारिकाओं में शब्दालङ्कार विवेचन।
8. अध्याय 344 की 31 कारिकाओं में अर्थालंकार विवेचन।
9. अध्याय 345 की 19 कारिकाओं में उभयालंकार विवेचन।
10. अध्याय 346 की 26 कारिकाओं में काव्यगुणविवेक।
11. अध्याय 347 की 40 कारिकाओं में काव्यदोष विवेक।[5]

वाङ्मय तथा काव्यस्वरूप विमर्श

अग्निपुराण में सर्वप्रथम वाङ्मय के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए बताया गया है कि ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य– ये मिलकर 'वाङ्मय' कहलाते हैं। शास्त्र, इतिहास और काव्य– तीनों वाङ्मय के अंतर्गत आते हैं–

'ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्येतद्वाङ्मयं मतम्।
शास्त्रेतिहासकाव्यानां त्रयं यत्र समाप्यते ॥'[6]

इसकी तुलना *सरस्वतीकण्ठाभरण* में उद्धृत इस कारिका से–

'ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम्।
यस्याः सूक्ष्मादिभेदेन वाग्देवी तामुपास्महे ॥'[7]

शास्त्र के अंतर्गत वेदादि आते हैं। शास्त्र में शब्द प्रधान होता है। अतः वेदादिशास्त्र शब्दप्रधान होते हैं। इतिहास के अंतर्गत *रामायण, महाभारत* और पुराणादि का समावेश है। इतिहास में अर्थ की प्रधानता होती है, क्योंकि इतिहास पुरावृत्त का अभिधायक होता है। काव्य अभिधा-प्रधान होता है। काव्य इन दोनों से भिन्न होता है। उसमें शब्द, अर्थ और अभिधा– तीनों का मिश्रण रहता है किन्तु प्रधानता अभिधा की ही होती है। यहाँ पर अभिधा का अर्थ व्यापार अभिप्रेत है–

'शास्त्रे शब्दप्रधानत्वमितिहासेऽर्थनिष्ठता।
अभिधाया प्रधानत्वात्काव्यं ताभ्यां विभिद्यते ॥'[8]

यहाँ अभिधेय से तात्पर्य अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना– तीनों प्रकारों के व्यापारों से है, किन्तु प्रधानता अभिधेय की है। अग्निपुराणकार ने अभिधा, लक्षण और व्यञ्जना– तीनों को उभयालंकार के रूप में परिगणित किया है। इस प्रकार के काव्य-रचना की शक्ति सबमें नहीं होती, अर्थात् काव्यरचना का कारण क्या है इस सन्दर्भ में *अग्निपुराण* ने शक्ति, व्युत्पत्ति (निपुणता) एवं विवेक (अभ्यास) को स्वीकार किया है–

'नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥
व्युत्पत्तिःदुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः ।
सर्वशास्त्रमविद्वद्भिः मृग्यमाणं न सिद्ध्यति ॥'[9]

सर्वप्रथम महर्षि वेदव्यास ने *अग्निपुराण* में शक्ति (प्रतिभा) व्युत्पत्ति (निपुणता) और विवेक (अभ्यास) को काव्य के हेतु के रूप में निर्देश किया है। उनका कथन है कि कवि में शक्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि शक्ति ही कवित्व का बीज है, जिसके बिना कवि काव्य का निर्माण नहीं कर सकता। परवर्ती मम्मटादि आचार्यों ने तो तीनों को समुचित रूप से काव्य हेतु कहा है।

वाक्य स्वरूप– वाक्य का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए *अग्निपुराण* में **'वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'**[10] कहा गया है।

काव्य-लक्षण– 'काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्'[11] अर्थात् स्फुट अलंकारयुक्त, गुणयुक्त तथा दोषरहित अभिधा प्रधान वाङ्मय को उत्तम काव्य कहते हैं। इस प्रकार अग्निपुराणकार के अनुसार ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्यरूप दोषरहित, गुणसहित, स्फुरदलंकारयुक्त अभिधेय अर्थ से युक्त वाङ्मय-काव्य है।

काव्यभेद– *अग्निपुराण* में काव्य के तीन भेद बताए गए हैं– गद्य, पद्य और मिश्र– **'गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यं हि त्रिविधं स्मृतम्'**।[12]

इनमें पादरहित पदसमूह को गद्य कहते हैं। उस गद्य के तीन रूप होते हैं– चूर्णक, उत्कलिका एवं वृत्तगन्धि–

'अपादःपदसन्तानो गद्यं तदपि गद्यते ।
चूर्णकोत्कालिकावृत्तगन्धिभेदात् त्रिरूपकम् ॥'[13]

अग्निपुराण के अनुसार गद्यकाव्य के पाँच भेद होते हैं— आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा और कथानिका—

'आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा ।
कथानिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यं हि पञ्चधा ।।'[14]

श्लोक के चतुर्थांश को पाद कहते हैं और चार पादवाले श्लोक को पद्य कहते हैं। पद्य के दो भेद होते हैं— वृत्त और जाति। *अग्निपुराण* के अनुसार पद्यकाव्य सात प्रकार का होता है— महाकाव्य, कलाप, पर्याबन्ध विशेषक, कुल, मुक्तक और कोश। यथा—

'महाकाव्यं कलापश्च पर्याबन्धो विशेषकम् ।
कुलकं मुक्तकं कोष इति पद्यकदम्बकम् ।।'[15]

महाकाव्य का लक्षण विस्तार से दिया गया है। महाकाव्य के वैशिष्ट्य को बताते हुए कहा गया है— 'महाकाव्य का कथानक समस्त प्रकार के वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों से समन्वित, रसों से संयुक्त तथा गुण एवं अलंकारों से पुष्ट होना चाहिए।' साथ ही रस को आत्मतत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है, यथा—

'सर्ववृत्तिप्रवृत्तिभ्यां सर्वभावैः प्रभावितम् ।
सर्वरीतिरसैर्जुष्टं पुष्टे गुणविभूषणैः ।।
अत एव महाकाव्यं तत्कर्त्ता च महाकविः।
वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।।'[16]

मुक्तक का लक्षण देते हुए कहा गया है—

'मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः सताम् ।
सूक्तिभिः कविसिंहानां सुन्दरीभिः समन्वितः ।।'[17]

मिश्रकाव्य में गद्य और पद्य— दोनों का मिश्रण होता है, इसलिए इसे मिश्रकाव्य कहते हैं। मिश्र काव्य के दो भेद होते हैं— चम्पू और प्रकीर्णक। इनमें चम्पूकाव्य श्रव्य होता है और प्रकीर्णक अभिनेय होता है।[18]

रसविमर्श— रसतत्त्व के विषय में *अग्निपुराण* में स्वतन्त्र एवं मौलिक विचारधारा दिखाई देती है। इस विचारधारा का प्रभाव संस्कृत-साहित्यशास्त्र में ग्रन्थों पर भी दिखती है। अग्निपुराणकार ने दार्शनिक-आधार पर रसतत्त्व का

चिन्तन कर एक नयी दिशा प्रस्तुत की, जो परवर्ती रस-विवेचन का आधार है। यह विवेचन अत्यन्त प्रायोगिक, व्यावहारिक एवं अनुभवजन्य है। साथ ही प्रत्येक मनुष्य के जीवन से सम्बद्ध भी है। *अग्निपुराण* के अनुसार अक्षर, अज, सनातन, अद्वितीय, चैतन्यरूप, ज्योतिर्मय परब्रह्म की सहज आनन्द रूप अभिव्यक्ति रस है। वेदांत में इसी अभिव्यक्ति को चैतन्य कहा गया है। इसी सहज आनन्दरूप अभिव्यक्ति को चमत्कार या रस कहते हैं—

'अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम् ।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम् ॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन ।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वयः ॥'[19]

इस प्रकार *अग्निपुराण* के अनुसार रस दार्शनिक-धरातल पर पल्लवित हुआ है। चैतन्यरूप परब्रह्म का गुणत्रय रूप प्रथम विकार महत्तत्त्व (महान्) है। महत्तत्त्व से ही अहंकार या अभिमान की अनुभूति होती है। महत्तत्त्व के समान ही यह अहंकार या अभिमान भी त्रिगुणात्मक है। जब रजस् और तमस् के संस्पर्श से रहित सत्त्व का उद्रेक होता है, तब सहृदयों के द्वारा रस की अनुभूति होती है। यह अनुभूति ही आस्वाद है, यही चैतन्य है, यही चमत्कार या रस है। यथा—

'आद्यस्तस्य विकारो यः स महानिति तु स्मृतः ।
ततोऽभिमानतत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम् ॥
अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी ।
व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते ॥'[20]

अग्निपुराण के अनुसार अभिमान अहंकार का ही एक रूप है। इस अभिमान या अहंकार की अनुभूति उस प्रथम विकार महत्तत्त्व से होती है। उसी महत्तत्त्व से अभिमान या अहंकार की अनुभूति होती है और अहंकार से रति की अभिव्यक्ति होती है और रति ही व्यभिचार्यादिभावों से परिपोषित शृंगार है।

अग्निपुराण का रस-विवेचन दार्शनिक-धरातल पर पल्लवित हुआ है। *सांख्यदर्शन* के अनुसार समस्त अनुभूतियों का आश्रय अंतःकरण का मूल अहंकार है और वेदांत की दृष्टि में भी जब शुद्ध चैतन्य 'अहमस्मि' के धरातल पर अवतरित होता है तभी 'अहम्' तत्त्व की सृष्टि होती है। *अग्निपुराण* में प्रतिपादित अहंकार तत्त्व मनुष्य में अपने प्रति अनुराग द्योतित करता है और इस अहंभाव के कारण उसे

अपने व्यक्तित्व का आभास होने लगता है। जैसे किसी कामिनी के द्वारा स्निग्ध दृष्टि से देखे जाने पर पुरुष में आत्मज्ञान, आत्मविश्वास या आत्मानुराग की भावना जागृत होकर उसे सहज आनन्द में विभोर कर देती है, यही अहंकार है। यह अहंकार ही रस है। आत्मज्ञान या आत्मप्रतीति होने के कारण वह सहज आनन्दरूप या रसरूप है। अभिमान अहंकार का ही एक रूप है। इसे अभिमान इसलिए कहते हैं कि इसमें समस्त सुख-दुःखात्मक अनुभूतियाँ आनन्दप्रद होने के कारण अभिमत हो जाती हैं। यहाँ पर मनुष्य का अभिमान उत्तेजनाजन्य मिथ्या गर्व नहीं है, वह तो आत्मस्थित विशेष गुण है जो रस्यमान होने के कारण 'रस' है। नारद, शारदातनय आदि आचार्यों ने भी अहंकार का विकार 'रस' माना है।

इसी अहंकार या आत्मप्रतीति (आत्मज्ञान) का दूसरा नाम शृंगार है। अतः शृंगार ही रस है। इसी प्रकार आत्मा का अहंकार विशेष ही शृंगार है जो सहृदय द्वारा रस्यमान होने से 'रस' कहलाता है। इसे शृंगार इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह मनुष्य को शृंग तक पहुँचा देता है। उनका यह शृंगार स्त्री-पुरुष का वासनात्मक प्रेम या रति का प्रकर्ष नही हैं, अपितु निरपेक्ष प्रेम या आत्मनिष्ठ प्रेम है। वही शृंगार है तथा इसी शृंगार से शृंगार तथा हास्यादि अन्य रस अभिव्यक्त होते हैं। *अग्निपुराण* में शृंगार का व्यापक अर्थ लिया गया है और उसे रस का पर्याय माना गया है, यथा–

'तद्भेदाः काममितरे हास्याद्याप्यनेकशः ।
स्व-स्व-स्थायिविशेषाच्च परिपोषादिलक्षणाः ॥'

साहित्यशास्त्र में भोजराज, शारदातनय आदि आचार्यों ने रसनिरूपण के प्रसंग में *अग्निपुराण* के मत को स्वीकार करते हुए उसका विशद विवेचन किया है।[21]

अग्निपुराण में नवरस स्वीकार किये गये हैं–

'शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ।
वीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वस्वभावोद्भवा रसाः ॥'[22]

शम को शान्त-रस का स्थायीभाव प्रवर्तित किया गया है। आठ प्रकार के सात्त्विक एवं तैंतीस प्रकार के व्यभिचारिभाव भी स्वीकार किए गए हैं।[23] विभाव का लक्षण देते हुए द्विविध आलम्बन एवं उद्दीपन विभाव की चर्चा की गई है–

'विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते ।
विभावो नाम स द्वेधालम्बनोद्दीपनात्मकः ॥'[24]

आलम्बन विभाव के उद्बुद्ध एवं परिष्कृत भावों के द्वारा मन, वाणी, बुद्धि एवं शरीर के स्मृति, इच्छा, द्वेष और यत्न से जो आरम्भ किया जाता है, उसे 'अनुभाव' कहते हैं। यह अनुभाव चार प्रकार का होता है– चित्तारम्भ, वागारम्भ, बुद्धयारम्भ और शरीरारम्भ–

'मनोवाग्बुद्धिवपुषां स्मृतीच्छाद्वेषयत्नतः।
आरम्भ एव विदुषामनुभाव इति स्मृतः।
स चानुभूयते चानुभाव इति निरुच्यते ॥'[25]

इसमें मानसिक व्यापार के आधिक्य को 'मन आरम्भ' कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है– पौरुष और स्त्रैण। इनमें पुरुषगत मनोभाव– शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य और तेज– ये आठ हैं। हाव, भाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य, औदार्य, स्थैर्य और गाम्भीर्य– ये बारह स्त्रीगत मनोभाव हैं।[26]

वाणी का कथन वागारम्भ व्यापार है। आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, अपलाप, सन्देश, निर्देश, अतिदेश, उपदेश और व्यपदेश– भेद से ये बारह प्रकार के हैं। बुद्धि के द्वारा उपदिष्ट व्यापार बुद्धयारम्भ है। रीति, वृति और प्रवृत्ति भेद से त्रिविध है। शरीर के अंग-प्रत्यंगों द्वारा किया गया आरम्भ (चेष्टा) 'शरीराम्भ' है। ये बारह हैं– लीला, विलास, विच्छिति, विभ्रम, किलकिञ्चित्, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित, विकृत, क्रीडित और केलि। अग्निपुराण में इन चारों व्यापारों का संबंध चार अभिनयों से जोड़ा गया है। इनमें मन आरम्भ का संबंध सात्त्विक अभिनय से वागारम्भ का वाचिक अभिनय, बुद्धयारम्भ का आहार्य एवं शरीरम्भ का संबंध आंगिक अभिनय से है।

अग्निपुराणकार ने रस को भावाश्रित और भाव को रसाश्रित कहा है। भावहीन रस और रसहीन भाव की कल्पना नहीं की जा सकती। भाव और रस एक दूसरे के उपकारक हैं। रसों को भावित करने के कारण वे भाव कहे जाते हैं–

'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।
भावयन्ति रसानेभिर्भाव्यन्ते च रसा इति ॥'[27]

इस प्रकार *अग्निपुराण* का यह रस भावादि चिन्तन सर्वथा मौलिक एवं वैज्ञानिक है।

रीति-वृत्ति-विचार

अग्निपुराण में वक्तृत्व-कला की शैली को 'रीति' नाम से अभिहित किया गया है। रीति के चार भेद प्रतिपादित हैं– पाञ्चाली, गौड़ी, वैदर्भी एवं लाटी–

'वाग्विद्यासम्प्रतिज्ञाने रीतिः सापि चतुर्विधा ।
पञ्चाली गौडदेशीया वैदर्भी लाटजा तथा ।।'[28]

वृत्ति का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि 'रस के भावों की अनुभाविका क्रिया को वृत्ति कहते हैं। भारती, आरभटी, कैशिकी एवं सात्वती के भेद से वृत्ति चतुर्विध होती है। सभी भेदों के लक्षण एवं उदाहरण भी दिये गये हैं।'[29]

अलंकार-विमर्श

अग्निपुराण में काव्य के शोभाकारक धर्म को अलंकार कहा गया है और शोभा के अनुग्राहक तत्त्व को गुण। यहाँ अलंकार को व्यापक अर्थ में स्वीकृत किया गया है, अभिव्यक्ति के सभी रूप एवं अभिधा आदि का समावेश भी अलंकार में किया गया है। *अग्निपुराण* का अलंकार-विवेचन सर्वथा नवीन एवं मौलिक है। परवर्ती साहित्यशास्त्रीय आचार्यों ने अग्निपुराण के अलंकार-विवेचन को आधार बनाकर अलंकारतत्त्व की मीमांसा की है, यथा–

'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।
अलङ्करिष्णवस्ते च शब्दमर्थमुभौ त्रिधा ।।'[30]

अग्निपुराण में अलंकार के तीन भेद निरूपित किए गए हैं– शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार। जो अलंकार व्युत्पत्ति के द्वारा शब्द को अलंकृत करते हैं, उसे काव्यशास्त्रवेत्ता 'शब्दालंकार' कहते हैं।

'ये च व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलङ्कर्तुमिह क्षमाः ।
शब्दालंकारमाहुस्तान् काव्यमीमांसकाविदः ।।'[31]

शब्दालंकार के नौ भेद प्रतिपादित हैं– छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फन, वाकोवाक्य, अनुप्रास, चित्र और दुष्कर। इन सभी नव अलंकारों के लक्षण, उदाहरण एवं उनके अवान्तर भेद भी निरूपित किए गए हैं।[32] *अग्निपुराण* में चित्रालंकार का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। चित्रालंकार के प्रश्न, प्रहेलिका, गुप्तपद, च्युतपद, दत्तपद, समस्या और बन्ध– ये सात बताते हुए इनके उपभेदों का विस्तृत प्रतिपादन

किया गया है।

अर्थालंकार विवेक

काव्य के शोभादायक धर्म अलंकार है और वह धर्म यदि अर्थ को अलंकृत करता है तो उसे अर्थालंकार कहते हैं। *अग्निपुराण* में अर्थालंकार के बिना काव्य शब्दसौन्दर्य से युक्त हुए भी हृदयग्राही नहीं होता। अर्थालंकार से रहित सरस्वती विधवा नारी के समान होती है। यदि अर्थ-सौन्दर्य है तभी शब्द-सौन्दर्य भी काव्य को शोभित करता है–

'सुभगङ्करणोऽर्थानामर्थालंकार इष्यते ।
तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम् ।
अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती ॥' [33]

यथा– **'विधवा पतिभूषणरहिता नारी विविधालङ्कारैरलङ्कृतापि न मनोहरा भवति'**

अग्निपुराण में स्वरूप, सादृश्य, उत्प्रेक्षा, अतिशय, विभावना, विशेष, विरोध और हेतु के भेद से अर्थालंकार के आठ भेद प्रतिपादित किए गए हैं। इन अलंकारों के उपभेद भी उदाहरण सहित वर्णित हैं। [34]

अग्निपुराण में उभयालंकार का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है–

'शब्दार्थयोरलंकारो द्वावलङ्कुरुते समम् ।
एकस्तु निहितो हारः स्तनं ग्रीवामिव स्त्रियाः ॥' [35]

उभयालंकार के 6 भेद प्रतिपादित हैं, यथा– प्रशस्ति, कान्ति, औचित्य, संक्षेप, यावदर्थता, संक्षेप एवं अभिव्यक्ति–

प्रशस्तिः कान्तिरौचित्यं संक्षेपो यावदर्थता ।
अभिव्यक्तिरिति व्यक्तं षड्भेदास्तस्य जाग्रति ॥' [36]

यहाँ इन भेदों का उदाहरणसहित विवेचन किया गया है। *अग्निपुराण* में ध्वनि को भी अलंकार के रूप में प्रतिपादित किया है। अभिव्यक्ति के अंतर्गत अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना का समावेश किया गया है। [37]

यह *अग्निपुराण* की मौलिक विचारधारा है, जिसे परवर्ती आचार्यों ने प्रकारान्तर से प्रतिपादन किया है। इसका अनुसरण भोज आदि आचार्यों ने किया है।

काव्यगुण-विवेक

अग्निपुराण का गुण-विवेचन सर्वथा नवीन एवं मौलिक है। *अग्निपुराण* में गुण को भावात्मक माना है। यहाँ काव्य में महती शोभा के अनुग्राहक भाव को गुण कहा गया है–

'अलङ्कृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत् ।
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम् ॥
न च वाच्यो गुणो दोषाभाव एव भवेदिति ।
गुणाः श्लेषादयो दोषा गूढाद्यर्थाः पृथक् कृताः ॥
यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः ।
सम्भवत्येष सामान्यो वैशैषिक इति द्विधा ॥'[38]

काव्य अलंकृत होने पर भी गुणरहित हो तो प्रीतिजनक नहीं होता। जैसा कि भोज ने भी कहा है कि अनेक अलंकारों से सुशोभित होने पर भी गुणहीन काव्य श्रव्य नहीं होता– **'अलङ्कृतमपि श्रव्यं न काव्यं निर्गुणं भवेत् ।'** वामन का कथन है कि 'सुन्दर अलंकारों से अलंकृत होने पर भी जिस प्रकार कामिनी का शरीर यदि सौशील्यादि गुणों से रहित हो तो दुर्भग होता है, उसी प्रकार अलंकारों से मण्डित भी काव्य गुणों से हीन होने पर दुर्भग होता है'–

'यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनमबन्ध्यमङ्गनायाः ।
अपि जनयदपि तानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते ॥'

इस प्रकार काव्य में गुणों की स्थिति अनिवार्य बताई गई है, क्योंकि गुणहीन काव्य कभी भी चित्ताकर्षक नहीं होते। अग्निपुराण में दोषों का अभाव ही गुण है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, यह प्रतिपादित किया गया है, क्योंकि गुण श्लेषादि हैं और गूढ़ार्थादि दोष हैं, ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं। अग्निपुराणकार ने दोषाभाव को गुण नहीं माना है। गुण अपने रूप में स्वतन्त्र हैं, पृथक् हैं।

अग्निपुराण में गुण के दो भेद किए गए हैं– सामान्य और वैशैषिक। इनमें सामान्य गुण तीन प्रकार के हैं– शब्दगुण, अर्थगुण और उभयगुण। शब्दगुण के सात भेद बताए गए हैं– श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सौकुमार्य, उदारता, ओज और यौगिक। अर्थगुण छः प्रकार के हैं– माधुर्य, संविधान, कोमलत्व, उदारता, प्रौढ़ि और सामयिकत्व। इनमें सामयिकत्वगुण सर्वथा मौलिक एवं प्राचीन हैं। शब्दार्थोभयगुण

के छः भेद निर्दिष्ट हैं– प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्रशस्ति, पाक और राग। इनमें पाकगुण और रागगुण– ये अग्निपुराणकार की सर्वथा नवीन एवं मौलिक उद्भावना है। इन सभी भेदों का लक्षणोदाहरणपूर्वक विवेचन किया गया है।[39]

'उच्चैः परिणतिः कापि प्राक् इत्यभिधीयते ।
मद्वीका नारिकेलादिपाकभेदाच्चतुर्विधः ।
आदावन्ते च सौरस्यं मद्वीकापाक एव सः ॥
मध्ये नारिकेलपाको रम्भापाकोऽन्त एव सः ।
आदिमध्यान्तसौरस्यं तिन्तिडीपाक उच्यते ॥'[40]

इसी प्रकार *अग्निपुराण* में कुल 19 गुण प्रतिपादित हैं। इसी आधार पर भोज आदि आचार्यों ने गुण विचेचन किया है।

काव्यदोष विवेक

अग्निपुराण में दोष को काव्य का हेय तत्त्व कहा गया है– **'काव्यं स्फुरदलंकारगुणवद्दोषवर्जितम्'**। सहृदयों के उद्वेगजनक तत्त्वों को दोष कहा गया है। भाव यह है कि जिस काव्य के पढ़ने या सुनने से सहृदयों के हृदय में उद्विग्नता हो, उसे दोष कहते हैं–

'उद्वेगजनको दोषः सभ्यानां स च सप्तधा ।
वक्तृवाचकवाच्यानामेकद्वित्रिनियोगतः ॥'[41]

इनमें वक्तृ-दोष के चार भेद हैं– सन्दिहान, अविनीत, सन्नज्ञ और ज्ञाता।[42] वाचक दोष दो प्रकार के होते हैं– पददोष और वाच्यदोष। अर्थदोष (वाच्यदोष) के दो भेद किए गए हैं– साधारण और प्रातिस्विक। पुनः इनके अनेक भेदोपभेदों का वर्णन किया गया है।[43] तत्पश्चात् दोषों का परिहार भी प्रतिपादित है।[44] अन्त में कवि-समय की चर्चा की गई है। कवियों का समुदाचार कवि समय कहलाता है।[45] राजशेखर ने इसी आधार पर कवि समय का निरूपण किया है, यथा–

'कवीनां स्याद् य आचारः समयो नाम गीयते ।
सामान्यश्च विशिष्टश्च धर्म्मवद् भवति द्विधा ।
सिद्धसैद्धान्तिकानाश्च कवीनां वा विवादतः ॥
यः प्रसिद्धत्यतिसामान्य इत्यसौ समयो मतः ॥'[46]

इस प्रकार *अग्निपुराण* के ग्यारह अध्यायों में काव्यशास्त्रीय एवं नाट्यशास्त्रीय विषयों का विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण विवेचन किया गया है। इसे काव्यशास्त्र का मूल स्रोत माना जा सकता है या नहीं, यह शोध एवं चर्चा का विषय है। परन्तु इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि साहित्यशास्त्र के विकास में *अग्निपुराण* का विशिष्ट योगदान है। *अग्निपुराण* में प्रतिपादित कतिपय तत्त्वों का निरूपण, विशेषकर रस-तत्त्व के निरूपण का प्रभाव साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों, विशेषतः भाजराज के *सरस्वतीकण्ठाभरण* एवं *शृंगारप्रकाश* एवं शारदातनय के *भावप्रकाश* ग्रन्थ पर स्पष्ट परिलक्षित होता है।

सन्दर्भ :

1. *स्कन्दपुराण*, 7.2.24
2. **'सुकुमारन् राजकुमारन् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा अलंकारशास्त्रे प्रवर्त्तयितुमग्निपुराणमुद्धृत्य काव्यरसास्वादनकरणमलंकारशास्त्रे कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्'**

   —पी०वी० काणे, *संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास*, पृ० 4
3. *वही*, पृ० 4
4. *वही*, पृ० 31
5. *अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम्*, विषयसूची, पृ० 1-6
6. *अग्निपुराण*, 337/1
7. *सरस्वतीकण्ठाभरण*, प्रथमपरिच्छेद, का०सं० 1
8. *अग्निपुराणोक्तं काव्यालंकारशास्त्रम्*, 1-2
9. *वही*, 1-34
10. *वही*, प्रथमोऽध्यायः, पृ० 10
11. *अग्निपुराणम्*, 337.6
12. *वही*, 337.7
13. *वही*, 337.8
14. *वही*, 337.11
15. *वही*, 337.24
16. *वही*, 337, 25-38
17. *वही*, 337.37
18. *वही*, 337.39
19. *अग्निपुराणोक्तं काव्यालंकारशास्त्रम्*, चतुर्थोऽध्यायः, 1,2
20. *वही*, 4-3, 4

21. *अग्निपुराण*, 340.5
22. क) *सरस्वतीकण्ठाभरणम्*, पञ्चमोऽध्यायः, का०सं० 1

    ख) *शृंगारप्रकाश*, एकादश अध्याय, पृ० 614-625

    ग) *भावप्रकाश*, द्वितीय अधिकार, का०सं० 62, 63, 64, 65
23. *अग्निपुराणम्*, 40.8
24. *वही*, 40-24, 33-50
25. *वही*, 40-51, 52, 58
26. *वही*, 40-60, 61
27. *वही*, 40-62, 63, 64, 65
28. *वही*, 40-66, से 70 कारिका
29. *वही*, 40 अध्याय - 28
30. *वही*, 41-1 से 4 कारिका
31. *वही*, 41-5 से 15 कारिकापर्यन्त
32. *वही*, 43-1
33. *वही*, 43-2
34. *वही*, 43-3 से लेकर 36 कारिकापर्यन्त
35. *अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम्*, 7-37 से 89 कारिकापर्यंत, *अग्निपुराण*, 43-37 से 89
36. *वही*, 8-1, *अग्निपुराण*, 44-1
37. *वही*, 8-2 से 31 तक, *अग्निपुराण*, 44, 2 से 31 तक
38. *वही*, 9-1, *अग्निपुराण*, 45-1
39. *वही*, 9-2, अग्निपुराण, 45-2
40. *अग्निपुराणोक्तं काव्यालंकारशास्त्रम्*, 9-3 से 19 तक, *अग्निपुराण*, 45-3 से 19 तक
41. *वही*, 10 -1,2,3, *अग्निपुराण*, 46-1,2,3
42. *वही*, 46- 4 से 26 कारिकापर्यन्त
43. *वही*, 46-22, 23, 24
44. *वही*, 47-1
45. *वही*, 47-2
46. *अग्निपुराणम्*, 47.3 से 23, 47-24 से 29, 47-30 से 33 कारिकापर्यन्त

अग्निपुराण : अद्वैतवेदान्त

डॉ० धनञ्जय कुमार पाण्डेय*

महर्षि बादरायण व्यास के समस्त निरूपणीय विषयों का अन्ततः अद्वैत निर्विशेष आत्मतत्त्व में पर्यवसित होना, उसके सर्वाधिष्ठान होने में अकाट्य प्रमाण है। सूक्ष्म चिन्तन के फलस्वरूप यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि संस्कृत-वाङ्मय का हर एक ज्ञान-विज्ञान संपन्न क्षेत्र कहीं-न-कहीं इस सुखस्वरूप आत्मवस्तु को केन्द्र में रखकर ही गतार्थ हो रहा है। केवल दर्शन ही नहीं, अपितु वेद से लेकर अद्यावधि जितने भी ग्रन्थरत्न विद्यमान हैं, उन सभी का चरमलक्ष्य परमसुख स्वरूप आत्मलाभ में ही पर्यवसित है। और वह परमसुख एकरूप है, जिसकी चिदेकरसता का प्रतिपादन वेदांतशास्त्र को अभीष्ट है।

अग्निपुराण का प्रस्तुत प्रतिपादन भी इसी निर्विशेष सच्चिदानन्द ब्रह्म की ओर हमारा मार्गदर्शन कर रहा है। *अग्निपुराण* ने अपने गर्भ में जिन भौतिक एवं आध्यात्मिक रहस्यों को धारण कर रखा है, उसके विषय से अभिज्ञ जन चिर-परिचित हैं। सकल शास्त्रों की अनुक्रमणिका यदि इसे कहा जाए, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस प्रकार इस पुराण के अन्तिम कुछ अध्याय जिस तत्त्व की विवेचना कर रहे हैं, उनके सन्दर्भों के प्रकाशनार्थ विचार का आरम्भ आवश्यक है।

इस पुराण के प्रतिपादन के विषय में यह कहा जा सकता है कि यह ऐसा सङ्गम है, जहाँ श्रुति एवं स्मृति एक साथ अपने वर्णनीय आत्मतत्त्व का अनुरूप विचेचन कर रही हैं। जिस प्रकार महर्षि बादरायण का *ब्रह्मसूत्र* एक स्थान पर अपने

---

* एसोसिएट प्रोफेसर, वैदिक दर्शन विभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-5

संसद में श्रुतियों तथा स्मृतियों के तात्पर्यार्थ का प्रकाशन कर रहा है, ठीक इसी प्रकार *अग्निपुराण* के अन्तिम 379-382 तक कुल चार अध्यायों में जो कुछ अपूर्व प्रतिपादित किया गया है, उसके तात्पर्य विनिश्चयार्थ प्रयास अपेक्षित है। वेदांत के समग्र प्रास्थानिक अंगों का यहाँ जिस प्रकार से युक्तियुक्त विवेचन उपस्थापित किया गया है, वह अपने आप में स्तुत्य है। अद्वैततत्त्व का निरूपण करते हुए यहाँ कहा गया है–

'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तं सत्यमानन्दमद्वयम् ।
ब्रह्माहमस्म्यहं ब्रह्म सविज्ञानं विमुक्त ओम् ।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः समाधिर्मोक्षदः परः ॥'[1]

इस पुराण-वचन से अद्वैत का प्रत्येक सन्दर्भ अपने आप स्पष्ट प्रतीत हो रहा है और इसी के अनन्तर अन्य चार अध्यायों में इसका विवरण प्रस्तुत किया गया है। यहाँ यद्यपि सविशेष एवं निर्विशेष– दोनों ही स्वरूपों का उपपादन किया गया है, फिर भी निर्विशेषता में ही सविशेषता के अवस्थान को अन्ततः सिद्ध कर दिया गया है। 'भगवान्'– इस शब्द के वाच्यार्थ को स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना॥'[2]

अर्थात्, ऐश्वर्य, पराक्रम आदि जिसमें नित्य सन्निहित हों, उसको भगवान् कहा जाता है। इस प्रकार यह सविशेषता के पक्ष का समर्थक वचन है, यह भी कहा जाता है। किन्तु अधिकारी ब्रह्मजिज्ञासु पुरुष की अकस्मात् निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म में प्रवृत्ति कथमपि सुगम्य नहीं हो सकती, एतदर्थ सगुण सविशेष की प्रवृत्ति यहाँ अभिप्रेत है। स्वयं भगवत्पाद भी अपने अद्वैतब्रह्मवाद के स्थापनार्थ यह कह रहे हैं–

'द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते- नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टम् ।
तद्विपरीतं च 'सर्वोपाधिविवर्जितम्-' 'एक एव तु
परमात्मेश्वरस्तैस्तैर्गुणविशेषैर्विशिष्ट उपास्यो यद्यपि भवति तथापि'[3]

इसका आशय इस प्रकार भी अभिव्यक्त किया जा सकता है कि चित्त की एकाग्रता हेतु उपासनाओं का प्रयोजन निर्धारित किया गया है। अतएव वेदांतसारकर्ता ने इसको स्पष्ट करते हुए इसकी अनिवार्यता को दर्शाया है–

'उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि ।

एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परं प्रयोजनमुपासनानां तु चित्तैकाग्रयम्।'[4]

इन उद्धृत वचनों की संगति को इस प्रकार और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। अर्थात् **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'**– इस सूत्रस्थ 'अथ' शब्द के द्वारा अद्वैतवेदांत के आचार्य आनन्तर्य रूप अर्थ का अभिधान करते हैं। जिस आनन्तर्य के अनन्तर वेदांताधिकारी की प्रवृत्ति देखी जाती है, उनमें नित्यानित्यवस्तुविवेक आदि साधन चतुष्ट्य का वेदांत में सम्यक् निरूपण है। उस साधन चतुष्ट्य से संपन्न अधिकारी ही अद्वैतविद्या का वास्तविक जिज्ञासु हो सकता है। अर्थात् साधन सम्पत्ति से ओतप्रोत अधिकारी के लिए वेद एवं वेदांगों का अध्ययन भी अनिवार्य है, जिससे वह काम्य एवं निषिद्ध कर्मों के स्वरूप को भली-भाँति जान सके तथा नित्य-नैमित्तिक प्रायश्चित तथा उपासनाओं के सदाचरण के द्वारा निर्मल अंतःकरणवाला होकर वेदांतशास्त्र में प्रवृत्त हो सके। इसी आशय के स्पष्टीकरणार्थ यहाँ भगवान् के अभिधेय अर्थ का पुराण-वचन अभिधान कर रहा है, जिससे अधिकारिता का भी विनिश्चय हो सके तथा सुलभतया ब्रह्मविद्या का भी यथोक्त प्रकाशन किया जा सके।

यह कहना भी अयुक्त नहीं होगा कि 378वें एवं 379वें अध्याय में अधिकारिता का अत्यन्त संक्षेप में श्लिष्ट प्रतिपादन किया गया है। 'भगवान्' शब्द से संबंधित एक अन्य श्लोक में कहा गया है–

'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥'[5]

यहाँ पर यह श्लोक सगुण एवं निर्गुण– दोनों के पक्ष को अत्यन्त सुन्दर युक्ति से प्रतिपादित कर रहा है। श्रुति की अपेक्षा पुराण का यह पार्थक्य है कि जहाँ भागत्यागलक्षणा को आधार बनाकर प्रतिपत्ति कराई जा रही है, वहाँ पर इस अभिधा वचनों के द्वारा ही उक्त प्रतिपत्ति सहज रूप से प्रतिफलित है। यह भी ध्यातव्य है कि भगवान् के इस वाच्यार्थ का अवबोधन करानेवाला पुराण-वचन भी उनकी निर्विशेषता के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता है। चूँकि उपनिषद्-वचन उसी निर्विशेष ब्रह्म में तात्पर्यत्वेन समन्वित हैं, अतः उनका परिस्फुरण पुराण का विषय होने से सोपानविधया यहाँ उनका व्याख्यान अभिप्रेत है।

इसके आगे जिस अज्ञान का विवरण समुपलब्ध होता है, उससे अद्वैत का ही मण्डन देखा जा सकता है; क्योंकि अद्वैत में जिस अज्ञान की भावरूपता का

प्रतिपादन किया गया है, वह सत् एवं असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय है। इस प्रकार भगवान् शब्द के अभिधेयार्थ का कथन करता हुआ पुराण अव्यवहितोत्तर जब अज्ञान के विषय का प्रकाशन कर रहा है, तब अद्वैततत्त्व का अनायास बुद्धि में विषय होना, उस तत्त्व के कथन में सटीक प्रमाण सिद्ध होता है।

'अविद्याभवसम्भूतिर्बीजमेतद्द्विधा स्थितम् ।
पञ्चभूतात्मके देहे देही मोहतमाश्रितः ॥'[6]

इससे अनात्मा में आत्मवस्तु का अध्यास और आत्मा में अनात्म नामरूपादिप्रपंच का अध्यास आपाततः सिद्ध होता है। और इसी अध्यास की निवृत्ति के लिए अखण्डाकार चित्त-वृत्ति की उपयोगिता सिद्ध होती है।

'प्रत्यस्तमितभेदं यत्सत्तामात्रमगोचरम् ।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम् ॥'[7]

इस वचन के द्वारा केवल सद्रूप जिस स्वरूप का विनिश्चय कराया जा रहा है, उससे अद्वैत लक्षण ब्रह्म प्रतिपादित हो रहा है। और उस ज्ञान को ब्रह्म के साथ अभेदेन बोध कराना उसके विलक्षण स्वरूप को अभिव्यक्त करता है।

'तच्च विष्णोः परं रूपमरूपस्याजमक्षरम् ।
अशक्यं प्रथमं ध्यातुमतो मूर्तादि चिन्तयेत्॥'[8]

इत्यादि के सन्दर्भों को दृष्टिगत करने पर अन्यान्य अद्वैत-विषयक विचारणा अकस्मात् उपस्थित हो जाती है। अर्थात् विष्णु पद का व्यापक अर्थ जब हम गृहीत करते हैं, तब उसका अभिधान ब्रह्म के ही रूप में सामने आता है। क्योंकि *अद्वैतसिद्धि* ग्रन्थ के कर्ता आचार्य मधुसूदन सरस्वती (1540-1640) भी विष्णु का अर्थ व्यापक ही ग्रहण करते हैं। **'विष्णुर्विकल्पोज्झितः'**– उनके इस मङ्गलाचरणांश के द्वारा व्यापक जीव का अभिधान किया गया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि उपर्युक्त श्लोक सगुण के पारमार्थिक सत्ता का ही परिचायक है। यदि आत्मा जीव का पामार्थिक स्वरूप न हो, तब 'तत्त्वमसि'– यह वाक्य व्यर्थ होने लगेगा। अन्ततः उसकी सार्थकता के लिए दोनों का ऐक्याभिधान अद्वैतवेदांत में अत्यावश्यक है। सगुण एवं निर्गुण– दोनों ही भिन्न-भिन्न सत्ता किसी भी युक्ति से सिद्ध नहीं की जा सकती।

चूँकि श्रुति **'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः'** यहाँ एक ही दर्शनीय आत्मा का

आख्यान कर रही है, अतः या तो इसे सगुण सविशेष मान लिया जाए या निर्गुण निर्विशेष मान लिया जाय। अद्वैत तो निर्विशेष को पारमार्थिक एव सविशेष को व्यावहारिक मानकर अपने प्रतिपादन को दिशा देता हुआ दृष्टिगोचर है, किन्तु सविशेष को पारमार्थिक मानने में श्रुतिवचनों की सङ्गति किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। क्योंकि *श्रीमद्भगवद्गीता* में भी स्वयं भगवान् अपने स्वरूप का प्रदर्शन करते हुए कह रहे हैं–

'ब्रह्मणो कि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥'[9]

यहाँ भगवत्पाद ने **'ब्रह्मणः परमात्मनो हि यस्मात्प्रतिष्ठाहं, प्रतितिष्ठत्यस्मिन्निति प्रतिष्णहं प्रत्यगात्मा'**[10]– ऐसा व्याख्यान किया है। आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वती 'सोपाधिक ब्रह्म की मैं प्रतिष्ठा हूँ'– ऐसा प्रतिपादन करके निर्विकल्पक ब्रह्म की सिद्धि में इस श्लोक का आशय निरूपित करते हैं।

एक बात यहाँ अवश्य ही समीक्षणीय है कि भगवान् के अवतार लेने के पश्चात् यदि लीला-विग्रह ही पारमार्थिक स्वरूप है, तब अर्जुन के लिए दिव्य चक्षु का क्या तात्पर्य अवधारित किया जाए और यदि सगुण-सविशेष तक ही बात सीमित है तब ज्ञानोपदेश एवं **'ऊर्ध्वमूलमधः शाखम्'** इत्यादि का क्या प्रयोजन है। ऐसी अनेकानेक शंकाएँ अहर्निश विचारशील अधिकारी एवं प्रेक्षावान् अध्येता के मन में देखी जा सकती हैं। स्वयं श्रीभगवानुवाच के ऊपर भी यदि दृष्टि डाली जाए तो यह बात अवश्य सामने आ सकती है कि इस भगवान् का केवल सामने बोलनेवाला नर ही अर्थ है तो **'भक्त्या मामभिजानाति'** आदि के द्वारा किसको जानने योग्य कहा जाए। इसके ऊपर के रूप में यह कहा जा सकता है कि भगवत्ता वस्तुतः सगुण एवं निर्गुण– दोनों दशा में अक्षुण्ण है, भगवान् श्रीकृष्ण अपने पारमार्थिक अक्षर एवं अव्यय स्वरूप को नित्य जानते हैं, वह ही समस्त अज्ञान का निवर्तक है। केवल अधिकारसंपन्न प्राणियों के अनुग्रहार्थ इस सविशेष के द्वारा निर्विशेष का जागरण करा रहे हैं। यदि ऐसा न हो, केवल सविशेष दिखाई देनेवाला ही अज्ञान का निवर्तक मान लिया जाए, तब किसी भी प्रकार की युद्धादि की स्थिति सम्भव नहीं हो सकती है। तस्मात् साक्षात् भगवान् का भी अर्थ निर्विशेष ब्रह्म ही है। चूँकि वह ब्रह्म माया को वश में करके लोककल्याणार्थ जिस वपु का दिग्दर्शन करा रहा है, वह भी भगवान् का एक अपना ही स्वरूप है। अन्ततः भगवान् शब्द भी मुख्य रूप से निर्विशेष में

पर्यवसित होता हुआ दिखाई देता है और *अग्निपुराण* का यह अध्याय भी जो भगवान् के स्वरूप को प्रकाशन करके आरम्भ हुआ, फलतः अद्वैतवेदांत के निर्विशेष ब्रह्माभिधान में ही गतार्थ है क्योंकि

'भवत्यभेदो भेदश्च तस्याज्ञानकृतो भवेत्'[11]

उपर्युक्त अध्यायान्त श्लोकांश के द्वारा जिस भेद एवं अभेद का कथन किया जा रहा है उसके प्रसंग में अनिवार्यतः यह मान लेना युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि अभेद का कथन परमार्थतः है और भेद का कथन व्यावहारिक ही है। अन्यथा अन्य कोई भी तर्क अथवा प्रमाण इस भेद का निदान करने में असमर्थ ही हैं। यदि दोनों वास्तविक होते तब पुराण का उक्त कथन स्वयं बाधितार्थ कथन का प्रशंसक न होता। तात्पर्यतः भगवान् का उत्तर स्वरूप पारमार्थिक है जो निर्विशेषता को मण्डित करते हुए अपनी कक्षा में सविशेषता दशा में भी अक्षुण्ण ही प्रतीत हो रहा है।

'अद्वैतब्रह्मविज्ञानं वक्ष्ये यद्भरतोऽगदत्' यहाँ से जिस आख्यान का आश्रयण कर अद्वैत तत्त्व सहज रूप से अभिविन्यस्त किया गया है, उसकी मीमांसा सम्पूर्ण *अग्निपुराण* के परमगन्तव्य को अत्यन्त सुस्पष्ट कर देती है।

'अद्वैतब्रह्मभूतश्च जडवल्लोकमाचरत् ।
क्षता सौवीरराजस्य विशिष्टयोगममन्यत ॥'[12]

अग्निपुराण के इस वचन से भरत के अद्वैत बोध एवं उनकी अद्वैततत्त्वबोध सम्पन्नता प्रकाशित हो रही है। इनके इस प्रसङ्ग के द्वारा पुनः साधन सम्पत्ति का पूर्वभाव भी लक्षित हो रहा है। इससे प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत अत्यन्त सुग्राह्य श्रीमद्भगवद्गीता-वचन भी अपनी सम्बद्धता का प्रकाशन करता है, क्योंकि–

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'[13]

उपर्युक्त वचन अनेक जन्मार्जित पुण्य का उल्लेख कर रहा है। यद्यपि ज्ञान की यह महिमा है कि वह अवसर प्राप्त होने पर अपने प्रभाव कौशल से प्रकाश कर देता है। भरत के अन्दर ब्रह्मसाक्षात्कार के अपेक्षित सब कुछ विद्यमान है, जिसकी आलोचना एवं वर्णन प्रस्तुत पुराण में वैशद्येन किया गया है। यहाँ जिनका अद्वैततत्त्व से साक्षात्संबंध है, उन्हीं का निरूपण आवश्यक प्रतीत होता है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति न होगी कि सम्पूर्ण जीवन के उपकारक जितने भी शास्त्र एवं विद्याएँ हैं,

सभी का परमविनियोग एवं परम प्रयोजन अद्वैत भाव में ही निहित है। व्याकरणादि वेद के अङ्ग एवं साहित्येतिहास, पुराणादि समग्र ज्ञान-राशि मानव के परम हित की व्याख्या में गतार्थ हैं, जितने भी दर्शन एवं मोक्षशास्त्र हैं उन सभी का चरमलक्ष्य अद्वैत भाव ही है। भौतिकादि विवरणों की भी पूर्णता इसी ब्रह्मसाक्षात्कार अर्थात् स्वस्वरूपावाप्ति में ही निहित है। भरत के माध्यम से जिस विषयवस्तु की ओर आचार्य बादरायण हमारा मार्गदर्शन कर रहे हैं, उसका वास्तविक केन्द्रिय संस्थाप्य विषय अद्वैततत्त्व ही है। अतएव इस पुराण के कलेवर को अद्वैततत्त्व निरूपण के द्वारा पूर्णता की दिशा प्रदान की गयी है। सभी मनीषियों को यह बात सहज रूप से ज्ञात है कि आचार्य अपने चरमहार्द का प्रकाशन अन्त में करते हैं। क्योंकि बुद्धि की परिपक्वता पर ही सब कुछ निर्धारित होता है। भरत का ज्ञान अपनी चरम अवस्था को प्राप्त हो चुका है, क्योंकि उनके जीवन में जो कुछ घटित सुना जाता है, उन सभी घटनाओं का कहीं-न-कहीं अद्वैत के साथ एक अपना प्रायोजित सम्बन्ध है।

इस धरा को कर्मभूमि के रूप में चित्रित किया गया है। कर्म से तात्पर्य पुरुषार्थ से है, जिसका सरल अर्थ है मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है और वह परम पुरुषार्थ भरत के द्वारा आत्मसात् किया गया है, ऐसे में जब उनके नाम से इस देश का हर एक ज्ञान-विज्ञान सहज रूप से अभिव्यक्त हो जाता है, जिसके फलस्वरूप उनका आख्यान में वर्णन सुसंगत है। आज तक के इतिहास में सबसे बड़ा युद्ध महाभारत के नाम से ख्यात है, जो भरत से सम्बन्ध को पृथक् नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में भरत एक स्तुत्य ब्रह्मवेत्ता हैं, जिनका बार-बार आख्यानों में विवरण परम पुरुषार्थ के क्षेत्र में अग्रसर होने हेतु सम्बल एवं दृढ़ आधार है। इन सभी का निःस्यन्द यदि कहा जाए तो आचार्य बादरायण को भरत का कोई भी उपमान नहीं सूझता है, और अन्ततः अपने हृदय *श्रीमद्भागवतमहापुराण* में भी परमभागवत श्रीभरत का वह सजीव वर्णन करते नहीं थक रहे हैं। इतना ही नहीं, सभी चरित्रों का मात्र पद्य में ही वर्णन है, किन्तु भरत-चरित्र ही ऐसा है जो गद्य में भी अंकित किया गया है। इन्हीं समस्त कारणों से यहाँ भरत का ही उपाख्यान के द्वारा अद्वैतबोधसंपन्न आचार्यों के रूप में मण्डन किया गया है और भारत को यह संकेत भी मिल रहा है कि यह पुण्यक्षेत्र अद्वैतबोध को अक्षुण्ण रखे। भरत का अद्वैतबोध आज भी 'भारत' इस संज्ञा के रूप में विद्यमान है, जिससे ख्यात वस्तु का ही प्रतिपादन अभीष्ट है।

इस वर्णन में सबसे महत्त्व की बात यह है कि भरत ने भार का प्रत्याख्यान किया है। वस्तुतः भार ही दुःख का कारण है चाहे वह सांसारिक दुःख हो या

आध्यात्मिक, सर्वथा भारबुद्धि ही दुःखकर्त्री है। और अज्ञान ही ऐसा भार है जिससे उसके द्वारा समुत्पन्न सारा प्रपञ्च भारमय है, जो शास्त्रों के द्वारा विविध पद्धति का आश्रयणकर प्रतिपादित किया गया है। चूँकि भरत पर भी भार का आरोप राजा सौवीर के द्वारा किया गया, किन्तु बोध पर कोई भी भार या अज्ञान अवस्थित नहीं हो सकता है। ज्ञान तो अपने स्वयंप्रकाश से अविद्या या अज्ञान का ध्वंसक है फिर वह कैसे भारवान् हो सकता है। इसी तथ्य के प्रकाशनार्थ प्रस्तुत आख्यायिका मण्डित की गई है।

'स्कन्धस्थितेयं शिविका मम भारोऽत्र किंकृतः' [14]

अर्थात्, राजा की पालकी तो मेरे स्कन्ध पर है यह कहा गया है।

यहाँ वेदांतानुगुण समीक्षण प्रस्तुत करना परम आवश्यक प्रतीत हो रहा है। वस्तुतः देह एवं देही का दूर तक कोई संबंध नहीं है। विषय एवं विषयी का कोई भी संबंध नहीं है। वेदांत की भाषा में दृग्दृश्य का कोई वास्तविक संबंध नहीं है, यदि है भी तो आध्यात्मिक संबंध ही है, जो मिथ्या है। इस आख्यायिका के द्वारा, जहाँ परमात्मा की दृग्रूपता का वर्णन किया गया है, वहीं पर प्रपञ्च के मिथ्यात्व का भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रतिपादन किया है। अद्वैतमत में परमार्थ की उपपत्ति के लिए पदार्थ को दृग् एवं दृश्य—इन दो भेदों में व्यवहार रीति से विभक्त किया गया है। दृक् तो स्वयं प्रकार निर्विशेष अद्वितीय ब्रह्म ही है, किन्तु दृश्य नाना रूपों में अवभासित प्रपञ्च है तो भाररूप है, तथा जिसकी स्थिति, उत्पत्ति एवं लय— तीनों को मिथ्या रूप में अभिवर्णित किया गया है। आत्मा का अनात्म प्रपञ्च जो देहेन्द्रियादि के रूप में प्रतीयमान एवं दृष्टिगोचर है, उसके साथ कोई भी संबंध नहीं है। संबंध का अवभासन मात्र अविद्या या अज्ञान से हो रहा है, जिसकी निवृत्ति मात्र अद्वैतवेदांत को अभीष्ट है। निवृत्ति के पश्चात् तो ब्रह्म का सहज स्वरूप स्वयं प्रकाश होने से स्वयंप्राप्त है, उसकी प्राप्ति हेतु किसी अन्य उपाय की कथमपि आवश्यकता नहीं है।

अब हमें दृग् आत्मा के स्वरूप के विषय में अवश्य विचार कर लेना चाहिए। **'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्'** इत्यादि उपनिषद्-वचन उस तत्त्व को सत् पद से अवबोधित करा रहे हैं। इतना ही नहीं, उसकी सत्ता को भी श्रुति त्रिकालाबाध्यत्व के रूप में प्रकाशित कर रही है। ऐसे में प्रतीयमान वस्तु इस निष्कर्ष पर खरा नहीं उतर रहा है। प्रतिक्षण जन्म एवं विनाश व्यवहार काल में भी सर्वजनसंवेद्य है। चूँकि प्रतीति काल में भी वस्तु दिग्देशकाल से संबंधित होती हुई

अनित्यता को प्राप्त है, तब इसकी सत्ता कोई पूर्व में किसी भी प्रकार से सुनिश्चित नहीं की जा सकती है। इसमें परिस्फुरित सत्ता भी उसी अबाध्य सत्ता का चमत्कार है। ध्यातव्य है कि भरत ने जिन युक्तियों के द्वारा ब्रह्म की अबाधित सत्ता का उल्लेख किया है वह अद्वैत का अन्तिम परिपाक है। साथ ही प्रपञ्च के बाध्यत्व का भी उल्लेख है।

'आत्मा शुद्धोऽक्षरः शान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः' [15]

इससे आत्मा के शुद्धत्व का वर्णन करते हुए अक्षर, शान्त एवं निर्गुण होते हुए उसके प्रकृति से परत्व अर्थात् असंस्पृष्टता का अवबोध होता है। देहादि के धर्मों का आत्मा से आरोप मात्र अज्ञानमूलक है। क्योंकि जड़ के धर्म कभी भी चेतन में सम्भव नहीं है। स्वयं श्रुतियों में स्थूलत्व, काणत्वादि देह एवं इन्द्रियों के धर्मों का आरोप भी आत्मचैतन्य में अविद्यामूलक ही कहा गया है। अतएव भगवत्पाद ने अपने भाष्य में प्रथमतया अध्यास अर्थात् अविद्या या अज्ञान का उपस्थापन किया है यहाँ तक कि–

'न शुक्लं न कृष्णं न रक्तं न पीतं
न कुब्जं न पीनं न हस्वं न दीर्घम्' [16]

इस दशश्लोकी के श्लोक में आत्मा को अरूप तथा ज्योतिस्वरूप बतलाया गया है। ठीक इसी प्रकार देहादि के धर्मों का यहाँ भी आत्मा में किसी भी प्रकार से सत्त्व सम्भव नहीं है। यहाँ पर अन्त में ज्ञानस्वरूप का कथन बिल्कुल अद्वैत पक्ष के कपाट को निरावृत कर देता है, जैसा कि कहा गया है–

'मुक्तिं त्यवाप भरतो ज्ञानसारेण भूपतिः ।
संसाराज्ञानवृक्षारि ज्ञानं ब्रह्मेति चिन्तय ॥' [17]

उपर्युक्त कथन के बल से ज्ञानस्वरूप सत्यस्वरूप का अभिवर्णन, श्रुतियों के तात्पर्यभूत ब्रह्म के प्रमाण हैं। यहाँ पुराण एवं श्रुति की एकवाक्यता से ब्रह्म का अपना अमल स्वरूप स्वतः प्रकाशित हो जाता है, जिसके विषय में अन्य शंकाओं का किसी भी प्रकार से अवसर असम्भव है।

एक अन्य समीक्षण की दिशा में यहाँ यह अभिव्यक्त कर देना समुचित प्रतीत हो रहा है कि *अग्निपुराण* का प्रस्तुत अद्वैत ब्रह्म का निरूपण श्रुतिस्मृतिपुराण एवं इतिहास का एकत्र स्थापक होते हुए इन चारों की एकवाक्यता का भी दिग्दर्शन कराता है। पुराण का आश्रयण करके अद्वैत का इस अध्याय में स्थापन किया गया

है। अनन्तर दो अध्यायों में क्रमशः इतिहास एवं श्रुति के उल्लिखित विचारों का इस पुराण में समावेशकर ब्रह्मतत्त्व प्रदर्शित किया गया है। इतना तो स्पष्ट है कि श्रुतियों का जो विवरण पुराणों में अभिव्याप्त है, वह अधिकारी के भेद से संगत है। 381वें अध्याय में गीतासार के द्वारा अद्वैत के हर एक प्रतिपाद्य को अनुपम दिग्दर्शन कराया गया है।

शोक एवं मोह— दोनों के प्रहार से अभिभूत कहीं भी मन अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त नहीं हो सकता है। मन की दृढ़ता पर ही सब कुछ निर्भर है। आत्मजिज्ञासा की दिशा में मन का अत्यन्त निर्मल होना आवश्यक है। इन्हीं बिन्दुओं को ध्यान में रखकर मन के उक्त स्वाभाविक दोषों के अपनयनार्थ प्रकाश डाला गया है। **'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेष्वभिजायते'** के द्वारा विषय-सङ्ग ही मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। अतएव भगवत्पादगुरु ने **'के शत्रवः सन्ति निजेन्द्रियाणि'** इत्यादि के द्वारा इन्द्रियों के दमन को दर्शाया है। पश्चात् **'तान्येव मित्राणि जितानि यानि'**— इस वाक्य से यह प्रकाशित किया है कि इनका अधिकारी पुरुष के वश में हो जाना सभी विपत्तियों का निवारण भी है। गीतासार में इन्हीं सन्दर्भों का समुल्लेख किया गया है।

'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन' [18]

इत्यादि के गम्भीर भावों का यथावत् उपन्यास इस बात का द्योतक है कि अद्वैतविद्या के द्वारा ही सभी प्रकार के यातायात-बन्धनों की निवृत्ति या नाश सम्भव है। मनुष्यता केवल दृष्ट-सुख तक ही सीमित नहीं, अपितु एक ऐसे सुख की ओर हमारा ध्यान एवं आकर्षण कर रही है, जहाँ फिर भी किसी भी प्रकार के दुःख की आवश्यकता नहीं है। सब कुछ धर्मार्थकाम का निरूपण करते हुए पुराण जब ऐसी स्थिति के साथ हमारे तादात्म्य का स्थापन करता है तब अवश्य ही सहज रूप से यह विचार हमें इस दिशा में सोचने के लिए प्रतिबद्ध कर देता है कि हमारा गन्तव्य क्या है? शास्त्र हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए हमें जब इनके विपरीत दिशा में चलने का निर्देश कर रहें हैं तब अवश्य ही इनके परम तात्पर्यों का विचार करने पर अवबोध हो जाता है।

जहाँ तक निश्चय की बात है, वहाँ निर्विशेष ही इस पुराण का भी परम प्रयोजन है। गीतासार में यहाँ ठीक *भगवद्गीता* की तरह कर्मोपासना एवं ज्ञान के ऊपर पृथक्-पृथक् प्रकाश डाला गया है। इनके समुच्चय के विषय में कथमपि

स्वीकृति नहीं है। समुच्चय का पक्ष न तो युक्तियुक्त है, न ही श्रुतियों से अनुमोदित ही है। कर्म का फल एवं उपासना का फल बिल्कुल अलग-अलग है। ज्ञान का फल अज्ञान की निवृत्ति है, जो कर्म एवं उपासना से सम्भव नहीं है। पुराण हमारे समक्ष हर एक पक्ष का उपस्थापन करके अपने तात्पर्य का भी प्रकाशन कर देते हैं। यदि साक्षात् प्रकाशन न देखा जा रहा हो, तब श्रुति से संगत युक्ति एवं प्रमाण की कसौटी पर अवश्य ही हमें गन्तव्य का निर्धारण या निश्चय कर लेना चाहिए। **'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** की तभी सार्थकता हो सकती है।

'ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगद्विष्णुं च वेत्ति यः ।
सिद्धिमाप्नोति भगवद्भक्तो भगवतो ध्रुवम् ॥'[19]

उपर्युक्त वचन के अनुसार जिस एकत्व का स्फुरण हो रहा है, वह एकात्मता अद्वैतविद्या द्वारा ही अधिगत हो सकती है। अर्थात् अद्वैततत्त्व की अन्ततः इस पुराण का भी परम विषय निर्धारित हो रहा है।

यमगीता का सन्दर्भ श्रुति के अपूर्व बोधन में प्रमाण है। क्योंकि यम के संवाद का कथनोपकथन विद्या की सार्थकता का निदर्शक है।

'वसिष्ठ यमगीतोक्ता पठतां भुक्तिमुक्तिदा ।
आत्यन्तिको लयः प्रोक्तो वेदान्तब्रह्मधीमयः ॥'[20]

उपर्युक्त उक्ति से आत्यन्तिक लय का कारक केवल ज्ञान ही है। यदि वस्तु परमार्थतः सत्य हो अथवा प्रपञ्च देहेन्द्रियादि यदि वास्तविक कारक हैं, तक इनका किसी भी प्रकार से आत्यन्तिक लय नहीं हो सकता है। पारिशेष्यात् यह सिद्ध हो जाता है कि नाना रूपों में अवभाषित होनेवाला दृश्य प्रपञ्च अज्ञानमूलक है, और उक्त अज्ञान की निवृत्ति केवल ज्ञान से ही सम्भव है। *कठोपनिषद्* में यम द्वारा जिस आत्मतत्त्व का विवेचन हुआ है, उसी का पुनः वर्णन **'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'**– इस ब्रह्मसूत्रवाक्य का समर्थन कर रहा है। यह भी अभिप्रेक्षणीय है कि *यमोपनिषद्* या *नाचिकेतोपनिषत्* ऐसा न कहकर *यमगीता* का कथन स्मृतित्व के परिबृंहण का परिचायक है। **'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'**– इस उक्ति के द्वारा महाकवि कालिदास ने स्मृति के सन्दर्भों का सहज रूप से प्रामाण्य भी प्रतिपादित कर दिया है।

'अभिन्नयोर्भेदकरः प्रत्ययो यः परात्मनः ।
तच्छान्तिपरमं श्रेयो ब्रह्मोद्गीतमुदाहृतम् ॥'[21]

इस वचन के द्वारा जिस अभिन्नता का समुल्लेख किया गया है वह श्रुतिसम्मत अद्वितीय बोध ही है।

समग्र *अग्निपुराण* के वर्णनीय विषय का अवलोकन करने के पश्चात् यह सिद्ध होता है कि इस पुराण के अन्तिम कतिपय अध्याय हमारा ध्यान चरम पुरुषार्थ की ओर आकृष्ट करते हैं। जिस धर्मार्थकाम– इस त्रिविध अनित्य पुरुषार्थ का वर्णन *अग्निपुराण* में सम्प्राप्त है, उसके अन्त में नित्य पुरुषार्थ का सुस्पष्ट वर्णन अद्वैततत्त्व का अभिवर्धक ही है। **'एतावदरे खल्वमृतत्वम्'**– इस *मैत्रेयीब्राह्मण* के द्वारा **'एतावत्'** कहने से ब्रह्मविद्या का महत्त्व और अन्यान्य तदतिरिक्त वस्तुओं की सारहीनता स्वतः सिद्ध है। **'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'**– इस श्रुतिवाक्य के द्वारा आत्मतत्त्व की अत्यन्तप्रियता का भी हमें ज्ञान होता है।

सन्दर्भ :

1. *अग्निपुराण*, 378.22-23
2. *वही*, 379.11
3. *ब्रह्मसूत्र*, शारीरकभाष्य, 1-1-6-12
4. अधिकारी निरूपण
5. *अग्निपुराण*, 379.13
6. *वही*, 379.16
7. *वही*, 379.30
8. *वही*, 379.31
9. *श्रीमद्भगवद्गीता*, 14.27
10. *श्रीमद्भगवद्गीता*, शांकरभाष्य, 14.27
11. *अग्निपुराण*, 379.32
12. *अग्निपुराण*, 380.3
13. *श्रीमद्भगवद्गीता*, 6.45
14. *अग्निपुराण*, 380.9
15. *वही*, 380.13
16. *दशश्लोकी*
17. *अग्निपुराण*, 380.68
18. *वही*, 381.7
19. *वही*, 381.58
20. *वही*, 382.37
21. *वही*, 382.7

अग्निपुराण : वेदान्तशास्त्र

प्रतिभा शास्त्री*

रत में सनातन सुदृढ़ ज्ञान-परम्परा रही है। इसमें चतुर्दश विद्याओं की गणना की जाती है। जिनमें पुराणों की गणना प्रथम स्थान पर है–

'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥'[1]

ब्रह्मा के द्वारा सर्वप्रथम पुराणों की ही रचना हुई, तदन्तर ही वेदों का प्रादुर्भाव हुआ–

'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥'[2]

पुराणों में भारत की आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक उन्नति की सर्वोच्चता प्राप्त होती है। पुराण न केवल इतिहास हैं, अपितु उनमें विश्वकल्याणकारी आधिभौतिकादि त्रिविध उन्नति का मार्ग भी प्रदर्शित किया गया है। पुरातन काल से ही भारतीय संस्कृति, धर्म तथा दर्शन के विषय में पुराणों का महत्त्व है।

पुराण वस्तुतः वेदों के ही विस्तार हैं। पुराण वेदों के अर्थों को सरल शब्दों में तथा कथानक शैली के द्वारा सुस्पष्ट करते हैं–

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत्'[3]

'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनि, यास्क व स्वयं पुराणों ने प्रस्तुत की है।

---

* शोधच्छात्रा, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

वायुपुराण के अनुसार **'यस्मात् पुरा ह्यनक्तीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम्'**[4] अर्थात् जो पूर्व में भी सजीव था वह पुराण है।

यास्क के अनुसार **'पुरा नवं भवति'**[5] अर्थात् जो पुराना होते हुए भी नवीन है, वह पुराण है।

पुराणों की महत्ता वेदों से किसी भी प्रकार से कम नहीं है। वेदों के सदृश इतिहास और पुराण भी ब्रह्म के निःश्वास हैं–

'एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणम्'[6]

सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर प्रलयपर्यन्त सम्पूर्ण विश्व के क्रमबद्ध इतिहास को प्रदर्शित करनेवाले भारतीय एवं वैदिक संस्कृति के प्रतीक स्वरूप, धर्म की स्थापना व सम्पूर्ण विषयों को आत्मसात् करनेवाले पुराणों की संख्या अष्टादश है।

पुराणों को भारतीय ज्ञानकोश कहते हैं क्योंकि इनमें जनसाधारण के लिए उपयोगी विविध विषयों तथा धर्मशास्त्र, राजनीति, धनुर्विद्या, सैन्यविद्या, अध्यात्मपरक कथाओं आदि का विवेचन है।

अग्निपुराण साहित्य में अपनी व्यापक दृष्टि तथा विशाल ज्ञान-भंडार के कारण विशिष्ट स्थान रखता है। अतएव इसको भारतीय विद्याओं का विश्वकोश कहते हैं। विषय की विविधता एवं लोकप्रियता की दृष्टि से इस पुराण का विशेष महत्व है। इसमें 383 अध्याय हैं एवं *नारदपुराण* के अनुसार 15,000 श्लोक तथा *मत्स्यपुराण* के अनुसार 16,000 श्लोक हैं।

इस पुराण के अनुशीलन से समस्त ज्ञान-विज्ञान का परिचय प्राप्त होता हैं। कहा भी है–

'आग्नेय हि पुराणेऽस्मिन् सर्वाः विद्याः प्रदर्शिताः'[7]

अग्निपुराण की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए स्वयं अग्निदेव ने इसे ब्रह्मरूप बताया है एवं उसमें प्रतिपादित विद्याओं के विषय में कहते हैं कि यह पुराण सप्रपञ्च और निष्प्रपञ्च (परा)– दोनों विद्याओं से युक्त है। प्रथम प्रकार की विद्या में ऋक् आदि चारों वेद, वेदांग, धर्मशास्त्र, मीमांसा, न्याय आदि हैं–

'आग्नेयं ब्रह्मरूपं ते पुराणं कथितं मया।

सप्रपञ्चं निष्प्रपञ्चं विद्याद्वयमयं महत् ॥
ऋग्यजुः समाथर्वाख्या विद्याविष्णुर्जगज्जनिः ।
छन्दः शिक्षा व्याकरणं निघण्टु ज्योतिराख्यका ॥
निरुक्तं धर्मशास्त्रादिमीमांसान्यायविस्तराः ।
आयुर्वेदपुराणाख्या धनुर्गन्धर्वविस्तराः ॥'[8]

द्वितीय प्रकार की विद्या में वेदान्तदर्शन है तथा वह ज्ञान जो ब्रह्मसाक्षात्कार करा देता है–

'विद्या सैवार्थशास्त्राख्या वेदान्तान्या हरिर्महान् ।
इत्येषा चापरा विद्या परं विद्याऽक्षरं परम् ॥'[9]

भारतीय दर्शन, संस्कृति एवं अध्यात्मशास्त्र में वेदान्तदर्शन का सर्वाधिक महत्त्व है। भारतीय ज्ञान परम्परा में आचार और विचार का बड़ा घनिष्ठ संबंध है। अतः पुराणों में जीवनोपयोगी लौकिक विषयों के साथ दार्शनिक तत्त्वों का भी सूक्ष्म विवेचन है। पुराण नाना रूपों में भासमान जगत् के मूल में एक सर्वशक्तिसम्पन्न तत्त्व की सत्ता स्वीकार करता है, जिसकी सत्ता से यह विश्व स्थिति सम्पन्न है।

अद्वैत वेदान्त भी इसी परम तत्त्व की सत्ता मानता है एवं इसका लक्ष्य ब्रह्म प्राप्ति है। अतः इसकी प्राप्ति पुराणों के ज्ञान के बिना संभव नहीं क्योंकि पुराणों का कथन है कि समस्त वेदों व उपनिषदों का ज्ञान भी पुराणों में समाहित है। पुराणों के ज्ञान के बिना विचक्षणत्व नहीं आता है–

'यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः ।
न चेत् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः ॥'[10]

उपनिषद् जहाँ परम प्रमाण के रूप में स्वीकृत है, उसे हम वेदान्त कहते हैं। उपनिषदों के ज्ञान को एकत्र समन्वित करने के लिए बादरायण ने *ब्रह्मसूत्र* की रचना की।

वेदांत में प्रस्थानत्रयी की गणना है– 1. उपनिषद्, 2. *ब्रह्मसूत्र* तथा 3. *श्रीमद्भगवद्गीता*। इस प्रकार वेदान्त में उपनिषद् एवं इसके उपकारी शारीरकसूत्र तथा *गीता* महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं–

'वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च' [11]

वेदांत की अनेक शाखाएँ हैं। इनमें से एक अद्वैतवेदांत है। इसके प्रतिष्ठापक शंकराचार्य हैं। इन्होंने *ब्रह्मसूत्र* पर भाष्य लिखा है। अद्वैतवेदांत दर्शन की तत्त्वमीमांसा में आत्मा, ब्रह्म, ईश्वर, जीव, माया तथा आचारमीमांसा में ज्ञान, कर्म, साधना, भक्ति, मुक्ति आदि का विवेचन है।

इन सभी विषयों का विवेचन अग्निपुराण में उपलब्ध होता है। *अग्निपुराण* के अन्तिम पाँच अध्यायों (377, 378, 380, 381, 382) में अद्वैतवेदांत दर्शन के विषयों का प्रतिपादन है।

'दृश्यतेऽनेन'– इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'दर्शन', शब्द का अर्थ **'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'**[12]– इस श्रुतिवाक्य से उपदिष्ट आत्मसाक्षात्कार का हेतु दर्शन ही है। इस श्रुति का अर्थ है कि आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन व निदिध्यासन करना चाहिए। तदनन्तर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। जो सभी दर्शनों का मूल लक्ष्य है। अतः अद्वैतवेदांत का भी लक्ष्य मोक्ष होने के कारण आत्मा की ही एकमात्र सत्ता मानी है। इसे ही ब्रह्म कहा है।

ब्रह्म की शक्ति माया है जो जगत् का कारण है। चैतन्योपहित माया से ही सूक्ष्मशरीरोत्पत्ति होती है। इसी से अपञ्चीकृत महाभूतों की उत्पत्ति होती है। फलस्वरूप ब्रह्माण्ड का विकास होता है। यहीं पर साधक या जीव ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते हुए परब्रह्म से एकाकार हो जाता है। अग्निपुराणानुसार अद्वैतवेदांत के सिद्धान्तों का विवेचन इस प्रकार किया गया है–

ब्रह्म या आत्मा

अद्वैत में एक ही तत्त्व की सत्ता स्वीकार की गई है। वही चैतन्य स्वरूप है। नित्य है तथा सत्य, ज्ञान व अनन्त है। आत्मा व ब्रह्म एक ही तत्त्व है। **'अयमात्मा ब्रह्म'**[12], **'अहं ब्रह्मास्मि'**[13] इत्यादि वाक्य एकता प्रतिपादन करते हैं।

आत्मा का न तो नाश होता है न वृद्धि। वह शुद्ध अर्थात् कोई विकार नहीं है, अमर, शान्त व निर्गुण है तथा प्रकृति के परे रहनेवाला है। तथा सभी जन्तुओं में एक ही तत्त्व समाहित है। इसी को अग्निपुराण में कहा गया है–

'आत्मा शुद्धोऽक्षरः शान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रवृद्धापचयौ नास्य एकस्याखिलजन्तुषु ॥'[14]

वह ब्रह्म समाधि के बन्धनों का नाश करनेवाला है क्योंकि निदिध्यासन में

अन्तिम समाधि ही है जिससे परब्रह्म प्राप्ति होती है। इसके बाद जिस प्रकार जल में नमक घुल जाता है उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म में मिल जाता है। वह ब्रह्म आनन्दस्वरूप, सत्य, ज्ञान व अनन्तक है। उसका अन्त नहीं है–

'अहं ब्रह्म परं ज्ञानं समाधिर्बन्धघातकः ।
चिरमान्दकं ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तकम् ॥'[15]

'तत्त्वमसि'[16] व **'अहं ब्रह्मास्मि'**[17] महावाक्यों द्वारा परब्रह्म का बोध होता है। गुरु के द्वारा इस प्रकार का ज्ञान कराये जाने पर कि 'तू ब्रह्म है', जीव यह समझने लगता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ'।

'अयमात्मा परं ब्रह्म तद्ब्रह्म त्वमसीति च ।
गुरुणा बोधितो जीवो अहं ब्रह्मास्मि बाह्यतः ॥'[18]

यहाँ गुरु का महत्त्व अत्यधिक है। गुरु के सान्निध्य में ही साधना के द्वारा परब्रह्म को पाया जा सकता है।

'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अपने स्वरूप का ज्ञान होने पर ही मोक्ष होता है। मोक्षदायक ब्रह्म ही है– **'अहं ब्रह्म परं ज्योतिः समाधिर्मोक्षदः परः।'**[19]

जीव और ब्रह्म की एकता अद्वैतवेदान्त का विषय है– **'विषयो जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्।'**[20]

अग्निपुराण में इसी विषय की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि **'अहं ब्रह्मास्मि'** का विचार करते ब्रह्मज्ञानी इस संसार से मुक्त होकर ब्रह्म हो जाता है अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाता है–

'मुच्यतेऽसारसंसाराद् ब्रह्मज्ञो ब्रह्म तद्भवेत्'[21]

माया

माया ब्रह्म की शक्ति है। ब्रह्म निष्क्रिय है परन्तु वह माया की सहायता से सृष्टि करता है। शंकराचार्य ने माया, अविद्या तथा अज्ञान को अभिन्न कहा है। यही भावरूप तत्त्व है जो वस्तु के वास्तविक स्वरूप को ढ़ककर उसमें अवस्तु का दर्शन कराता है, जो यथार्थ न होकर भ्रममात्र होता है। यह ज्ञानविरोधी व सदसद्भ्यामनिर्वचनीय है।

अग्निपुराण में अविद्या के विषय में कहते हैं कि अनात्मा में आत्मा अथवा

अनात्मा को आत्मा समझने की बुद्धि अविद्या से होती है–

'अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या आत्मस्वमिति या मतिः' [22]

अज्ञान की दो शक्तियाँ है– आवरण और विक्षेप– **'अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्'** [23]

इन्हीं दोनों शक्तियों को *अग्निपुराण* में बीजभूत दो प्रकार से मोहान्धकार युक्त आत्मा कहा है जो पञ्चभूतात्मक शरीर में आश्रय रूप से रहती है व अज्ञानावरित व्यक्ति 'अहंभाव' युक्त कुमतिवाला होता है। तथा इससे पुत्र-पौत्रादि में ममत्व उत्पन्न होता है–

'अविद्याभवसंभूतिर्बीजमेतद्द्विधा स्थितम् ।
पञ्चभूतात्मके देहे देही मोहतमाश्रितः ॥
अहमेतदितीत्युच्चैः कुरुते कुमतिर्मतम् ।
इत्थं च पुत्रपौत्रेषु तद्देहोत्पतितेषु च ॥' [24]

यहाँ मंत्र में **'द्विधा स्थितम्'** से तात्पर्य समष्टि व व्यष्टि के भेद से भी दो प्रकार कहा है। एक व्यक्ति को व्याप्त करने के कारण व्यष्टि व पूरे समूह को व्याप्त करने के कारण समष्टि कहा है। यह अज्ञान सत्त्व, रज व तम गुणांशवाला होता है एवं इसके कार्य में भी गुणानुसार प्रधानता होती है।

सूक्ष्मशरीरोत्पत्ति

अद्वैतवेदांत के अनुसार तमोगुण प्रधान, विक्षेप शक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य से आकाशादि की उत्पत्ति होती है। श्रुति का कथन है– **'तस्माद् एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः ।'** [25] *अग्निपुराण* में परब्रह्म चैतन्य से आकाश की उत्पत्ति बताते हैं। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी और पृथ्वी से सूक्ष्म शरीर उत्पन्न हुआ है। यह अपञ्चीकृत पञ्चभूतों से अलग-अलग सात्त्विक अंशों से होता है। यह शरीर भी पञ्चभूतात्मक होता है–

'यतो ब्रह्मण आकाश खाद्वायुर्वायुतोऽनलः ।
अग्नेरापो जलात्पृथ्वी ततः सूक्ष्मं शरीरकम् ।
अपञ्चीकृतभूतेभ्य असन्यञ्चीकृताज्यतः ॥' [26]

सूक्ष्म शरीर को ही लिंग शरीर कहते हैं, इसके सत्रह अवयव होते हैं–

'सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि'[27]

इनमें है पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण, मन व बुद्धि।

अग्निपुराण में भी इस सूक्ष्म शरीर को आत्मा का चिह्न कहा है एवं अपञ्चीकृत भूतों को ही लिङ्ग रूप कार्य कहा है। वह हिरण्यगर्भ संज्ञक है।

'अपञ्चीकृतभूतानि तत्कार्यं लिङ्गमुच्यते ।
संयुक्तं सप्तदशभिर्हिरण्यगर्भ संज्ञितम् ।
शरीरमात्मनः सूक्ष्मं लिङ्गमित्यभिधीयते ॥'[28]

इसके बाद स्थूल शरीर का निर्माण होता है।

ज्ञान-कर्म समन्वय

अद्वैत वेदान्त की आचारमीमांसा में ज्ञान व कर्म का महत्त्व है। उपनिषदों में परब्रह्म की प्राप्ति के लिए ज्ञान व कर्म के समन्वय पर बल दिया है क्योंकि मोक्ष के अधिकारी को निषिद्ध कर्मो को त्यागकर नित्य, नैमित्तिकादि कर्मों को करना चाहिए। *ईशावास्योपनिषद्* में विद्या को ज्ञान व अविद्या को कर्म स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कर्मों से मृत्यु को पार करके ज्ञान से ब्रह्म की प्राप्ति होती है–

'विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदाभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥'[29]

अग्निपुराण में भी इसी सिद्धान्त का समर्थन है। परब्रह्मप्राप्ति के दो हेतु कहते हुए परब्रह्म को विवेकजन्य ज्ञान कहा है–

'तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने ।
आगमोक्तं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तथोच्यते ॥
शब्दब्रह्मागममयं परं ब्रह्म विवेकजम् ।
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये ब्रह्म शब्दपरं च यत् ॥'[30]

ज्ञान व कर्म ही परब्रह्म प्राप्ति के दो हेतु हैं।

ब्रह्मज्ञान

अग्निपुराण में ब्रह्मज्ञान के विषय में विवेचन है कि जिसमें भेद नष्ट हो जाता है जो सत्तामात्र होता है जो वाणी के द्वारा आत्मसंवेद्य रहा करता है–

'प्रत्यस्तमितभेदं यत्सत्तामात्रगोचरम् ।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम् ॥'[31]

ब्रह्म के दो रूप हैं– सगुण और निर्गुण। सगुण की ही भिन्न-भिन्न रूपों में उपासना की जाती है। अमूर्त की उपासना जनसामान्य के लिए अशक्य होने से मूर्त रूप का चिन्तन करना चाहिए–

'तच्च विष्णोः परं रूपमरूपस्याजमक्षरम् ।
अशक्यं प्रथमं ध्यातुमतो मूर्तादि चिन्तयेत् ॥'[32]

तब परमात्मा के साथ एकाकार होकर जीवन का अज्ञानजन्य भेद अभेद में परिवर्तित हो जाता है -

'सद्भावभावमापन्नस्ततोऽसौ परमात्मना ।
भवत्यभेदो भेदश्च तस्याज्ञानकृतो भवेत् ॥'[33]

सारा संसार ही ब्रह्म होता है– **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (*छान्दोग्योपनिषद्*, 3.14.1)

मोक्ष

ब्रह्म की प्राप्ति ही मोक्ष है। *अग्निपुराण* के 'यमगीता' अध्याय में कहते हैं कि जिस प्रकार घड़े के टूट जाने से उसमें प्रतिबिम्बित होनेवाला आकाश, महाकाश में मिल जाता है उसी प्रकार ब्रह्म से युक्त होने पर जीव ब्रह्म ही हो जाता है क्योंकि वह ब्रह्मस्वरूप ही है–

'घटध्वंसाद्यथाऽऽकाशमभिन्नं नभसा भवेत् ।
मुक्तो जीवो ब्रह्मणैव सद्ब्रह्म ब्रह्म वै भवेत् ॥'[34]

वस्तुतः ब्रह्म ही आत्मा है जिसे अज्ञान के कारण जीव समझा जाता है। यह जीव अज्ञान तथा उसके कार्यों से मुक्त होकर अजर व अमर हो जाता है–

'आत्मानं मन्यते ब्रह्म जीवो ज्ञानेन नान्यथा ।
जीवो ह्यज्ञानतत्कार्यमुक्तः स्यादजरामरः ॥'[35]

इस प्रकार *अग्निपुराण* में वेदान्तशास्त्र के अद्वैत तत्त्व का साङ्गोपाङ्ग निरूपण है। यमगीता के विषय में *अग्निपुराण* में स्वयं अग्निदेव कहते हैं कि यही आत्यन्तिक लय है, इसका पाठ करने से भोग और मोक्ष की प्राप्ति होती है और यही

वेदान्तियों की बुद्धि से युक्त रहता है—

'वसिष्ठ यमगीतोक्ता पठतां भुक्तिमुक्तिदा ।
आत्यन्तिको लयः प्रोक्तो वेदान्तब्रह्मधीमयः ॥'[36]

गीता में कहा है कि सब वेदों द्वारा जानने योग्य एक परमेश्वर, वेदान्त का कर्ता और वेदों को जाननेवाला भी मैं ही हूँ अर्थात् सभी शास्त्रों से उसी परमतत्त्व को जाना जाता है—

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्'[37]

इस प्रकार *अग्निपुराण* का प्रतिपादन वेदान्तशास्त्र विश्लेषण के साथ समाप्त होता है।

सन्दर्भ :

1. *याज्ञवल्क्यस्मृति*, 1.3
2. *मत्स्यपुराण*, 53.3
3. *महाभारत*, आदिपर्व, 1.267
4. *वायुपुराण*, 1.1.183
5. *निरुक्त*, 3.19
6. *बृहदारण्यकोपनिषद्*, 2.4.10
7. *अग्निपुराण*, 287.52
8. *वही*, 383.1-3
9. *अग्निपुराण*, 383.4
10. *विष्णुपुराण*, 2.51
11. *वेदान्तसार*, पृ० 19
12. *बृहदारण्यकोपनिषद्*, 2.3.5
13. *माण्डूक्योपनिषद्*
14. *बृहदारण्यकोपनिषद्*, 1.4.10
15. *अग्निपुराण*, 380.13
16. *वही*, 377.22
17. *छान्दोग्योपनिषद्*, 6.8.7
18. *बृहदारण्यकोपनिषद्*, 1.4.10
19. *अग्निपुराण*, 377.23
20. *अग्निपुराण*, 378.23
21. *वेदान्तसार*, पृ० 70

22. *अग्निपुराण*, 377.24
23. *मुण्डकोपनिषद्*, 3.2.9
24. *अग्निपुराण*, 379.15
25. *वेदान्तसार*, पृ० 118
26. *अग्निपुराण*, 379.16-17
27. *तैत्तिरीयोपनिषद्*, 2.1
28. *अग्निपुराण*, 377.8.9
29. *वेदान्तसार*, पृ० 136
30. *अग्निपुराण*, 377.12-13
31. *ईशावास्योपनिषद्*, 11
32. *अग्निपुराण*, 379.7-8
33. *वही*, 379.30
34. *वही*, 379.31
35. *वही*, 379.32
36. *वही*, 382.95
37. *वही*, 382.36
38. *वही*, 382.37
39. *श्रीमद्भगवद्गीता*, 15.15

अग्निपुराणे तद्धितनिरूपणम्

साधना शर्मा *

'वेदेभ्य उद्धृत्य समस्त-धर्मान् योऽयं पुराणेषु जगाद देवः ।
यो व्यासरूपेण जगद्धिताय वन्दे तमेनं करुणासमेतम् ॥'

सर्वजनहितकारिणामुत्कृष्टविचाराणां भावनया ओत-प्रोत-वेदानामुपबृंहणार्थमितिहासस्य पुराणस्य च निर्माणं जातमस्ति। तत्र महर्षिणा व्यासेनालौकियतया तपस्यया परमात्मनोऽनुकम्पया वेदानां यथार्थमवगम्य तत्प्रचार-प्रसारयोरावश्यकतामनुभूय पुराणेतिहासयोः प्रणयनं कृतम्। वेदेषु ये विषया गूढतया सूक्ष्मरूपेण निर्दिष्टाः सन्ति। तेषामेव पुराणेतिहासयोः प्रपञ्चः कृतो वर्तते।[1]

पुराणेनापि साकमितिहासस्यास्ति घनिष्ठतमः सम्बन्धः छान्दोग्योपनिषदि प्रोक्तः

'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्ः'

स्कन्दपुराणेऽपि–

'यस्मिन् स इतिहासः स्यात् पुरावृत्तं स एव हि' [2]

यास्काचार्येणापि प्रोक्तम्–

'पुराभवं पुराणम्'

भारतीयसाहित्यस्याध्ययनदृष्ट्या पुराणानां महत्त्वमतिप्राचीनकालतः एव

---

* शोधच्छात्रा, श्री लालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, नयी दिल्ली

स्वीकृतमस्ति। यथा वैदिकधर्मस्य स्वरूपं ज्ञातुं वेदस्य अपेक्षा भवति, तथा धर्मशास्त्रस्यावश्यकता विद्यते तथैव भारतस्यातीतज्ञानाय अत्युपयोगिनां पुराणानां पर्यालोचनमनिवार्यम्। पुराणसाहित्यं हि भारतस्यास्ति अमूल्यो निधिः। यस्यानुशीलनं संरक्षणं च कस्यापि सुशिक्षितस्य भारतीयस्य कृतेऽनिवार्यं कार्यमस्ति। अत्र नास्ति कश्चन् सन्देहः यत् भक्त्या सह ज्ञान-कर्मणोःसमरसतां सम्पाद्य मानवजीवनं सफलीकर्तुं श्रेयः पुराणानामेव। अत एव स्कन्दपुराणे कथितम्—

'श्रुति-स्मृति-पुराणानि विदुषां लोचनत्रयम्।
यस्त्रीभिः नयनैः पश्येत् सोंऽशो माहेश्वरो मतः ॥'[3]

अस्मिन् विशाले पुराणसाहित्ये अष्टादशपुराणानां रामायणमहाभारतयोश्च समावेशात् केवलमष्टादशपुराणानां श्लोकसंख्या चतुर्लक्षम्, महाभारतस्य लक्षम्, रामायणस्य च पञ्चविंशतिसहस्रम्। एवं सर्वसङ्कलनेन सपादपञ्चलक्षश्लोक-संख्यासङ्ग्रहात्मकं साहित्यं पुराणनाम्नाऽभिधीयते। तदुक्तं मत्स्यपुराणे—

'एवं सपादा पञ्चैते लक्षा मर्त्ये प्रकीर्तिताः।
पुरातनस्य कल्पस्य पुराणमिव विदुर्बुधाः ॥'[4]

अष्टादश-पुराणानि विद्यन्ते। अष्टादश-पुराणेषु अन्यतमम् अग्निपुराणम्। मत्स्यपुराणानुसारमीशानकल्पवृत्तान्ताधारेणाग्निना वसिष्ठाय य उपदेशो दत्तोऽस्ति स एवाग्निपुराणे विद्यते, यत् सर्वयज्ञफलप्रदं वर्तते। नारदीयपुराणानुसारम् अग्निना ईशानकल्पवृत्तान्त्याधारीकृत्य महर्षये वसिष्ठाय यः उपदेशो दत्तः स एवाग्निपुराणनाम्ना प्रख्यातोऽस्ति, अस्य पाठेन श्रवणेन च सर्वाणि पापानि दूरीभवन्ति।

'यत्तदीशानकं कल्पवृत्तान्तमधिकृत्य च।
वसिष्ठायाग्निना प्रोक्तमाग्नेयं तत् प्रचक्षेत् ॥
तच्च षोडशसाहस्रं सर्वक्रतुफलप्रदम् ॥'[6]
'अथातः संप्रवक्ष्यामि तथाग्नेयपुराणकम्।
ईशानकल्पवृत्तान्तं वसिष्ठायानलोऽब्रवीत् ॥
तत् पञ्चदशसाहस्रं नाम्ना चरितमद्भुतम्।
पठतां श्रृण्वतां चैव सर्वपापहरं नृणाम् ॥'[7]

अस्य पुराणस्य वक्ता अग्निः, श्रोता च महर्षिः वसिष्ठोऽस्ति।

अत्रेशानकल्पस्य कथानकं विद्यते। अग्निपुराणं लोकशिक्षायै उपयोगिनीनां विद्यानां संग्रह- प्रस्तोतृ पुराणमस्ति। अत इदं भारतीयसमस्तविद्यानां कोशः प्रोच्यते। अस्यानुशीलनेन ज्ञायते यत् अस्य पुराणस्योद्देश्यं जनसाधारणे विविधानां विद्यानां प्रचारकरणमस्ति। अत एव अग्निपुराणे उक्तम्—

'पुराणं परमाग्नेयं ब्रह्मविद्याक्षरं परम् ।
ऋग्वेदाद्यपरं ब्रह्म सर्वदेवसुखं परम् ॥
अग्निनोक्तं पुराणं यद् आग्नेयं वेदसिम्मतम् ।
भक्तिमुक्तिप्रदं पुण्यं पठतां श्रृण्वतां नृणाम् ॥' [8]

अस्मिन् पुराणे 383 अध्यायाः सन्ति। येषु विविधानां विद्यानां सन्निवेश आश्चर्यकरो वर्तते। तत्र व्याकरणशास्त्रं अत्यन्तं पवित्रतमं शास्त्रं वर्तते।

'तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम् ।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ॥' [9]

इदं व्याकरणमपवर्गस्य द्वारम्। अपवर्गः एव परमपुरुषार्थः अविनाशित्वात्। समर्थयति श्रुतिरपि अस्यानाशित्वम् **'न स पुनरावर्तते'**[10] इत्यादिना।

व्याकरणसंस्कारहीनं वचः अत्यन्तमपवित्रम्। तदेवोक्तं **'ऋजीषमेतत् वाचो यद् संस्कारहीनः शब्दः'** [11] अत्र ऋजीषपदेन किट्टापरपर्यायः यथा निष्पीडितस्य इक्षुदण्डकस्य रसः सारः अन्यत्तु ऋजीषम्।

अतः अपवर्ग एव सारः। अन्यत् सर्वं यद्यपवर्गस्य नोपकारकं तत् ऋजीषवत् मन्तव्यं निष्फलत्वात्। भवन्तु नाम अन्यान्यपि साधनानि अपवर्गस्य तथापि एतानि कष्टेन लभ्यानि परपुरुषापेक्षितानि च, परन्तु व्याकरणस्य अनपेक्षितसाधनेन केवलं वाग्व्यवहारेण मोक्षोपकारकत्वमिति निर्विवादम्। समर्थितमपि भर्तृहरिणा—

'यत्तत् पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः' [12] इत्यादिना।

अपवर्गो नाम ब्रह्मसाक्षात्कारः तत्सायुज्यं वा, तथा च 'वागेव ब्रह्म' इत्यनुशासनात्। अग्निपुराणे व्याकरणशास्त्रं 349 अध्यायतः 359 अध्यायं यावत् व्याप्तमस्ति। अस्मिन् पुराणे व्याकरणशास्त्रस्य इमे विषयाः विवेचिताः सन्ति—

व्याकरणसारः, सन्धिः, सुविभक्तिसिद्धरूपम्, स्त्रीलिङ्गशब्दसिद्धरूपम्, नपुंसकशब्दसिद्धरूपम्, कारकम्, समासः, तद्धितः, उणादिसिद्धरूपम्, तिङ्विभक्तिसिद्धरूपम्, कृत्सिद्धरूपम्, अव्ययवर्गश्च।

प्रकृतिप्रत्ययविज्ञानस्य महत्त्वप्रतिपादनानन्तरमिदमवश्यमवधेयं भवति यत् न केवला प्रकृतिरर्थबोधिका न केवलः प्रत्ययोऽर्थबोधको भवति अपितु उभयं सम्भूय अर्थमभिधत्ते। तत्र प्रकृतेरनन्तरं प्रतीयते विधीयते स प्रत्यय इति सामान्यलक्षणेन प्रत्ययो निर्धार्यते। वस्तुतस्तु प्रकृतित्वं प्रत्ययनिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वम्, प्रत्ययत्वञ्चार्थबोधकत्वे सति पाणिनीयसङ्केतसम्बन्धेन प्रत्ययपदत्वम्। सोऽपि मुख्यतः कृत्तद्धितभेदेन द्वैविध्यं भजते। धातोरित्याधिकारे धातोर्विधीयमानाः प्रत्ययाः कृत्पदेन उच्यन्ते **'ङ्याप्प्रातिपदिकात्, समर्थानां प्रथमाद्** वा इत्याधिकारे वा सुबन्तात् प्रातिपदिकाद् वा विहिताः प्रत्ययाः तद्धिताः।

अग्निपुराणे 356 तमे अध्याये तद्धित-प्रकरणम् विद्यते। अस्मिन् प्रकरणे त्रिंशत् श्लोकाः सन्ति। येषु तद्धितप्रत्ययाः व्यासेन अनुशासिताः। तद्धितप्रत्ययाः अत्र त्रिधा विभज्यन्ते।

'तद्धितं त्रिविधं वक्ष्ये सामान्या वृत्तिरीदृशी'[13]

सामान्या-वृत्तितद्धिताः, अव्यय-तद्धिताः तथा भाववाचकाः तद्धिताश्च।

1. सामान्या-वृत्तितद्धिताः

लच् प्रत्ययः– अंसलः अंसशब्दात्। वत्सलः वत्सशब्दात्।

इलच् प्रत्ययः– फेनिलम् फेनशब्दात्। पिच्छिलम् (पन्थाः), उरसिलः। **'इलचि स्यात्तु फेनिलम्'**[14]

शप्रत्ययः– लोमशः

नप्रत्ययः– पामनः पामशब्दात्

अण् प्रत्ययः– प्राज्ञः, श्राद्धः, आर्चः

उरच् प्रत्ययः– दन्तुरः, दन्तात्

र प्रत्ययः– मधुरः, सुषिरः

व प्रत्ययः– केशवः

य प्रत्ययः– हिरण्यः

वलच् प्रत्ययः– रजस्वलः

इन् प्रत्ययः– धनी, करी, हस्ती

टिक प्रत्ययः– धनिकं

विन् प्रत्ययः– पयस्वी, मायावी

युस् प्रत्ययः– ऊर्णायुः

मिन् प्रत्ययः– वाग्मी

आलच् प्रत्ययः– वाचालः

आटच् प्रत्ययः– वाचाटः

इनच् प्रत्ययः– फलिनः, बर्हिणः

आरक् प्रत्ययः– वृन्दारकः

आलुच् प्रत्ययः– शीतालुः, हिमालुः

अपत्यार्थे

अण् प्रत्ययः– वासिष्ठः, वसिष्ठस्यात्यं पुमान्, कौरवः, कुरोरपत्यं पुमान्

निवासार्थे प्रत्ययः

अण् प्रत्ययः– माथुरः, मथुरायां वासोऽस्यास्ति।

अधीत्यर्थे प्रत्ययः

अण् प्रत्ययः– चान्द्रकः

क प्रत्ययः– क्रमकः

2. अव्ययतद्धिताः

धाा प्रत्ययः– द्वेधा त्रिधा

एनप् प्रत्ययः– उत्तरेण

आहि प्रत्ययः– उत्तराहि, दक्षिणाहि

दानीम् प्रत्ययः– इदानीम्

एवमन्येऽपि प्रत्ययाः।

3. भाववाचकाः तद्धिताः

त्व, तल् प्रत्ययः– पटुत्वम् पटोर्भावः, पटुता

इमनिच् प्रत्ययः– प्रथिमा एवमेव अन्येऽपि प्रत्ययाः सन्ति।

शास्त्रपरम्परायां शासनं भवति। अस्मिन् पुराणे सम्पूर्णस्य तद्धित-प्रत्ययस्य विवेचनं वर्तते। यत् सर्वेषां कृते सुकरं भवेत्। पाणिनिना सूत्रेण सह सिद्धिः अपि प्रदत्ता। अस्मिन् प्रकरणे पाणिनिना तु यः प्रत्ययः ठञ् प्रत्ययेन द्योतितः, अग्निपुराणे स एव प्रत्ययः 'टिकन्' प्रत्ययेन द्योतितः। ग्मिनि प्रत्यययश्च मिनित्यनेन द्योतितः। अत्र अवश्यमेव अनुसंधेयाः विषयाः यथा वयं पश्यामः लँण् अनेन सूत्रेण लण् मध्यस्थः अकारः अनुनासिकः कथ्यते तेन रप्रत्याहारपक्षं स्वीकुर्वन्ति आचार्याः। अग्निपुराणविषये सत्यमेवात्र प्रोक्तम्—

'पुराणं परमाग्नेयं ब्रह्मविद्याक्षरं परम्।
ऋग्वेदाद्यपरं ब्रह्म सर्वदेवसुखं परम्॥'

सन्दर्भ :

1. **'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।**
   विभेत्यल्प श्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥'

   —महाभारते, आदिपर्वणि, 2.67

2. स्कन्दपुराणे, 4.92
3. स्कन्दपुराणे, 1.66
4. मत्स्यपुराणे, 53.71
5. महाभारते, अनुशासनिकेपर्वणि, 27.38
6. मत्स्यपुराणे, 53.28
7. नारदपुराणे, 91.2
8. अग्निपुराणे, 1.10-11
9. वाक्यपदीये, ब्र.का. 14
10. छान्दोग्योपनिषद्, 8.5.1
11. हरिवृषभवृत्तिः ब्रह्मकाण्डम्
12. वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्डम् 12
13. अग्निपुराणे, 356.1
14. अग्निपुराणे, 356.1

अग्निपुराणे योगशास्त्रम्

डॉ० रविशंकर शुक्लः *

दोऽखिलोधर्ममूलमितिधिया भारतीयवैदिकवाङ्मये पुराणानामतीव महत्वं विद्यते।

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥'[1]

पुराणे प्रतिपाद्यविषयाः आख्यानानि उपाख्यानानि, गाथाः, कल्पवाक्यानि, कल्पनावाक्यानि च वंशवंशानुचरितानि, आध्यात्मिक्यः विद्याः प्रतिपादिताः। बहुषु पुराणेषु वेदसंहितानाम्ना तेषां व्यवहारो दृश्यते। वेदाध्ययनेन च यत् फलं तदेव, तदपि अतिशयानां वा फलं पुराणाध्ययनेन निगदितम्।

पुराणानां धार्मिकदृष्ट्या, ज्ञानविज्ञानदृष्ट्या महत्वमधिकं, वेदविहितानां धर्माणां आध्यात्मविद्यानां, ज्ञानानां, गूढार्थरहस्यानाञ्च प्रस्फोटनाय पुराणानि विरचितानि। अष्टादशपुराणेषु सर्वेषां पुराणानां समानमेव महत्त्वं तथाप्यत्र ज्ञानविज्ञानदृष्टया वस्तुविषयदृष्ट्या अग्निपुराणस्य सर्वतोऽधिकं महत्त्वमापद्यते। उक्तञ्च अग्निपुराणे–

'आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वाः विद्याः प्रदर्शिताः' [2]

पुराणानां प्रतिपादितविषयाणामपि संख्या नाल्पियसी अपितु भूयसी विद्यते। किन्त्वत्र प्रासंगिकानां विषयाणां चर्चा साधियसी भवति।

अग्निपुराणानुसारं यमनियमौ कौ स्तः तदेव व्याख्यायेते तथा–

---

* सहायकाचार्यः, सांख्ययोगविभागः, श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, नव दिल्ली

'ब्रह्मप्रकाशकं ज्ञानं योगस्तत्रैकचित्तता ।
चित्तवृत्तिनिरोधश्च जीवब्रह्मात्मनो परः ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ।
शौचसन्तोषतपसी स्वाध्यायेश्वरपूजने ।
भूतपीडा अहिंसा स्यादहिंसाधर्म उत्तमः ॥'[3]

पातञ्जलयोगदृष्ट्या उच्यते यथा—

'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि'[4]

यमादीनि समाध्यन्तानि योगस्य अष्टौ अङ्गान्यवधेयानि। कैवल्यप्रदयोग-साधनस्य अष्टावपि विभागा अङ्गानि कथ्यन्ते। एकैकाङ्गसाधनेन साधकः क्रमशः समुन्नताङ्गसाधनाधिकारमधिगच्छति।

अष्टाङ्गानां बहिरङ्गभूमिः, अन्तरङ्गभूमिश्चेतिभेदेन भेदद्वयम्। यम-नियमाऽऽसन- प्राणायामाः बहिरङ्गभूमयः, प्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयश्च अन्तरङ्गभूमयो वेदितव्याः। बहिरङ्गसाधने अन्तःकरणनैर्मल्ये सति योगसाधने रुचिर्वर्धते। अन्तःकरणमैकाग्रयं भजते। अत एतदेव मोक्षस्य साक्षाद्धेतुभूतम्। अष्टानामङ्गानां विस्तृतविवृत्तिरग्रिमसूत्रेषु विविच्यते।

'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः'[5]

कदापि केनापि कारणेन द्वेषबुद्ध्या दुःखादानमहिंसा। आत्मवत् सर्वभूतेषु दयादृष्टिः अहिंसा व्यपदिष्यते। मनसा निश्चितस्य वचसा यथावत् प्रकाशनं सत्यम्। छल-कपटभ्रमादिशून्यमनिरर्थकं सर्वोपकारकमक्लेशजनकं वाक्यमेव सत्यमिति भगवान् वेदव्यासः परकीयादत्तवस्तुग्रहणं स्तेयम्, अस्तेयं तदभावः।

मनोदमनपूर्वकमुपस्थेन्द्रियवशीकरणे वीर्यरक्षणं ब्रह्मचर्यमुच्यते। स्मरणकीर्तनाद्यष्टविधमैथुन[6] - परित्यागोऽत्रैव अन्तर्भवति, सम्पत्तेः संग्रह - रक्षण-नाशतः हिंसादिदोषदर्शनेन तत्परित्यागः अपरिग्रहः। पञ्चधा विभक्तस्यास्य अनुष्ठानेन साधको योगस्य प्रथमाधिकारं लभते।

अग्निपुराणदृष्ट्या—

'शौचन्तुद्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिरथान्तरम् ।

मनश्चेन्द्रियाणाञ्च ऐकाग्रयं तप उच्यते ।
तज्जयः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥'

योगशास्त्रेऽपि तदनुगुणं (अग्निपुराणानुगुणमेव) व्याख्यान विषयं उपस्थापयति। यथा– शौचं मृज्जलादिजनितं ....आसनप्राणायामप्रत्याहार-धारणाध्यानसमाधीनां विषयाणाम् उपाख्यानं वर्तते। योगशास्त्रे तदेवात्रापि अग्निपुराणे तद्वदेव वर्तते।

अग्निपुराणे आसनमेवं प्रोक्तम्–

'आसनं कमलाद्युक्तं तद् बध्वा चिन्तयेत् परम् ।
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ॥
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यत् चित्तेन्द्रियक्रियः ॥'[7]
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ।
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं, स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं, दिशश्चानवलोकयन् ॥'[8]

प्राणायामस्वरूपमपि प्रोक्तमग्निपुराणे–

'जिते प्राणे स्वल्पदोषविण्मूत्रादि प्रजायते ।
आरोग्यं शीघ्रं गामित्वमुत्साहः स्वरसौष्ठवम् ।
वलवर्णप्रसादश्च सर्वदोषक्षयः फलम् ॥'[9]

प्राणायामस्य ग्रन्थानुगुणं भेदः उच्यते अग्नौ–

'जपध्यानं विनागर्भः सगर्भस्तत् समन्वितः ।
इन्द्रियाणां जयार्थाय सगर्भं धारयेत् परम् ॥
ज्ञानवैराग्ययुक्ताभ्यां प्राणायामवशेन च ।
इन्द्रियांश्च विनिर्जित्य सर्वमेव जितं भवेत् ॥'[10]

प्रत्याहारस्वरूपमेवमुच्यते–

'इन्द्रियाणि प्रसत्तानि प्रविश्य विषयोदधौ ।
आहृत्ययो निगृह्णाति प्रत्याहारः स उच्यते ॥'[11]

धारणाप्रतिपादनं कुर्वता अग्निपुराणकारेण प्रोक्तम्–

'धारणा मनसो ध्येये संस्थितिर्ध्यानवद् द्विधा ।
मूर्त्तामूर्त्त हरिध्यानमनोधारणतो हरिः ॥
यद्बाह्यावस्थितं लक्ष्यं तस्मान्नचलते मनः ।
तावत् कालं प्रदेशेषु धारणा मनसि स्थितिः ॥
कालावधि परिच्छिन्नं देहे संस्थापितं मनः ।
न प्रच्यवति यल्लक्ष्याद् धारणा साऽभिधीयते ॥
धारणा द्वादशायामा ध्यानं द्वादशधारणाः ।
ध्यानं द्वादशकं यावत् समाधिरभिधीयते ॥
धारणाभ्यासयुक्तात्मा यदि प्राणैर्विमुच्यते ।
कुलैकविंशमुत्तार्य्य स्वर्याति परमं पदम् ॥
यस्मिन् यस्मिन् भवेदङ्गे योगिनां व्याधि सम्भवः ।
तत् तदङ्गं धिया व्याप्तं धारयेत् तत्त्वधारणम् ॥'[12]

अग्निपुराणे ध्यानलक्षणम् एवं प्रोक्तम्—

'ध्यै चिन्तायां स्मृतो धातुर्विष्णुचिन्तामुहुर्महुः ।
अनाक्षिपेन मनसा ध्यानमित्यभिधीयते ॥
आत्मनः समनस्कस्य मुक्ताशेषोपधस्य च ।
प्रत्यान्तरनिर्मुक्तः प्रत्ययो ध्यानमुच्यते ॥
ध्येयावस्थितचित्तस्य प्रदेशे यत्र कुत्रचित् ।
ध्याता ध्यानं तथा धेयं यच्च ध्यानप्रयोजनम् ॥
एतच्चतुष्टयं ज्ञात्वा योगं युञ्जीत तत्त्ववित् ।
ध्यायेद् वा रश्मिजालेन दीप्यमानं समन्ततः ॥
प्रधानं पुरुषातीतं स्थितं पद्मस्थमीश्वरम् ।
ध्यायेज्जपेच्च सततमोङ्कारं परमक्षरम् ।
मनःस्थित्यर्थमिच्छन्ति स्थूलध्यानमनुक्रमात् ॥'[13]

अग्निपुराणे समाधिलक्षणम्—

'यदात्मकं निर्भासं स्तिमितो दधिवत् स्थितम् ।
चैतन्यरूपवद् ध्यानं तत् समाधिरिहोच्यते ॥
ध्यायन् मनः सन्निवेश्य यस्तिष्ठेदचलः स्थिरः ।

निर्वातानलवद् योगी समाधिष्ठः प्रकीर्तितः ॥
न श्रृणोति न चाघ्राति न पश्यति न गम्यति ।
न च स्पर्शं विजानाति न संकल्पयते मनः ॥
न चाभिमन्यते किञ्चिन्न च बुध्यति काष्ठवत् ।
एवमीश्वरसंल्लीनः समाधिस्थ स गीयते ॥
यथादीपो निवातस्थो नेङ्गते सोमपा स्मृता ।
ध्यायतो विष्णुमात्मानं समाधिस्तस्य योगिनः ॥
योगयुक्तस्तु सर्वेषां योगान्नाप्नोति वेदनाम् ॥' [14]

योऽयं योगः अग्निपुराणे आख्यातः तस्य योगस्य आख्यानं पातञ्जलयोग दर्शनेऽपि अविकलरूपेण उपपादितः। **'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-धारणाध्यानसमाधयः'** इति।

'तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्' प्रत्ययरूपचित्तवृत्तेः एकतानता एकाग्रता तद्ध्यानं ध्यानसाध्यं समाधिं लक्षयति **'तदेवार्थमात्रनिर्भास-स्वरूपशून्यमिवसमाधिः'** तदैव ध्यानं प्रत्ययात्मकं यदा अर्थमात्रनिर्भासं ध्येयविषयाकारेणैव साक्षिणि निर्भासते न तु प्रत्ययाकारणरूपेण, तदा अहमिदं चिन्तयामीत्येवं रूपस्य वृत्यन्तरस्योदयो न भवति। अतः एव वृत्यन्तररहितं स्वरूपशून्यमिव भवति। तदा ध्यानमेवेदृश्य- वयस्थायां समाधिः उच्यते। यदात्ममात्रनिर्भासं चैतन्यरूपवद् ध्यानं तत्समाधिः उच्यते।

सांख्ययोगदर्शनस्य सर्वदर्शनेषु सर्वासु विद्यासु च व्यापकत्वमङ्गीक्रियते-कपिलादिभिर्महर्षिभिः, अत्र महाभारतीयं वचः प्रमाणम्–

'सांख्यं च योगं च सनातने द्वे वेदाश्च सर्वे निखिलेन राजन् ।
सर्वैः समस्तैर्ऋर्षिभिर्निरुक्तो नारायणो विश्वमिदं पुराणम् ॥' [15]

किं च–

'ज्ञानं महद् यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे ।
यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र ॥
यच्चेतिहासेषु महत्सु दृष्टं यच्चार्थशास्त्रे नृपशिष्टजुष्टे ।
ज्ञानं च योगे यदिहास्ति किञ्चित् सांख्यागतं तच्चमहन्महात्मन् ॥'

सन्दर्भ :

1. *महाभारत*, आदिपर्व
2. *अग्निपुराण*, 38.51
3. *अग्निपुराण*, 372.1-4
4. *योगसूत्र*, 2.29
5. *योगसूत्र*, 2.30
6. *अग्निपुराण*, 372, 1-6
7. *अग्निपुराण*, 373, 1-2
8. *अग्निपुराण*, 372, 3-4
9. *अग्निपुराण*, 372, 12-13
10. *अग्निपुराण*, 373, 14-15
11. *अग्निपुराण*, 374.20
12. *अग्निपुराण*, 37-376-1-6
13. विभूतिपाद योगसूत्र, 1
14. *अग्निपुराण*, 375, 1-5
15. *महाभारत*, शान्तिपर्व, 349.73
16. *महाभारत*, शान्तिपर्व, 301.9-10

अग्निपुराण : अष्टाङ्गयोग

कामिनी कुमारी *

पुराण का वास्तविक अर्थ 'प्राचीन' होता है। इसमें प्राचीन कथानक, वंशावली, इतिहास, भूगोल, ज्ञान-विज्ञान आदि सभी प्राचीन तत्त्वों का समावेश होता है, अतः इसे पुराण नाम दिया गया है। पुराण की निरुक्ति इस प्रकार की गयी है– **'पुराणम् आख्यानं पुराणम्'**। अर्थात् प्राचीन आख्यानों को पुराण कहते हैं। अट्ठारह पुराणों की गणना में *अग्निपुराण* का स्थान अति महत्त्वपूर्ण है। प्रतिपाद्य विषयों के विस्तार एवं गहनता तथा उपादेयता को दृष्टिगत रखते हुए *अग्निपुराण* को विश्वकोश की संज्ञा दी गई है। इसमें उस समय की प्रचलित सभी विद्याओं का संकलन है।

अग्निदेव ने *अग्निपुराण* में ब्रह्मज्ञान व अद्वैतब्रह्मविज्ञान के वर्णन के पूर्व उसकी प्राप्ति के साधन के रूप में अष्टाङ्गयोग का वर्णन किया है।

समस्त ज्ञान की प्राप्ति अकस्मात् अथवा एक ही बार में सम्पूर्ण रूप में नहीं हो जाया करती है, वरन् ज्ञान प्राप्ति कई चरणों में सम्पन्न होती है। अतएव ज्ञान की प्राप्ति हेतु साधनों का अभ्यास भी निश्चित क्रम में उत्तरोत्तर प्रकार से ही करना चाहिए। इसी क्रम को अग्निदेव *अग्निपुराण* में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा व अन्ततः समाधि के रूप में वर्णित करते हैं। इन सभी योगांगों का उचित क्रम है तथा इन्हीं क्रमों में इनका अभ्यास भी करना चाहिए, तभी स्वरूप-ज्ञान की प्राप्ति सम्भव हो पाती है।

योग के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए अग्निदेव कहते हैं–

---

* शोध छात्रा, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

'ब्रह्मप्रकाशकं ज्ञानं योगस्तत्रैकचित्तता' [1]

ब्रह्म को प्रकाशित करनेवाले चित्त की एकाग्रता को योग कहते हैं। योगक्रिया के फलस्वरूप चित्त एकाग्र हो जाता है व ब्रह्म का स्वरूप प्रकाशित होता है। पुनः अग्निदेव कहते हैं—

'चित्तवृत्तिर्निरोधश्च जीवब्रह्मात्मनोः परः' [2]

जीवात्मा एवं परमात्मा में ही अंतःकरण की वृत्तियों को स्थापित करते हुए चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। योगक्रिया में चित्तवृत्तियों को बाह्य विषयों की ओर उन्मुख होने से पूर्णतः निरुद्ध किया जाता है। इस क्रिया में अन्तःकरण की वृत्तियों को आत्मतत्त्व मात्र में प्रतिस्थापित करते हुए ही ज्ञान की प्राप्ति की जाती है।

योग के उपर्युक्त स्वरूप का वर्णन हमें *पातञ्जलयोगसूत्र* में भी प्राप्त होता है— **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** [3]

संसार के त्रिविध ताप के नाश हेतु एवं चित्तवृत्तियों के निरोध व आत्मतत्त्व में उनकी स्थापना के लिए अग्निदेव अष्टाङ्ग योग का वर्णन करते हैं—

'संसारतापमुक्त्यर्थं वक्ष्याम्यष्टाङ्गयोगकम्' [4]

पातञ्जलयोग में भी शरीर, इन्द्रियों व चित्त की शुद्धि के लिए आठ योगाङ्गों का वर्णन है—

'यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि' [5]

1. यम

'अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य्यापरिग्रहौ' [6]— अग्निदेव पाँच प्रकार के यम का उल्लेख करते हैं—

अहिंसा— किसी भी जीव को दुःख नहीं देना ही अहिंसारूपी परम धर्म है। अहिंसा को सभी धर्मों का आधार बताया गया है—

'भूतापीडा ह्यहिंसा स्यादहिंसा धर्म उत्तमः' [7]

हिंसा के दस प्रकारों को बताते हुए अग्निदेव कहते हैं— 1. किसी को उद्विग्न करना, 2. संतप्त करना, 3. रोगी बनाना, 4. किसी के शरीर से रक्त निकालना आदि, 5.

चुगली करना, 6. किसी के हित में बाधा पहुँचाना, 7. गोप्य बातों का प्रचार करना, 8. दूसरे को सुख से वञ्चित करना, 9. अकारण बन्दी बनाना, 10. प्राणदण्ड देना आदि हिंसा के विविध रूप हैं। अतएव इनका सर्वथा त्याग करना ही अहिंसा का अभ्यास है। पातञ्जलयोग में अहिंसा को इस प्रकार से बताया गया है–

'तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः' [8]

सब प्रकार से सदैव सब प्राणियों को पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है।

सत्य– 'यद्भूतहितमत्यन्तं वचः सत्यस्य लक्षणम्' [9] अर्थात् सत्य वह है जो दूसरों के लिए हितकर हो। अग्निदेव कहते हैं कि सत्य व प्रिय बोलना ही सनातन धर्म है। व्यास मुनि भी कहते हैं कि जो पदार्थ जैसा हो, वैसी ही वाणी और वैसा ही मन होना सत्य कहा जाता है। सत्य वाणी सब के उपकार के लिए प्रवर्तित होती है, अपकार के लिए नहीं। यदि इस प्रकार से बोली गयी जिससे प्राणियों की हानि करनेवाली होती है, तो यह सत्य नहीं होगी, अपितु पाप रूप होगी। अतएव सत्य एवं प्रिय वचन ही बोलना चाहिए।

'सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे यथा दृष्टं यथाऽनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्च' [10]

अस्तेय– दूसरों की वस्तुओं का बलात् अपहरण नहीं करना तथा देवताओं के लिए होम किए बिना हविष्य को नहीं खाना ही अस्तेय कहा जाता है। पातञ्जलयोग के अनुसार शास्त्राज्ञा के विपरीत दूसरों से द्रव्य ग्रहण करना स्तेय है। इस प्रकार की इच्छा के भी अभाव रूप का स्तेयाभाव अस्तेय है।

'स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्।
तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति ॥' [11]

ब्रह्मचर्य– 'मैथुनस्य परित्यागो ब्रह्मचर्य्यं तदष्टधा' [12] मैथुन के आठ अङ्गों का परित्याग ही ब्रह्मचर्य है। इससे सम्पूर्ण शुभ कर्मों की सिद्धि होती है व उसके अभाव में समस्त क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं।

'ब्रह्मचर्य्यं क्रियामूलमन्यथा विफला क्रिया' [13]

अपरिग्रह– जीवन निमित्त मात्र के लिए आवश्यक वस्तुओं का संग्रह व अन्य वस्तुओं का त्याग ही अपरिग्रह कहा जाता है। वस्तुतः हमें अपने शरीर की रक्षा

प्रयत्नतः करनी चाहिए क्योंकि शरीररूपी माध्यम से ही सभी धर्मों की सिद्धि सम्भव हो पाती है।

2. नियम

'नियमाः भुक्तिमुक्तिदाः' [14]

अग्निदेव के अनुसार नियम भोग एवं मुक्ति प्रदान करनेवाले होते हैं। नियम भी पाँच प्रकार के बताए गए हैं—

'शौचं सन्तोषतपसी स्वाध्यायेश्वरपूजने' [15]

शौच— 'शौचन्तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।' [16] शौच दो प्रकार का होता है— बाह्य व आभ्यन्तर। मिट्टी व जल से बाह्य शुद्धि एवं भावों की शुद्धि से आभ्यन्तर शौच निष्पन्न होता है। जो व्यक्ति इन दोनों ही शुद्धि से युक्त होता है, वही वास्तविक रूप में शुद्ध कहा जाता है।

सन्तोष— 'यथा कथञ्चित् प्राप्त्या च सन्तोषस्तुष्टिरुच्यते ।' [17] प्रारब्धानुसार जो कुछ भी जैसे मिल जाए, उसी में सन्तुष्ट रहने को सन्तोष कहते हैं।

तप— 'मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च ऐकाग्रयं तप उच्यते ।' [18] मन और इन्द्रियों की एकाग्रता को तप कहते हैं। इन पर विजय पाना ही सर्वोतम तप है। तप तीन प्रकार का कहा गया है—

1. वाचिक— मन्त्र-जप आदि वाचिक तप हैं।
2. मानसिक— आसक्ति का परित्याग मानसिक तप है।
3. शारीरिक— देवपूजन आदि शरीरिक तप हैं।

इन तीनों ही प्रकार के तप की सिद्धि से सब कुछ प्राप्त हो जाता है। पातञलयोग में कहा गया है— **'तपो द्वन्द्वसहनम् ।'** [19] अर्थात् शीतोष्ण, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों को सहना ही तप है। इस पर विजय पाकर ही स्वाध्याय आदि में चित्त की स्थिति सुदृढ़ हो सकती है।

स्वाध्याय— ओंकाररूपी प्रणव का जप करना ही स्वाध्याय है। वेद प्रणव से ही प्रारम्भ होते हैं, अतएव सम्पूर्ण वेद प्रणव में ही स्थित हैं। प्रणव ही सम्पूर्ण वाङ्मय है, अतएव प्रणव का जप करना चाहिए। पाञ्जलयोग में उल्लिखित है कि

मोक्षशास्त्रों अथवा प्रणव का जप करना ही स्वाध्याय है—

'स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा' [20]

ईश्वरप्रणिधान— योगी को हृदय में स्थित ब्रह्म का मन से ध्यान करते हुए प्रणव का जप करना चाहिए, इसी को ईश्वरप्रणिधान कहते हैं। पतञ्जलि मुनि कहते हैं कि परम गुरु ईश्वर को समर्पित करते हुए सम्पूर्ण कर्मों को निष्पादित करना ही ईश्वरप्रणिधान है—

'ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्' [21]

प्रणव की महत्ता को व्याख्यायित करते हुए अग्निदेव कहते हैं कि प्रणव धनुष है, जीवात्मा बाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य है। अतएव सावधान होकर उस लक्ष्य का भेदन करना चाहिए तथा बाण के समान तन्मय हो जाना चाहिए। यह एकाक्षर प्रणव ही ब्रह्म है, परमतत्त्व है। प्रणव में अकार, उकार एवं अर्ध मकार है। तीन मात्राएँ, तीनों वेद, (भूः, भुवः एवं स्वः) तीनों लोक, (सत्त्व, रजस् व तमस्) तीनों गुण, जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति, ब्रह्मा, विष्णु व महेश, प्रद्युम्न, श्री एवं वासुदेव— ये सभी क्रमशः ओंकारस्वरूप हैं। ओंकार मात्राओं से रहित अथवा अनन्त मात्राओं से युक्त है। वह द्वैत को विनष्ट करनेवाला तथा शिव स्वरूप है, अतएव जिसने ओंकार को तत्त्वतः जान लिया, वही मुनि है, अन्य कोई नहीं। अर्धमात्रा के रूप में प्रख्यात प्रणव की चतुर्थी मात्रा गान्धारी कहलाती है, यह प्रयुक्त होने पर मूर्धा में लक्षित होती है, वही तुरीय नाम से प्रसिद्ध परब्रह्म है, वह ज्योतिर्मय है। अग्निदेव कहते हैं कि जिस प्रकार घड़े के भीतर रखा दीपक उसमें प्रकाश करता है, उसी प्रकार मूर्धा में विद्यमान परब्रह्म उसके भीतर अपनी ज्ञानमयी-ज्योति फैलाए रहता है।

यम एवं नियम की सिद्धि के लिए अग्निदेव गुरु एवं देव के प्रति भक्ति व श्रद्धा को अनिवार्य तत्त्व मानते हैं। अतएव गुरु के सान्निध्य में ही इनका अभ्यास करना चाहिए, तभी इनकी सिद्धि शीघ्र सम्भव हो पाती है।

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥' [22]

अहिंसा के प्रतिष्ठित हो जाने पर उस योगी के वैरभाव की समाप्ति हो जाती है। सत्य की प्रतिष्ठा हो जाने से उस साधक में शुभाशुभ क्रियायों और उसके फलों की आश्रयता आ जाती है। अस्तेय के प्रतिष्ठित हो जाने पर सभी रत्नों की

उपस्थिति होती है। ब्रह्मचर्य के प्रतिष्ठित होने से सामर्थ्य लाभ होता है। अपरिग्रह के स्थिर होने से जन्मों तथा उनके प्रकार का सम्यग् ज्ञान होता है।

बाह्य शौच के स्थिर हो जाने पर अपने अंगों के प्रति घृणा और अन्य प्राणी के अङ्गों से संसर्गाभाव होता है तथा आभ्यन्तर शौच की सिद्धि से बुद्धि-शुद्धि, मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों पर विजय और आत्मसाक्षात्कार की योग्यता उत्पन्न होती है। सन्तोष की सिद्धि से निरतिशय सुख की प्राप्ति होती है। तप से अशुद्धि का नाश हो जाने से कार्य-सिद्धि (अणिमादि) तथा इन्द्रिय-सिद्धि (दूर श्रवणादि) प्राप्त होती है। स्वाध्याय के प्रतिष्ठित हो जाने पर इष्ट देवताओं का सम्पर्क होता है। ईश्वरप्रणिधान के स्थिर हो जाने पर समाधि की सिद्धि होती है।

3. आसन

सिद्धियों सहित यम और नियम के वर्णन के उपरान्त अग्निदेव आसन नामक तृतीय योगाङ्ग का वर्णन करते हैं। उचित आसनादि में बैठकर ही प्राणायामादि योगाङ्गों की शीघ्रातिशीघ्र सिद्धि सम्भव हो पाती है। पतञ्जलि मुनि के अनुसार जो शारीरिक स्थिति स्थायी और सुखद हो, वह आसन कहलाता है– **'स्थिरसुखमासनम् ।'**[23] पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रय, पर्य्यङ्कासन, क्रौञ्चनिषदन, हस्तिनिषदन, उष्ट्रनिषदन और समसंस्थान स्थिरसुख होते हैं। अग्निदेव के अनुसार पद्मासन आदि कोई भी आसन लगाकर परमात्मा का चिन्तन करने से शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। आसन की शुचिता आदि का वर्णन करते हुए अग्निदेव कहते हैं कि किसी भी पवित्र स्थान में अपने बैठने के लिए स्थिर आसन बिछाकर जो न तो अधिक ऊँचा हो और न ही अधिक नीचा हो, उस पर सबसे पहले कपड़ा, उसके ऊपर मृगचर्म तथा उसके ऊपर कुशासन बिछाए। ऐसे आसन पर बैठकर मन को एकग्र करके चित्त एवं इन्द्रियों की क्रियाओं को नियन्त्रित करना चाहिए। उस आसन पर बैठकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योगाभ्यास में लगना चाहिए। वस्तुतः आसनादि की सिद्धि होने पर शीतोष्णादि द्वन्द्वों से बाधा नहीं होती है।

'ततो द्वन्द्वानभिघातः'[24]

4. प्राणायाम

आसनजय होने के उपरान्त प्राणायाम की सिद्धि हेतु अग्रसर होना चाहिए।

प्राणायाम का वर्णन करते हुए अग्निदेव कहते हैं—

'प्राणः स्वदेहजो वायुस्तस्यायामो निरोधनम्'[25]

अर्थात् शरीर के भीतर रहनेवाली वायु को प्राण कहते हैं तथा इसे रोकना ही प्राणायाम है। अग्निदेव प्राणायाम के अन्तर्गत तीन प्रकार की क्रियाविधियों का वर्णन करते हैं-

रेचक– अंगुलि से नासिका के एक छिद्र को दबाकर दूसरे से पेट में रहनेवाली वायु को बाहर निकालने की क्रिया रेचक कहलाती है।

पूरक– बाहर की वायु से अपने शरीर को भरने के उपरान्त कुछ देर तक वैसे ही रखने की क्रिया पूरक कहलाती है।

कुम्भक– वायु भर जाने के पश्चात् साधक न तो भीतर की वायु को छोड़ता है और न तो बाहर की वायु को ग्रहण करता है, अपितु भरे हुए घड़े के समान अविचल भाव से स्थिर रहता है, इस क्रिया को कुम्भक कहते हैं।

प्राणायाम के विविध स्तरों का उल्लेख करते हुए अग्निदेव कहते हैं कि बारह मात्रा का एक उद्घात होता है, इतनी देर तक का जो प्राणायाम होता है, वह कनिष्ठ प्राणायाम होता है। दो उद्घातवाला प्राणायाम मध्यम प्राणायाम होता है। तीन उद्घात तक का जो प्राणायाम होता है, वह उत्तम प्राणायाम होता है। जिस प्राणायाम से शरीर से पसीना निकलने लगे, शरीर काँपने लगे, वह प्राणायाम उत्तमोत्तम होता है। प्राणायाम की पूर्व-पूर्व भूमिका पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त ही उत्तरोत्तर भूमिका का अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम की दो कोटियों का उल्लेख करते हुए अग्निदेव कहते हैं कि जप एवं ध्यान के बिना किया जानेवाला प्राणायाम अगर्भ प्राणायाम तथा जप व ध्यान के साथ किया जानेवाला प्राणायाम सगर्भ प्राणायाम होता है। इन्द्रियों पर विजय पाने हेतु सगर्भ प्राणायाम ही उत्तम है-

'जपध्यानं विनागर्भः स गर्भस्तत् समन्वितः ।
इन्द्रियाणां जयार्थाय सगर्भं धारयेत् परम् ॥'[26]

प्राणायाम का वर्णन करते हुए पतञ्जलि मुनि कहते हैं कि आसन की सिद्धि के पश्चात् श्वास और प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम है। बाह्य वायु को ग्रहण करना श्वास है व उदरस्थ वायु को निकालना प्रश्वास है। शरीर के बाहर होनेवाला रेचक, शरीर के भीतर होनेवाला पूरक तथा बाहर और भीतर रुकनेवाला कुम्भक

त्रिविध प्राणायाम देश, काल व संख्या के द्वारा परीक्षित होता हुआ दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः'[27]

'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिष्टो, दीर्घसूक्ष्मः'[28]

प्राणायाम के सिद्ध हो जाने पर प्रकाश पर पड़ा हुआ पर्दा क्षीण हो जाता है तथा चित्त स्थिर हो जाता है—

'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'[29]

5. प्रत्याहार

प्राणायाम के उपरान्त प्रत्याहार का वर्णन करते हुए अग्निदेव कहते हैं—

'इन्द्रियाणि प्रसक्तानि प्रविश्य विषयोदधौ ।
आहृत्य यो निगृह्णाति प्रत्याहारः स उच्यते ॥'[30]

विषयों के समुद्र में प्रवेश करके उसमें फँसी हुई इन्द्रियों को लौटाकर वश में करने की क्रिया को प्रत्याहार कहते हैं। वस्तुतः जब चित्त का निरोध हो जाता है, तो इन्द्रियाँ स्वतः ही निरुद्ध हो जाती हैं एवं साधक प्रत्याहार की स्थिति का लाभ प्राप्त करता है। पतञ्जलि मुनि कहते हैं—

'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः'[31]

अर्थात् अपने विषयों के साथ सन्निकर्ष न होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप का अनुकरण-सा कर लेना प्रत्याहार है। प्रत्याहार की सिद्धि से इन्द्रियों की प्रबल वशवर्तिता होती है।

'ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्'[32]

6. ध्यान

'ध्यै' धातु चिन्तनार्थक है तथा इसी से ध्यान शब्द की व्युत्पति निष्पन्न होती है। अतएव अग्निदेव के अनुसार स्थिर चित्त से भगवान् विष्णु का बार-बार चिन्तन करना ही ध्यान है।

'ध्यै चिन्तायां स्मृतो धातुर्विष्णुचिन्ता मुहुर्मुहुः'[33]
अनाक्षिप्तेन मनसा ध्यानमित्यभिधीयते ॥'

पुनः ध्यान को पारिभाषित करते हुए कहा गया है—

'आत्मनः समनस्कस्य मुक्ताशेषोपधस्य च ।
ब्रह्मचिन्तासमासक्तिर्ध्यानं नाम तदुच्यते ।।'[34]

अर्थात् समस्त उपाधियों से रहित होकर मन सहित आत्मा का ब्रह्म विचार में परायण होना ही ध्यान कहलाता है। इसके अतिरिक्त भी अग्निदेव कहते हैं—

'ध्येयालम्बनसंस्थस्य सदृशप्रत्ययस्य च ।
प्रत्ययान्तरनिर्मुक्तः प्रत्ययो ध्यानमुच्यते ।।'[35]

अर्थात्, ध्येय रूप आधार में स्थित एवं सदृश ज्ञान से युक्त, विजातीय प्रतीतियों से रहित जो प्रतीति होती है, उसको ध्यान कहते हैं। इसके अतिरिक्त जिस किसी प्रदेश में भी ध्येय वस्तु के चिन्तन में एकाग्र हुए चित्त को प्रतीति के साथ जो अभेद की भावना होती है, उसको भी ध्यान कहते हैं।

'ध्येयावस्थितचित्तस्य प्रदेशे यत्र कुत्रचित् ।
ध्यानमेतत् समुद्दिष्टं प्रत्ययस्यैकभावना ।।'[36]

अतएव प्राणायाम से सुदृढ़ हुआ चित्त ही ध्यान में अवस्थित होता है। अग्निदेव कहते हैं कि तत्त्ववेत्ता योगी को चाहिए कि वह ध्याता, ध्यान, ध्येय तथा ध्यान के प्रयोजन को जानकर योग का अभ्यास करें। ध्यान के अभ्यास से मोक्ष की प्राप्ति व आठ प्रकार के महाऐश्वर्य (अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, ईशित्व एवं वशित्व) की सिद्धि होती है। अग्निदेव कहते हैं कि अणिमा आदि ऐश्वर्यों की प्राप्ति तथा मुक्ति की प्राप्ति ही ध्यान के प्रयोजन हैं। अग्निदेव कहते हैं कि हिंसा आदि दोषों से रहित होने के कारण ध्यान अन्तःकरण की शुद्धि का प्रधान साधन तथा चित्त को वश में करनेवाला है। ध्यान यज्ञ सर्वश्रेष्ठ है, उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतएव अग्निदेव उपदेश देते हैं कि अशुद्ध एवं अनित्य बाह्य साधनों वाले यज्ञ आदि कर्मों का त्याग करके योग का ही विशेष रूप से अभ्यास करना चाहिए। ध्यान करते हुए सदा परम अक्षर ओंकार का जप करना चाहिए। साधक को चाहिए कि मन को स्थिर करने के लिए पहले वह स्थूल आलम्बन का ध्यान करें, पुनः क्रमशः मन के स्थिर हो जाने पर उसे सूक्ष्म तत्त्व के चिन्तन में लगना चाहिए। अग्निदेव कहते हैं कि ध्यान करते समय यह भावना करनी चाहिए कि मैं ज्योतिर्मय हूँ। मैं ही नित्य ओंकारस्वरूप हूँ। ध्यान करने से थक जाने

पर मन्त्र जप करना चाहिए और जप करते-करते थक जाने पर पुनः ध्यान करना चाहिए। वस्तुतः भोग, मोक्ष तथा मृत्यु पर विजयरूपी फल की प्राप्ति जप के द्वारा होती है–

'भुक्तिमुक्तिर्मृत्युजयो जपेन प्राप्नुयात् फलम्'[37]

7. धारणा

ध्येय में मन का स्थिर हो जाना ही धारणा है। इसके दो भेद हैं– साकार तथा निराकार।

'धारणा मनसो ध्येये संस्थितिर्ध्यानवद् द्विधा'[38]

जबतक बाहर के लक्ष्यों से मन विचलित नहीं होता है, तब तक किसी भी ध्येय में मन को लगाना ही धारणा है। वस्तुतः नियत समय तक जो देह के भीतर मन को रोके रहता है तथा वह अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होता है, तो उसी अवस्था को धारणा कहते हैं।

'कालावधि परिच्छिन्नं देवे संस्थापितं मनः ।
न प्रच्यवति यल्लक्ष्याद् धारणा साऽभिधीयते ॥'[39]

बारह आयाम की एक धारणा होती है। बारह धारणा का एक ध्यान होता है तथा बारह ध्यानपर्यन्त जो मन की एकाग्रता होती है, उसे समाधि कहते हैं। इस प्रकार धारणा एवं ध्यान की उत्तरोत्तर सिद्धि साधक को समाधि की अवस्था तक पहुँचाती है।

8. समाधि

जो चैतन्य रूप से युक्त एवं शान्त समुद्र की भाँति स्थिर हो जाता है, जिसमें आत्मा के सिवाय किसी भी अन्य वस्तु की प्रतीति नहीं होती है, उस ध्यान को योगदर्शन में समाधि कहते हैं।

'यदात्ममात्रं निर्भासं स्तिमितोदधिवत् स्थितम् ।
चैतन्यरूपवद् ध्यानं तत् समाधिरिहोच्यते ॥'[40]

अग्निदेव समाधिस्थ योगी के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो व्यक्ति ध्यान के समय अपने चित्त को ध्येय में स्थिर करके निर्वात स्थान में जलती हुई अग्निशिखा के समान अविचल एवं स्थिर भाव से बैठा रहता है, वह योगी समाधिस्थ

कहलाता है। जो न सुनता है, न सूंघता है, न देखता है, न आस्वाद लेता है, न तो स्पर्श का अनुभव करता है और न तो जिसका मन संकल्प करता है, न तो अभिमान करता है, न तो वह किसी दूसरी वस्तु को जानता है, काष्ठ के समान अविचल भाव से ईश्वर के चिन्तन में तल्लीन रहता है, उस पुरुष को समाधिस्थ कहा जाता है।

अग्निदेव कहते हैं कि योगी के समाधि की सिद्धि से पूर्व उसके समक्ष अनेक अलौकिक विघ्न उपस्थित होते हैं, किन्तु जो इन सभी विघ्नों को तिनके के समान निस्सार समझकर त्याग देता है, उसी की समाधि सिद्ध होती है। इसी प्रकार समाधि के स्वरूप का वर्णन करते हुए पतञ्जलि मुनि भी कहते हैं–

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' [41]

अर्थात् (ध्येय) अर्थमात्र को निर्भासित करनेवाला अपने (ज्ञानात्मक) रूप से भी रहित-सा ध्यान ही समाधि है। वस्तुतः ध्यान ही जब ध्येय के स्वभाव का आवेश होने के कारण ध्येय के आकार से भासित तथा अपने (ज्ञानात्मक) रूप से रहित जैसा हो जाता है, उस अवस्था को समाधि कहा जाता है।

इन्द्रियों व मन के निरूद्ध होने से चित्त में व्युत्थानसंस्कारों का दमन एवं निरोधसंस्कारों का उदय होता है। निरोधपरिणामस्वरूप चित्त में अनेकाग्रता का तिरोभाव और एकाग्रता का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार की चित्त की एकाग्रता के फलस्वरूप चित्त में समान रूप से पूर्वकालिक ज्ञान शान्त होते रहते हैं तथा उत्तरकालिक ज्ञान का उदय होता रहता है। अन्ततः समाधि के सिद्ध हो जाने पर योगी को प्रज्ञा का प्रकाश होता है तथा आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर वह चैतन्यस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, इसी को कैवल्य कहते हैं। इस अवस्था का वर्णन करते हुए पतञ्जलि मुनि कहते हैं–

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' [42]

बन्धन तथा मोक्ष

जिस तरह से मलिन दर्पण प्रतिबिम्ब का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं होता है, उसी प्रकार मलिन अंतःकरण में आत्मज्ञान उदित नहीं होता है। देह समस्त प्रकार के रोगों का आश्रय है, अतएव देहाभिमानी जीव अपने शरीर में कष्ट प्राप्त करता है, किन्तु योगी साधक तो योग के प्रभाव से किसी भी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं करता है। जैसे एक ही आकाश घट आदि विभिन्न उपाधियों के कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत

होता है तथा एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न जलाधारों के कारण अनेक प्रतीत होता है, उसी तरह एक ही आत्मा शरीर भेद के कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। वायु, तेज, जल, आकाश और पृथिवी– ये पाँचों भूत ब्रह्मात्मक हैं। यह समस्त लोक आत्मा ही है। आत्मा से ही चराचर अभिव्यक्त होता है। आत्मा इन्द्रियों को साथ लेकर कार्य-कारण समूह को एकत्रित करके विभिन्न योनियों में शरीर धारण करता है। जीव कर्म, दोष, मोह एवं अपनी इच्छा से बन्धन में पड़ता है तथा ज्ञान से उसकी मुक्ति होती है। योग एवं धर्म के अभाव में शरीर में विकार उत्पन्न होते हैं। समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, कर्मेन्द्रियाँ, अहंकार, बुद्धि तथा पृथिवी इत्यादि पञ्चमहाभूत और प्रति– ये सभी क्षेत्र हैं तथा आत्मा सबों को जाननेवाला क्षेत्रज्ञ है। वही समस्त भूतों का ईश्वर है। सत्, असत्, और सदसत्– सभी उसके रूप हैं। जो सबों का आदि कारण होकर भी अनादि है, वही परमपुरुष परमात्मा है। वेदाध्ययन, निष्कामकर्म, ब्रह्मचर्य, तप व दम, श्रद्धा, उपवास तथा सत्यभाषण– ये आत्मज्ञान के साधन हैं। अतएव सभी को सत्त्वगुण को अपनाकर आत्मा का श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन व साक्षात्कार करना चाहिए, तभी पूर्णतः मुक्ति सम्भव है। अग्निदेव कहते हैं–

'वेदानुवचनं यज्ञा ब्रह्मचर्यं तपो दमः'[43]
श्रद्धोपवासः सत्यत्वमात्मनो ज्ञानहेतवः ॥
स त्वाश्रमैर्निदिध्यास्यः समस्तैरेवमेव तु ।
द्रष्टव्यस्त्वथ मन्तव्यः श्रोतव्यश्च द्विजातिभिः ॥'

निष्कर्ष

अग्निपुराण में वर्णित विविध विषयों के मध्य योगशास्त्र का अद्वितीय महत्त्व है। ज्ञान के प्रकाशन हेतु योग की परमावश्यकता है। सम्पूर्ण संसार में ज्ञान का प्रकाश तभी फैल सकता है, जब अज्ञान को पूर्णतः विनष्ट कर दिया जाए। ज्ञान के उदय के लिए यह आवश्यक है कि जीव अपने 'स्वरूप' को पहचाने तथा यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक इन्द्रियों तथा मन को बाह्य विषयों से पूर्णतः निरुद्धकर आत्मचैतन्य में उनकी प्रतिष्ठा न हो जाए। पूर्णतः निरुद्ध चित्त ही आत्मचौतन्य से आलोकित होता हुआ अपने स्वरूप का साक्षात्कार करता है। जीव के अज्ञानावरण का विनाश हो जाता है तथा चैतन्यस्वरूप में उसकी प्रतिष्ठा हो जाती है। यही परमलक्ष्य है जिसकी प्राप्ति के उपरान्त कुछ भी शेष नहीं बचता है।

इस सबके अतिरिक्त कैवल्य की शीघ्रतर प्राप्ति हेतु साधक भक्तियोग का

भी आश्रय ग्रहण करते हैं। ईश्वर की अनुकम्पा से साधक शीघ्र ही आत्मसाक्षात्कार में सक्षम हो पाता है। अग्निदेव भी श्रीविष्णु के ध्यान का उपदेश देते हैं। अग्निदेव कहते हैं कि मूर्तात्मक एवं अमूर्तात्मक सम्पूर्ण जगत् को परमात्मा का स्वरूप जानकर उसमें श्रीहरि का चिन्तन करना ही ध्यान है। अपने शरीररूपी मन्दिर के भीतर मन में स्थित हृदयकमल रूपी पीठ के मध्य भाग में भगवान् केशव की स्थापना करके ध्यानयोग के द्वारा उनकी पूजा करनी चाहिए। ध्यान यज्ञ श्रेष्ठ, शुद्ध तथा समस्त दोषों से रहित है। उसके द्वारा श्रीभगवान् का यजन करके मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। बाह्यशुद्धि से युक्त यज्ञों के द्वारा इस फल की प्राप्ति नहीं की जा सकती है–

'ध्यानयज्ञः परः शुद्धः सर्वदोषविवर्जितः ।
तेनेष्ट्वा मुक्तिमाप्नोति बाह्यशुद्धैश्च नाध्वरैः ॥'[44]

पतञ्जलि मुनि भी इसी प्रकार भक्तियोग को एक अन्य विकल्प के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं– **'ईश्वरप्रणिधानाद्वा।'**[45] अर्थात् भक्तिविशेष से प्रसन्न किए गए ईश्वर योगी को संकल्पमात्र से अनुगृहीत करते हैं। ईश्वर के संकल्पमात्र से योगी को समाधिलाभ और समाधिफल शीघ्रतम सम्पाद्य हो जाते हैं।

सन्दर्भ :

1. *अग्निपुराण*, 372.1
2. *वही*, 372.2
3. *योगसूत्र*, 1.2
4. *अग्निपुराण*, 372.1
5. *योगसूत्र*, 2.29
6. *अग्निपुराण*, 372.2
7. *वही*, 372.4
8. *योगसूत्र*, 3.30 पर भाष्य
9. *अग्निपुराण*, 372.7
10. *योगसूत्र*, 2.30 पर भाष्य
11. *वही*
12. *अग्निपुराण*, 372.9
13. *वही*, 372.11
14. *वही*, 372.3
15. *वही*

16. *वही*, 372.17
17. *वही*, 372.19
18. *वही*
19. *योगसूत्र*, 2.32 पर भाष्य
20. *वही*
21. *वही*
22. *अग्निपुराण*, 372.36
23. *योगसूत्र*, 2.46
24. *वही*, 2.48
25. *अग्निपुराण*, 373.6
26. *वही*, 373.14
27. *योगसूत्र*, 2.49
28. *वही*, 2.50
29. *वही*, 2.52
30. *अग्निपुराण*, 373.20
31. *योगसूत्र*, 2.54
32. *वही*, 2.55
33. *अग्निपुराण*, 374.1
34. *वही*, 374.2
35. *वही*, 374.3
36. *वही*, 374.4
37. *वही*, 374.34
38. *वही*, 375.1
39. *वही*, 375.3
40. *वही*, 376.1
41. *योगसूत्र*, 3.3
42. *वही*, 1.3
43. *अग्निपुराण*, 376.35-36-37
44. *वही*, 374.13-14
45. *योगसूत्र*, 1.23

अग्निपुराण : धर्मशास्त्र

अशोक कुमार *

भारतीय-परम्परा के अनुसार पुराण वेद के समान ही अनादि हैं। महर्षि वेदव्यास ने सर्वप्रथम ब्रह्मा के श्रीमुख से निःसृत पुराण को 'पुराण-संहिता' के रूप में संकलित किया है। 'पुराण' शब्द की व्युत्पत्तियों में **'पूरणात् पुराणम्'** भी अन्यतम व्युत्पत्ति है, जिसका तात्पर्य यही है कि वेदार्थ के पूरण करने के कारण ही इस ग्रन्थ को 'पुराण' नामकरण प्राप्त हुआ। महापुराणों की संख्या प्राचीन काल से ही अठारह मानी गई है, यथा– मत्स्य, मार्कण्डेय, भविष्य, भागवत, ब्रह्माण्ड, ब्रह्म, वामन, वराह, विष्णु, शिव, अग्नि, नारद, पद्म, लिंग, गरुड़, कूर्म, ब्रह्मवैवर्त और स्कन्द।

अग्निपुराण के सभी 383 अध्यायों में नाना प्रकार की विद्याओं का समावेश है, जैसे– अवतारवाद, वास्तुविज्ञान, काव्यशास्त्र, ज्योतिष, भूगोल, आयुर्वेद, छन्द, राजधर्म, तीर्थमाहात्म्य, दर्शन, धनुर्वेद, रत्नपरीक्षा, सामुद्रिकशास्त्र आदि। धर्मशास्त्र के अंतर्गत वर्णधर्म, आश्रमधर्म, संस्कार, द्रव्य-शुद्धि, नवग्रह, नाना व्रत, मास व्रत, मास-उपवासव्रत, दानव्रत, सन्ध्या-विधि आदि के विषय में विवेचना की गई है।

पुराणों में धर्मशास्त्र का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। पुराणों में धर्मशास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन कब और क्यों किया गया है? इस प्रकार के प्रश्नों के विषय में विद्वानों के अलग-अलग मत हो जाते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि धर्मशास्त्रीय विषय पुराणसंहिता के मौलिक वर्ण्य विषयों में से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

---

* शोध छात्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

इस पुराण में वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, गृहस्थ के धर्म, ब्रह्मचारी के धर्म, संस्कार, आचार-धर्म, संन्यासी के धर्म, श्राद्धकल्प का वर्णन, धर्मशास्त्र का उपदेश, महापातक का वर्णन, प्रायश्चितों का वर्णन, व्रत-धर्म, गुप्त पापों के प्रायश्चित का वर्णन, द्रव्य-शुद्धि, सभी प्रकार के पापों का नाश, सोलह महादानों एवं नाना प्रकार के दानों का उल्लेख, संध्या-विधि, गायत्री मन्त्र के तात्पर्य, इत्यादि के विषय में विस्तृत रूप में वर्णन किया गया है। *अग्निपुराण* (अध्याय 151) में सभी वर्णों तथा आश्रमों के सामान्य धर्म के विषय में कहा गया है–

'अहिंसा सत्यवचनं दया भूतेष्वनुग्रहः ।
तीर्थानुसरणं दानं ब्रह्मचर्यममत्सरः ॥
देवद्विजातिशुश्रूषा गुरूणां च भृगूत्तम ।
श्रवणं सर्वधर्माणां पितृणां पूजनं तथा ॥
भक्तिश्च नृपतौ नित्यं तथा सच्छास्त्रनेत्रता ।
आनृशंस्यं तितिक्षा च तथा चाऽऽस्तिक्यमेव च ॥'

अर्थात् अहिंसा, हमेशा सत्य बोलना, सभी प्राणी पर दया करना, सम्पूर्ण जीवों पर कृपा करना, तीर्थों का सेवन करना, दान देना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, देवता तथा ब्राह्मणों की सेवा करना, गुरुओं की सेवा करना, सभी धर्मों का श्रवण करना, पितरों की पूजा करना, मनुष्यों के स्वामी श्रीभगवान् में हमेशा भक्ति करना, श्रेष्ठ शास्त्रों का अध्ययन करना, क्रूरता का त्याग करना, कोई कुछ बोल दे तो सहने की क्षमता अर्थात् सहनशीलता, आस्तिकता अर्थात् ईश्वर और परलोक में विश्वास रखना– ये वर्ण और आश्रम– दोनों के लिए 'सामान्य धर्म' बताए गए हैं। उपर्युक्त विषयों का पालन करना *अग्निपुराण* में धर्म कहा गया है तथा जो व्यक्ति इसके विपरीत आचरण करते हैं वही 'अधर्म' है।

समाज-व्यवस्था

समाज की व्यवस्था का विवेचन वर्ण एवं आश्रम के रूप में प्राप्त होता है। धर्मशास्त्रों में चार प्रकार के वर्णों का उल्लेख मिलता है– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। *अग्निपुराण* में ब्राह्मण के धर्म के विषय में यज्ञ करना और कराना, दान देना, वेदों को पढ़ाने का कार्य करना आदि बताया गया है। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के धर्म के विषय में भी बताया गया है। दान देना, वेदों का अध्ययन करना और विधिपूर्वक यज्ञानुष्ठान करना– ये क्षत्रिय और वैश्य के सामान्य कर्म हैं। प्रजा का पालन करना,

धर्म के विरुद्ध काम करनेवाले को दण्ड देना– ये क्षत्रिय के विशेष धर्म हैं। वैश्य के भी विशेष धर्म हैं। खेती करना, गो-रक्षा और व्यापार करना और शिल्प की रचना करना शूद्र का धर्म बताया गया है।[1]

आश्रम जीवन की यात्रा में एक विश्राम-स्थल का कार्य करते हैं जहाँ आगे की यात्रा के लिये तैयारी की जाती है। धर्मशास्त्र मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानते हैं तथा प्रत्येक आश्रम के निमित्त पच्चीस-पच्चीस वर्ष की अवधि निर्धारित करते हैं। इसी कारण चार आश्रम माने गए हैं– ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम।

ब्रह्मचर्य आश्रम है जिसका अर्थ है ब्रह्म के मार्ग पर चलना। यह विद्याध्ययन का काल है जिसका प्रारम्भ उपनयन-संस्कार से होता है। विद्यार्थी को गुरुकुल में रहकर वेदाध्ययन करना पड़ता था। यहाँ उसका पुरुषार्थ केवल धर्म होता था। उसकी सभी क्रियाएँ धर्मानुकूल होती थीं। विद्यार्थी गुरु की निष्ठापूर्वक सेवा करता था तथा भिक्षावृत्ति द्वारा अपना जीवन निर्वाह करता था। ब्रह्मचारी के विषय में कहा गया है कि उसे सूर्योदय से पूर्व उठना चाहिए, प्रातः एवं सायं हवन करना चाहिए। उसे हिंसा, परापवाद और अश्लीलता का परित्याग विशेष रूप से कर देना चाहिए।[2]

अग्निपुराण में गृहस्थाश्रम का भी वर्णन किया है। ब्रह्मचर्याश्रम के बाद मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था जिसकी अवधि 25 वर्ष से 50 वर्ष के लगभग तक मानी गई है। गृहस्थ के धर्म के विषय में कहा गया है कि उसे शास्त्रों में बताए गए नियम के अनुसार जीविका चलानी चाहिये। चारों वर्णों के गृहस्थ अपने धर्म के अनुसार जीवन निर्वाह करें। देवताओं, पितरों, भृत्यों आदि को खिलाने के बाद बचे हुए अन्न को ग्रहण करना चाहिये। अपनी विवाहित पत्नी से ही सम्पर्क रखना चाहिए। गृहस्थ को चाहिए कि वह पञ्च महायज्ञ भी करे।[3]

वानप्रस्थ आश्रम में मनुष्य गृह तथा ग्राम को छोड़कर वन में निवास के लिए जाते हैं। वानप्रस्थी के धर्म के विषय में कहा गया है कि उसे जटाधारी, मृगचर्म धारण करनेवाला होना चाहिए। उसे वन में रहकर जल, मूल, नीवार और फलों के ऊपर जीवन-यापन करना चाहिये। वानप्रस्थी का धर्म है देवता और अतिथि की पूजा। वह अकेले अथवा सपत्नीक वानप्रस्थ ले सकता है। उसे ग्रीष्म में निरन्तर पञ्चाग्नि का सेवन करना चाहिए। इस प्रकार उसे उग्र तपस्या करनी चाहिए।[4]

संन्यास आश्रम अन्तिम आश्रम है। इस आश्रम के विषय में *अग्निपुराण* में कहा गया है कि आयु के चौथे भाग में मनुष्य को संन्यासाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। संन्यासी को सभी प्रकार के संग से दूर हो जाना चाहिये। जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन घर छोड़कर चले जाना चाहिये। संन्यासी सदा अकेला ही घूमे। भोजन के लिये ही गाँव में जाय। अन्नादि का संग्रह नहीं करे। मिट्टी आदि के पात्र में ही भोजन करे। हमेशा सत्य ही बोले।[5]

संस्कार– धर्मशास्त्रकारों ने प्रमुखतः सोलह (16) संस्कार माने हैं, यथा– गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, समार्वतन, विवाह तथा अंत्येष्टि। *अग्निपुराण* के 82वें अध्याय में गर्भाधान-संस्कार में विषय में कहा गया है–

'शिथिलीभूतबन्धस्य शक्तावुत्कर्षणं च यत्।
आत्मनो रुद्रपुत्रत्वे गर्भाधानं तदुच्यते ॥'

अर्थात्, शिथिलीभूत बन्ध को शक्ति से खींचकर ले जाना और अपने आपको रुद्र के अंश में समझना 'गर्भाधान' कहलाता है।

'स्वातन्त्र्यात्मगुणव्यक्तिरिह पुंसवनं मतम्।
मायात्मनोर्विवेकेन ज्ञानं सीमन्तवर्धनम् ॥'

अर्थात्, स्वतन्त्रतापूर्वक आत्मगुणों की अभिव्यक्ति 'पुंसवन' है। माया और आत्मा के विवेक से युक्तज्ञान 'सीमन्तवर्धन' कहा गया है।[6]

विवाह– विवाह शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'वर' धातु से बनता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है वधू को वर के घर ले जाना या पहुँचाना। धर्मशास्त्रकारों ने आठ प्रकारों के विवाह का उल्लेख किया है– ब्राह्मविवाह, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच। *अग्निपुराण* के 154वें अध्याय में आठों विवाह के विषय में कहा गया है–

'आहूय दानं ब्राह्मः स्यात्कुलशीलयुताय तु।
पुरुषांस्तारयेत्तज्जो नित्यं कन्याप्रदानतः ॥
तथा गोमिथुनादानाद्विवाहस्त्वार्ष उच्यते।
प्रार्थिता दीयते यस्य प्राजापत्यः स धर्मकृत् ॥

शुल्केन चाऽऽसुरो मन्दो गान्धर्वो वरणान्मिथः ।
राक्षसो युद्धहरणात्पैशाचः कन्यकाच्छलात् ॥'

—*अग्निपुराण*, 154.9-11

अर्थात्, कुलीन और शीलवान् वर को बुलाकर कन्यादान करना 'ब्राह्मविवाह' कहा गया है। इस कन्यादान से उत्पन्न तेज नित्य पुरुषों का तारण करनेवाला होता है। गायों के एक जोड़े को दान में देकर जो विवाह किया जाता है उसे 'आर्ष विवाह' कहा जाता है। जिस विवाह में पुरुष के द्वारा याचना की जाने पर उसे कन्या दी जाती है उस विवाह को 'प्राजापत्य-विवाह' कहते हैं। यह धार्मिक विवाह कहा जाता है। शुल्क लेकर जिस विवाह में कन्या का दान होता है उसे 'आसुर विवाह' कहते हैं जो मन्द कोटि का माना गया है। जहाँ पर वर और कन्या परस्पर एक-दूसरे का वरण करते हैं उसे 'गान्धर्व विवाह' कहते हैं। युद्ध इत्यादि के द्वारा कन्याहरण को 'राक्षस-विवाह' कहा गया है। जिस विवाह में कन्या को छल के द्वारा प्राप्त किया जाता है, उसे 'पैशाच-विवाह' कहते हैं।[7]

नवग्रह की पूजा करनी चाहिए, क्योंकि नवग्रह के पूजा से लक्ष्मी, शान्ति, पुष्टि, वृद्धि तथा आयु बढ़ते हैं। सूर्य, सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु तथा केतु- इन नवग्रहों की क्रमशः स्थापना करना चाहिये। नवग्रह की प्रतिमा इन धातुओं से बनानी चाहिये— सूर्य - तांबे, चन्द्रमा - रजत, मंगल - लाल चन्दन, बुध - सुवर्ण, गुरु - सुवर्ण, शुक्र - रजत, शनि - लोहे, राहु व केतु की सीसे से बनाएँ, इससे शुभ की प्राप्ति होती है।[9] *अग्निपुराण* में नवग्रह के विषय में कहा गया है—

'श्रीकामः शान्तिकामो वा ग्रहयज्ञं समारभेत् ।
दृष्टवायुः पुष्टिकामो वा तथैवाभिचरन्पुनः ॥
सूर्यः सोमो मङ्गलश्च बुधश्चाथ बृहस्पतिः ।
शुक्रः शनैश्चरो राहुः केतुश्चेति ग्रहाः स्मृताः ॥'

—*वही*, 164.11-12

अग्निपुराण में महापातकों के विषय में बताया गया है कि जो मनुष्य महापातकी है, उसे अपने पापों का इच्छा या अनिच्छा से भी प्रायश्चित करना चाहिये। *अग्निपुराण* में कहा गया है कि क्रोधी, उन्मत्त, दुःख से आतुर मनुष्य का भोजन नहीं करना चाहिये। जिस अन्न का महापातकी ने स्पर्श कर लिया हो, उस अन्न का भी परित्याग कर देना चाहिये।

ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी, गुरुतल्पगमन— ये 'महापातक' कहे गए हैं। इन पापों के करनेवाले मनुष्यों का संसर्ग भी 'महापातक' माना गया है। वेद-निन्दा, झूठी गवाही, केवल अपने स्वार्थ के लिए सम्पूर्ण कर्मों का आरम्भ करना, व्यसन में आसक्ति, धातु और पशुओं की चोरी, मद्यपान करनेवाली नारी से समागम, स्त्री, शूद्र, वैश्य, अथवा क्षत्रिय का वध करना एवं नास्तिकता— ये सब 'उपपातक' हैं।[11]

पाप हो जाने के बाद उससे कैसे मुक्त हों, इसके विषय में *अग्निपुराण* में प्रावधान किया गया है। प्रायश्चित करने से सभी प्रकार के पाप नष्ट हो जाते हैं। ब्रह्महत्या करनेवालों को वन में कुटी बनाकर बारह वर्षों तक रहना चाहिये।

'ब्रह्महा द्वादशाब्दानि कुटीं कृत्वा वने वसेत्'

गोहत्या के उपपातक से युक्त व्यक्ति को एक मास तक यव के जल का पान करना चाहिए और उसे गोचर्म को धारण करके गोशाला में निवास करना चाहिये।

'उपपातक संयुक्तो गोघ्नो मासं यवान्पिबेत् ।
कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥'

यदि गाय या बैल की हत्या उस समय हो जाए, जब उसे जोता जा रहा हो या वह अपने निश्चित स्थान की ओर ले जाया जा रहा हो तो तीन चौथाई व्रत करना चाहिये।[12] एक वर्ष तक किसी पतित व्यक्ति के संसर्ग में रहनेवाला स्वयं पतित हो जाता है—

'संवत्सरेण पतति पतितेन सहाऽऽचरन्'

पतित व्यक्ति की शुद्धि के लिये उदकक्रिया करनी चाहिए। अनेक प्रकार की धर्मशास्त्रीय व्यवस्था *अग्निपुराण* में विवेचित है।

अतः इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि *अग्निपुराण* में धर्मशास्त्र की विवेचना विस्तृत रूप में की गयी है। इस पुराण में वर्णाश्रम धर्म, ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य, गृहस्थ के धर्म, वानप्रस्थी एवं संन्यासी के धर्म, श्राद्धकल्प का वर्णन, सोलह महादानों, संध्या विधि, मास व्रत, मास उपवासव्रत, दानव्रत, संस्कार, द्रव्य-शुद्धि, महापातक का वर्णन और प्रायश्चितों का नियम इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया है।

सन्दर्भ :

1. *अग्निपुराण*, गीताप्रेस, पृ० 317
2. *वही*, तारिणीश झा, पृ० 439
3. *वही*, गीताप्रेस, पृ० 318
4. *वही*, तारिणीश झा, पृ० 45
5. *वही*, गीताप्रेस, पृ० 335
6. *वही*, गीताप्रेस, पृ० 311
7. *वही*, तारिणीश झा, पृ० 441
8. *वही*, तारिणीश झा, पृ० 444
9. *वही*, तारिणीश झा, पृ० 468
10. *वही*, गीताप्रेस, पृ० 324
11. *वही*, गीताप्रेस, पृ० 348
12. *वही*, तारिणीश झा, पृ० 497

अग्निपुराण : राजनैतिक चिन्तन

प्रियंका पाण्डेय *

अग्निपुराण अपनी व्यापक दृष्टि तथा विशाल ज्ञान-भण्डार के कारण संस्कृत-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखता है। विषय की विविधता एवं लोकोपयोगिता की दृष्टि से इस पुराण का विशेष महत्त्व है। इसमें परा-अपरा विद्याओं का वर्णन, *महाभारत* के सभी पर्वों की संक्षिप्त कथा, मत्स्य, कूर्मादि अवतारों की कथाएँ, सृष्टि-वर्णन, दीक्षा-विधि, वास्तु-पूजा, विभिन्न देवताओं के मन्त्रादि अनेक उपयोगी विषयों का अत्यन्त सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। यह पुराण स्वयं अग्निदेव के श्रीमुख से वर्णित है, अग्निदेव ने इसकी महिमा का वर्णन करते हुए कहा है–

'किं तीर्थैर्गोप्रदानैर्वा किं यज्ञैः किमुपोषितैः ।
आग्नेयं ये हि शृण्वन्ति अहन्यहनि मानवाः ॥
कपिलानां शतैर्दत्तैः यद् भवेज्ज्येष्ठपुष्करे ।
तदाग्नेयं पुराणं हि पठित्वा फलमाप्नुयात् ॥'

इन्हीं विशेषताओं के कारण यह अत्यन्त प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण पुराण है। इस पुराण को अग्निदेव ने महर्षि वसिष्ठ को सुनाया था।

अग्निपुराण में 218 से 248 तक लगभग 30 अध्यायों में राजनीति

---

* शोध-छात्रा, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

विषयक महत्त्वपूर्ण चर्चा की गयी है जिसमें राज्याभिषेककथन, दुर्गसम्पत्ति, राजधर्म, सामादि उपायों का कथन, दण्डप्रणयन, राज्य के सप्ताङ्ग, राजा के कर्तव्यों , मन्त्री, पुरोहित, मित्र, अनुजीवियों, अष्टवर्ग के परिपालन आदि का कथन, षाड्गुण्य (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, संशय), सैन्य संगठन, युद्ध धर्म, सेना के विभाग से व्यूहादि की रचना इत्यादि विषयों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। जिनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों को प्रस्तुत पत्र में उपस्थापित किया जा रहा है।

अग्निपुराण में राजनीतिविषयक चिन्तन का आरम्भ करते हुए अग्निदेव कहते हैं–

'राजधर्मं प्रवक्ष्यामि सर्वस्माद्राजधर्मतः ।
राजा भवेच्छत्रुहन्ता प्रजापालः सुदण्डवान् ।
पालयिष्यामि वः सर्वान्धर्मस्य व्रतमाचरेत् ।
संवत्सरं स वृणुयात्पुरोहितमथद्विजम् ॥"[1]

इसमें सर्वप्रथम राजा के कर्तव्यों को बताते हुए कहा गया है कि राजा को शत्रुनाशक, प्रजापालक तथा अपराधियों को दण्ड देनेवाला होना चाहिये। उसे यह संकल्प लेना चहिये कि "मैं धर्म पर आरुढ़ प्रजाओं का पालन करूँगा।" राजा को ज्योतिषशास्त्रवेत्ता, विप्र, पुरोहित, नीतिनिपुण मन्त्रियों और धर्म को जाननेवाली (पतिव्रता) स्त्री को रानी के रूप में वरण करना चहिये। राज्य-प्राप्ति के एक वर्ष बाद राजा का अभिषेक बड़े समारोह के साथ करना चाहिये।[2] तथा एक राजा के मर जाने पर दूसरे को राजा बनाने का विधान है। इसके साथ ही *अग्निपुराण* में राजा के अभिषेक के समय प्रयुक्त किये जानेवाले अभिषेकमन्त्रों का वर्णन है जो पापों की शुद्धि में सहायक सिद्ध होते हैं– **'राजदेवाद्यभिषेकमन्त्रान् वक्ष्येऽघमर्दनान् ।'**[3]

राजा के कर्तव्यों को और अधिक स्पष्ट करते हुए अग्निपुराणकार कहते हैं कि राजा का प्रथम कर्तव्य है प्रजा की रक्षा करना। जिसके लिये राजा को अपने राज्य की विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि यदि राज्य सुरक्षित रहता है तो राजा को उससे कर के रूप में धन इत्यादि का लाभ होता है और धनवान् राजा एवं प्रजा– दोनों को धर्म एवं सुख की प्राप्ति होती है। राजा को कोई भी मन्त्रणा गुप्त रखनी चाहिये क्योंकि मन्त्रणा को गुप्त रखनेवाले राजा पर कोई विपत्ति नहीं आती है। राजा को तीनों वेदों के ज्ञाता से त्रयीविद्या, शाश्वतदण्डनीति, आन्वीक्षिकी तथा अर्थशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। राजा को वर्णधर्म तथा आश्रमधर्म की भी

व्यवस्था करनी चाहिये। राजा को राज्य के अहितकारी मृगया, मद्यपान और जुआ– इन सबका परित्याग कर देना चाहिये। उसे परनिन्दा, कठोर दण्ड और अर्थदूषण का भी परित्याग कर देना चाहिये। काम, क्रोध, मद, लोभ, मान तथा गर्व को जीतना चाहिए और साथ ही बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। *अग्निपुराण* में बाह्य शत्रुओं के तीन प्रकार बताये गये हैं[4]–

1. वे शत्रु जिनके साथ पुस्तैनी दुश्मनी है,
2. अपने राज्य की सीमा में रहने वाले सामन्त,
3. कृत्रिम शत्रु

राज्य के सप्तांग

अग्निपुराण में राज्य के सात अंगों का वर्णन किया गया है– 1. स्वामी, 2. अमात्य, 3. जनपद, 4. दुर्ग, 5. दण्ड, 6. कोष तथा 7. मित्र।[5] इनमें दुर्ग एवं विशेष रूप से दण्ड-व्यवस्था के विषय में *अग्निपुराण* में पर्याप्त चिन्तन किया गया है जो इस प्रकार है–

दुर्ग– इसके विषय में *अग्निपुराण* में अनेक साक्ष्य प्राप्त होते हैं। *अग्निपुराण* के अनुसार राजा को दुर्ग में निवास करना चाहिये। दुर्गदेश में वैश्य और शूद्रों की अधिकता होनी चाहिये और दुर्ग को चारों तरफ से सुरक्षित होना चाहिये। वहाँ ब्राह्मणों को कम किन्तु शिल्पकारों को अधिक संख्या में होना चाहिये। उसको जल समृद्ध होना चाहिये। दुर्ग को शत्रु से सुरक्षित तथा पुष्प, फल और अन्न से समृद्ध होना चाहिये।[6] उसे शत्रु से अगम्य तथा सर्प और चोरादि से रहित होना चाहिए। राजा को छह दुर्गों मे से कोई एक दुर्ग बनाकर उसके अंदर निवास करना चाहिए। इसके साथ ही वहाँ छह दुर्गों का स्पष्ट रूप से वर्णन प्राप्त होता है–

'षण्णामेकतमं दुर्गं तत्र कृत्वा वसेद् बलिः ।
धनदुर्गं महदुर्गं नरदुर्गं तथैव च ॥
वार्क्षं चौवाम्बुदुर्गं च गिरिदुर्गं च भार्गव ।
सर्वोत्तमं शैलदुर्गमभेद्यं चान्यभेदनम् ॥'[7]

अग्निपुराण के अनुसार उपर्युक्त सभी दुर्गों में गिरिदुर्ग श्रेष्ठ होता है, क्योंकि वह स्वयं अभेद्य तथा दूसरे का भेदन करनेवाला होता है।

दण्ड-व्यवस्था– आधुनिक युग कि भाँति प्राचीन काल में भी न्याय की समुचित व्यवस्था करना राजा का आवश्यक कर्तव्य था। राजा का प्रथम कर्तव्य है प्रजा की रक्षा करना। प्रजा के रक्षार्थ न्याय-व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। विद्वानों ने न्याय-व्यवस्था का आधार दण्ड को माना है। *अग्निपुराण* के अनुसार दण्ड वह विधान है जिसके पालन से राजा को उत्तम गति प्राप्त होती है।

'दण्डप्रणयनं वक्ष्ये येन राज्ञः परागतिः ।
त्रियवं कृष्णलं विद्धि माषस्तत्पञ्चकं भवेत् ॥'[8]

कौटिल्य-विरचित *अर्थशास्त्र* में भी दण्ड के विषय में कहा गया है कि राजा की दण्ड-व्यवस्था से रक्षित चारों वर्णाश्रम के लोग अपने-अपने धर्म कर्मों में प्रवृत्त सदा अपनी-अपनी मर्यादा पर बने रहते हैं।[9] *अग्निपुराण* में यत्र-तत्र दण्ड के विधान के अंतर्गत प्रथम साहस, मध्यम साहस, उत्तम साहस, माष, सुवर्ण आदि का वर्णन है। *अग्निपुराण* के अनुसार अर्थदण्ड का मान इस प्रकार है–

तीन यव	-	एक कृष्णल
पाँच कृष्णल	-	एक माष
साठ कृष्णल	-	आधा कर्ष
सोलह माष	-	एक सुवर्ण
चार सुवर्ण	-	एक निष्क
दस निष्क	-	एक धरण

यह सोने, चाँदी व ताम्बे का परिणाम है।[10] *अग्निपुराण* में अर्थदण्ड के तीन भेद माने गये हैं और उन्हें 'साहस' नाम दिया गया है–

प्रथम साहस	-	250 पण
मध्यम साहस	-	500 पण
उत्तम साहस	-	1,000 पण[11]

अग्निपुराण में वर्णित अपराधों के आधार पर इन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

1. आर्थिक अपराध
2. सामाजिक तथा व्यवहार से सम्बन्धित अपराध
3. राज्य से संबंधित अपराध

1. आर्थिक अपराध– चोरों के द्वारा चोरी न किये जाने पर भी जो व्यक्ति कहता है कि मेरे यहाँ चोरी हो गयी है, और राजा से उतना धन प्राप्त कर लेता है। उसका पता लगने पर वह राजा के द्वारा उतने ही दण्ड का भागी होता है जितने कि वह माँग करता है। झूठी गवाही देनेवाले को राजा द्विगुणित दण्ड देता है।[12] द्विगुणित दण्ड के विषय में *मनुस्मृति*[13] एवं कौटिल्य अर्थशास्त्र[14] में भी यही वर्णन है।

2. सामाजिक तथा व्यवहार से सम्बन्धित अपराध– धर्म से ही राजा एवं राज्य– दोनों का उत्थान सम्भव है। अतः राजा को सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए कि राज्य में किसी प्रकार का अधार्मिक कार्य न हो। इसके लिये सर्वप्रथम स्त्री-पुरुष के उचित संबंधों पर विचार करना आवश्यक है। *अग्निपुराण* के अनुसार जो वर के दोषों को बिना बताए ही किसी कन्या का वरण करता है, तो वह कन्या विवाह में प्रवृत्त होकर भी अदत्त सी रहती है। तथा इस प्रकार कन्या का वरण करनेवाले पर राजा को दो सौ का दण्ड लगाना चाहिए।[15] जो वचन द्वारा किसी को कन्या देकर भी उसे पुनः किसी दूसरे को दे देता है उस पर राजा को उत्तम दण्ड लगाना चाहिये। वाणी द्वारा कहकर उसे कार्यरूप में सत्य करने पर निःसन्देह पुण्य की प्राप्ति होती है, जो किसी वस्तु को एक जगह देने की प्रतिज्ञा करके लोभवश दूसरे के हाथ बेंच देता है, उस पर छः सौ का दण्ड लगाना चाहिये। इस प्रकार अनेक दण्डों का विधान है।[16]

3. राज्य से संबंधित अपराध– तृतीय प्रकार के अपराध राज्य से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार के अपराधों को भयंकर माना गया है तथा उनके लिए कठोर दण्ड का विधान किया गया है। राजकीय कार्य-व्यापार को समुचित ढंग से सञ्चालित करने के लिये राजा कर्मचारियों की नियुक्ति करता है। ये कर्मचारीगण प्रजा के सेवक तो होते ही हैं, साथ-ही-साथ इन्हें प्रजा के सुख-दुःख का सहभागी भी होना चाहिये।

जब कोई कर्मचारी लोभवश किसी निषिद्ध कार्य का सम्पादन करता है तब उसे राजा अपराधानुसार दण्डित करता है। यदि कोई कर्मचारी प्रजा से कर लेकर राजकोष में जमा नहीं करता है तो राजा को उसे देश से निकाल देना चाहिये। किसी कार्य को करने के लिये नियुक्त किये गये मनुष्य यदि उस कार्य को न करके लोगों से घृणा एवं दुष्टता करें तो राजा को चाहिये कि इन्हें धनहीन कर दे तथा वह मन्त्री या न्यायाधीश जो कार्य को बिगाड़ देता है उसका सर्वस्व छीनकर उसे निर्वासित कर

देना चाहिये।

युद्ध एवं सैन्य-संगठन

बाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक विद्रोहों से राज्य की सुरक्षा के लिये सेना की उचित व्यवस्था आवश्यक होती है। प्राचीन भारत में सेना के लिये बल एवं दण्ड– दोनों ही शब्द प्रयुक्त होते हैं। *अग्निपुराण* में सेना को 'बल' शब्द का नाम दिया है। *अर्थशास्त्र* में भी सैन्यबल को दण्ड की संज्ञा दी गयी है। *अग्निपुराण* में बल को भी राज्य की सप्तप्रकृतियों में स्थान दिया गया है।

षाड्गुण्य

युद्ध में षाड्गुण्य का बहुत ही अधिक महत्त्व होता है। शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये जिन छः गुणों का आश्रय लिया जाता है, वे ही षाड्गुण्य कहलाते हैं। इनका वर्णन *अग्निपुराण* में विस्तृत रूप से किया गया है–

'सन्धिश्च विग्रहश्चैव यानमासनमेव च।
द्वैधीभावः संशयश्चषड्गुणाः परिकीर्तिताः॥'[17]

सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, संश्रय– ये षाड्गुण्य कहलाते हैं। *अग्निपुराण* में सन्धि व विग्रह को इन गुणों में श्रेष्ठ माना गया है। षाड्गुण्यों का वर्णन इस प्रकार है–

1. सन्धि– 'पणबन्धः स्मृतः सन्धिः।' अर्थात् किसी शर्त के अनुसार बंधने को सन्धि कहते हैं। *अग्निपुराण* के अनुसार यदि अपने से बलवान् के साथ युद्ध छिड़ गया हो तो उससे सन्धि कर लेने मे ही कल्याण है–

'बलवद्विगृहीतेन सन्धिं कुर्याच्छिवाय च'[18]

अग्निपुराण में सन्धि के 16 भेद बतलाए गए हैं, जो इस प्रकार हैं– कपाल, उपहार, सन्तान, संगत, उपन्यास, प्रतीकार, संयोग, पुरुषान्तर, अष्टान्तर, आदिष्ट, आत्मा, उपग्रह, परिक्रम, छिन्न, परिदूषण और स्कन्धोपनेय। इनमें से चार सन्धियाँ मुख्य हैं– मित्रता, संबंध, परस्पर उपकार व उपहार।[19]

2. विग्रह– 'अपकारस्तु विग्रहः।'[20] *अग्निपुराण* में विग्रह के पाँच प्रकार बतलाए गए हैं–

'सापत्न्यं वास्तुजं स्त्रीजं वागजातं पराजयम्।

वैरं पञ्चविधं प्रोक्तं साधनैः प्रशमं नयेत् ॥'[21]

3. यान– 'जिगीषोः शत्रुविषये यानं यात्राभिधीयते ।'[22] *अग्निपुराण* के अनुसार यान पाँच परिस्थितियों में हुआ करता है– 1. युद्ध के लिये, 2. सन्धि के लिये, 3. प्रसङ्गवश, 4. उपेक्षा से एवं 5. निपुण लोगों के साथ युद्ध की अपेक्षा से ।[23]

4. आसन– 'विग्रहेण स्वेके देशे स्थितिरासनमुच्यते ।'[24] *अग्निपुराण* में आसन के पाँच प्रकार बताए गए हैं– **'यानवत्पञ्चधा स्मृतम् ।'**[25]

5. द्वैधीभाव– 'बलार्धेन प्रयाणं तु द्वैधीभावः सः उच्यते ।'[26]

6. संश्रय– 'उदासीनो मध्यमो वा संशयात्संक्रमं स्मृतः ।'[27]

सैन्य-संगठन

अग्निपुराण में सेना के छः अंग बतलाये गये हैं– मंत्र, कोष, पदाति, अश्व, रथ व गज। इसके साथ ही सेना के कार्यों एवं अंगों का विस्तृत विवेचन है। जैसे– अश्वसेना, रथ सेना, गज-सेना, मन्त्र बल, कोष, युद्धभूमि ।[28]

व्यूह-संरचना के विषय में भी *अग्निपुराण* में वर्णन मिलता है। युद्ध के समय सेना को योजनाबद्ध तरीके से संगठित करने को व्यूह कहते हैं। व्यूह को सात अंगोंवाला माना गया है– उर, कक्ष, पक्ष, मध्य, पृष्ठ, प्रतिग्रह, तथा कोटि ।[29] दण्डव्यूह, भोगव्यूह, मण्डलव्यूह, असंहतव्यूह इत्यादि का वर्णन भी *अग्निपुराण* में मिलता है। इसके साथ ही युद्ध में विजयश्री प्राप्त करने के लिये कूटयुद्ध का भी प्रावधान है।

इस प्रकार *अग्निपुराण* में 218वें अध्याय से लेकर 248वें अध्याय तक राजधर्म का वर्णन प्राप्त होता है। *अग्निपुराण* में कथित राजधर्म का वर्णन करने के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि इस पुराण में राजधर्म की दो प्रकार की नीतियों का वर्णन है–

1. पुष्कर नीति, एवं 2. रामोक्त नीति

पुष्कर नीति से संबंधित 20 अध्याय अग्निपुराण में मिलते हैं।[30] इन अध्यायों में उस राजधर्म का वर्णन है जिन्हें पुष्कर ने राम को बतलाया है। *अग्निपुराण* में स्पष्ट रूप से उद्धृत है–

'पुष्करेण च रामाय राजधर्मं हि पृच्छ्यते ।

यथाऽऽदौ कथितं तद्वद्वसिष्ठ कथयामि ते ॥'[31]

पुष्कर नीति से संबंधित जो विषय *अग्निपुराण* में वर्णित हैं, वे इस प्रकार हैं– राज्याभिषेककथन, दुर्गसम्पत्ति, राजा के कर्त्तव्य, न्याय एवं दण्डव्यवस्था, षाड्गुण्य इत्यादि।

द्वितीय प्रकार की नीति जो *अग्निपुराण* में वर्णित है, वह है रामोक्त नीति। इससे संबंधित पाँच अध्याय *अग्निपुराण* में प्राप्त होते हैं–

'नीतिस्ते पुष्करोक्ता तु रामोक्ता लक्ष्मणाय या ।
जयाय तां प्रवक्ष्यामि शृणु धर्मादिवर्धिनीम् ॥'[32]

इस नीति से संबंधित जो विषय *अग्निपुराण* में वर्णित हैं, वे इस प्रकार हैं– राजा के कर्त्तव्य, सप्ताङ्ग राज्य, षाड्गुण्य, सामादिकथन एवं युद्धनियम।

इस प्रकार सम्पूर्ण विवेचन के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि *अग्निपुराण* में वर्णित राजधर्म पूर्व के ग्रन्थों का सारमात्र है।

सन्दर्भ :

1. *अग्निपुराण*, 218.1
2. **मन्त्रिणश्चाखिलात्मज्ञान्महिषीं धर्मलक्षणाम् ।**
   संवत्सरं नृपः काले ससम्भारोऽभिषेचनम् ॥ –*वही*, 218.4
3. *वही*, 219.1
4. **'जयेद् बाह्यानरीन् पश्चाद् बाह्याश्च त्रिविधारयः ।**
   गुरवस्ते यथा पूर्वं कुल्यानन्तरकृत्रिमाः ॥' –*वही*, 225.9
5. **'स्वाम्यमात्यं जनपदा दुर्गं दण्डस्तथैव च ।**
   कोषो मित्रश्च धर्मज्ञ! सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥' –*वही*, 225.11
6. **'परैरपीडितः पुष्फलधान्यसमन्वितः ।**
   अगम्य परचक्राणां ब्यालतस्करवर्जितः ॥' –*वही*, 222.3
7. *वही*, 222.4
8. *वही*, 227.1
9. *स्मृतियुगीन शासन-व्यवस्था*, डॉ० प्यारेलाल चौहान
10. *वही*, 226.1-3
11. *वही*, 226.4-5
12. *वही*, 226.5-6
13. **'ताबुभौ चौरवच्छास्यौ दास्यौ वा तत्समं दमम्'** –*मनुस्मृति*, 8.19

14. *कौटिल्य अर्थशास्त्र*, 3.67.12
15. *वही*, 227.15
16. *वही*, 227.16-45
17. *वही*, 239.16-17
18. *वही*, 240.6
19. *वही*, 240.6-9
20. *वही*, 234.18
21. *वही*, 240.26-27
22. *वही*, 234.18
23. *वही*, 240.26-27
24. *वही*, 234.19
25. *वही*, 240.28
26. *वही*, 234.16
27. *वही*, 234.20
28. **'षडङ्गं मन्त्रकोषाभ्यां पदात्यश्वरथद्विपैः'** –*वही*, 242.2
29. *वही*, 242.42-43
30. *वही*, 242.45
31. *वही*, अध्याय 218-237
32. *वही*, 238.1

अग्निपुराण : राजशास्त्र

सर्वेश कुमार *

रतीय-वाङ्मय में पुराणों का अपना विशिष्ट स्थान है। वेदों में सूत्रशैली में वर्णित ज्ञान को जनमानस तक पहुँचाने का महान् कार्य पुराणों द्वारा सम्भव हो सका। इसी कारण पुराणों को वेदों का 'उपबृहंण' भी कहा गया है। इन पुराणों में परिगणित *अग्निपुराण* का विविध ज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित– इन मुख्य प्रतिपाद्य विषयों के साथ-साथ इसमें परा और अपरा विद्या का बहुत ही गम्भीर प्रतिपादन हुआ है। राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक, तान्त्रिक, भौगौलिक, धार्मिक आदि सभी विद्याओं से युक्त होने के कारण विद्वानों ने इसे अक्षय ज्ञान का भण्डार माना है। इस सन्दर्भ में स्वयं *अग्निपुराण* में कहा गया है–

'आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वविद्याः प्रदर्शिताः' [1]

अग्निपुराण के 383 अध्यायों में 218वें अध्याय से लेकर 242वें अध्याय पर्यन्त राजशास्त्र का वर्णन प्राप्त होता है। इसमें राजशास्त्र की दो प्रकार की नीतियों का वर्णन किया गया है–

1. पुष्कर-नीति (218 से 237 अध्यायपर्यन्त)[2]
2. रामोक्त नीति (238 से 283 अध्यायपर्यन्त)[3]

पुष्कर-नीति से संबंधित जो विषय *अग्निपुराण* में वर्णित हैं, वे इस प्रकार हैं– राज्याभिषेक-कथन, सहायसम्पत्ति, दुर्गसम्पत्ति, राजा के कर्तव्य, न्याय एवं दण्ड-व्यवस्था, युद्धनीति, षाड्गुण्य आदि।

---

* शोध-छात्र, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

रामोक्त नीति से संबंधित जो विषय *अग्निपुराण* में वर्णित हैं, वे इस प्रकार हैं– राजा के गुण, सप्ताङ्ग राज्य, सामादि कथन एवं युद्ध-नियम आदि।

यद्यपि *महाभारत* एवं *अर्थशास्त्र* की भाँति *अग्निपुराण* भी राज्य की उत्पत्ति के बारे में मौन है तथापि *अग्निपुराण* में राज्य के अस्तित्व के विषय में विशद वर्णन प्राप्त होता है।

व्यापक अर्थों में शास्त्रों में राज्य को सप्ताङ्ग राज्य को माना जाता है–

'राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते' [4]

अग्निपुराण में वर्णित राज्य के ये सातों अंग इस प्रकार हैं– राजा, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोप, बल तथा मित्र।[5] *अग्निपुराण* के समान ही *मत्स्यपुराण*[6] और *अर्थशास्त्र*[7] में भी राज्य के सात अंगों को स्वीकार किया गया है। राज्य के इस सप्तांगों में सर्वप्रधान राजा है।

अग्निपुराण में राजा के राज्याभिषेक के नियमों, यथा– अभिषेक से पूर्व पुरोहित द्वारा इन्द्रशान्ति का आयोजन, अभिषेक के दिन राजा का उपवास, हवनादि, अभिषेक के समय प्रज्ज्वलित अग्नि के स्वरूप का, राजा के विभिन्न अंगों की शुद्धि के लिए विभिन्न स्थानों की मिट्टियों का, विविध वर्णों के द्वारा अभिषेक, अभिषेक के अनन्तर नगर-भ्रमण तथा दानादि का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। *अर्थशास्त्र* के समान *अग्निपुराण* के 235वें अध्याय में राजा की दिनचर्या का वर्णन किया गया है और बताया गया है कि सभी कार्यों से निवृत्त होकर जो समय शेष बचे, उसमें राजा को नवीन ज्ञान का ग्रहण, गृहीत ज्ञान का मनन और चिन्तन करना चाहिए–

'शेषमहोरात्रम् आगमपूर्वग्रहणं गृहीतपरिचयं च कुर्यात्' [8]

राजा अपने कुछ विशेष गुणों के कारण ही साधारण मनुष्य के स्तर से ऊपर उठकर प्रजापालक नृप के रूप में पूजा जाता है। *अग्निपुराण* के 239वें अध्याय में राजा के इन गुणों की लम्बी सूची प्राप्त होती है, जैसे– कुलीनता, सत्त्व, शील, उत्साह, बलवान्, गुणानुरागी आदि।[9]

यद्यपि अग्निपुराणकालीन भारत में राजतन्त्रात्मक शासन-प्रवृत्ति ही प्रतिष्ठित एवं प्रचलित थी, तथापि राजा के जो कर्तव्य उक्त पुराण में उल्लिखित हैं, वे आज के शासक-वर्ग के संबंध में भी समीचीन प्रतीत होते हैं। देश की आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा को प्राथमिक आवश्यकता मानते हुए प्रजा के ऊपर अनुग्रह एवं

आचारानुकूल आचरण को राजा का प्रमुख कर्तव्य माना गया है–

'प्रजाः समनुगृह्णीयात्कुर्यादाचारसंस्थितिम्' [10]

रामोक्त नीति अध्याय में राजा के चार प्रकार के कर्तव्य बताए गए हैं–

'न्यायेनार्जनमर्थस्य वर्धनं रक्षणं चरेत् ।
सत्पात्रप्रतिपत्तिश्च राजवृत्तं चतुर्विधम् ।।' [11]

अर्थात्, न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना, उसे बढ़ाना, उसकी रक्षा करना और उसे सत्पात्र को देना।

वर्तमान मन्त्रिमण्डलीय व्यवस्था के समान ही राजा प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए कुछ योग्य व्यक्तियों को विविध विभागों का अध्यक्ष नियुक्त करता था। इन विभागाध्यक्षों की एक लम्बी सूची अग्निपुराण में उपलब्ध होती है जो इस प्रकार है– अमात्य, पुरोहित, सेनापति, प्रतिहारी, दूत, ताम्बूलधारी, सांधि, विग्रहिक, रक्षक, सारथि, सूपाध्यक्ष, लेखक, थानाध्यक्ष, वैद्य, गजाध्यक्ष, हयाध्यक्ष, दुर्गाध्यक्ष, स्थपति, अस्त्राचार्य, अन्तः पुराध्यक्ष आदि। अग्निपुराण में राजा के लिए यह निर्देश किया गया है कि मंत्रियों और विभागाध्यक्षों की वाक्चतुरता और सत्यवादिता की परीक्षा व्यवहार में और उनके उत्साह, प्रभाव, क्लेश, सहिष्णुता, धैर्य, अनुराग और स्थैर्य की परीक्षा आपत्तिकाल में कर लेनी चाहिए।[12]

सप्ताङ्ग में चौथे स्थान पर परिगणित दुर्ग का साङ्गोपाङ्ग विवेचन *अग्निपुराण* में उपलब्ध होता है। दुर्ग किले को कहते हैं, जहाँ निवास करने पर राजा और उसकी प्रजा आदि की शत्रुओं से रक्षा होती है। *अग्निपुराण* में 6 प्रकार के दुर्ग बताये गये हैं– धन्वदुर्ग, महादुर्ग, नर दुर्ग, वृक्ष दुर्ग, जल दुर्ग और गिरी दुर्ग। इनमें गिरी दुर्ग को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है क्योंकि वह स्वयं अभेद्य होता हुआ दूसरे का भेदन करने वाला हुआ करता है–

'षण्णामेकतमं दुर्गं तत्र कृत्वा वसेद्बलिः' [13]

राजा को चाहिए कि वह दुर्ग में निवास करे–

'दुर्गदेशे वसेन्नृपः' [14]

गरुड़पुराण में भी बताया गया है कि दुर्ग सुरक्षा का साधन है, जिसको विविध शस्त्रास्त्रों और अन्य साधनों से सम्पन्न रखना आवश्यक है। दुर्ग में यह सब

जुटाने के बाद ही शत्रु पर आक्रमण करना चाहिए।[15]

राज्य व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए राजा राज्य को एक गाँव (मुखिया, ग्रामाधिपति), दस गाँव (मुखिया, दशग्रामाधिपति), सौ गाँव (मुखिया, शताग्रामाधिपति) व सम्पूर्ण राज्य (मुखिया, विषयेश्वर) में विभक्त करता था–

'ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद् दशग्रामाधिपं नृपः।
शतग्रामाधिपं चान्यं तथैव विषयेश्वरम् ॥'[16]

राज्य की आय का प्रमुख स्रोत कर हुआ करता था। *अग्निपुराण* में कर-व्यवस्था का विस्तार से विवेचन मिलता है। राजा को अपने राष्ट्र की विक्रय वस्तुओं का 20वाँ भाग ही कर रूप में लेना चाहिए। स्त्रियों, संन्यासियों व ब्राह्मण वर्ग से राजा को कर नहीं लेना चाहिए।[17]

प्रजा की रक्षा करना और राष्ट्र की उन्नति करना राजा का प्रमुख कर्तव्य माना जाता है और यह न्याय-व्यवस्था के बिना सम्भव नहीं है। विद्वानों ने दण्ड को न्याय-व्यवस्था का आधार माना है। यदि दण्ड-शक्ति को राजा से अलग कर दें तो राजा एक साधारण प्रजा ही है।

सप्ताङ्ग में छठे स्थान पर बल या सेना का नाम आता है। जो राज्य की आन्तरिक विद्रोह और बाह्य सुरक्षा के लिए आवश्यक होती है। *अग्निपुराण* में सेना के 6 अंग बताये गये हैं– मंत्र, कोष, पदाति, अश्व, गज–

'षडङ्गं मन्त्रकोषाभ्यां पदात्यश्वरथद्विपैः' [18]

यहाँ मन्त्र का तात्पर्य कूटयुद्ध से और कोष का खजाने से है। सेना के इन छहों अंगों और उनके लिए उपयुक्त भूमि का अत्यन्त विस्तार से वर्णन मिलता है।

इसके अतिरिक्त *अग्निपुराण* में षाड्गुण्य का भी वर्णन किया गया है। शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए जिन 6 गुणों का आश्रय लिया जाता है, वे ही षाड्गुण्य कहलाते हैं। ये हैं– 1. संधि, 2. विग्रह, 3. यान, 4. आसन, 5. द्वैधीभाव, 6. संशय। इन गुणों में सन्धि और विग्रह को श्रेष्ठ माना गया है–

'षाड्गुण्यं संप्रवक्ष्यामि तद्वरौ संधिविग्रहौ ।
सन्धिश्च विग्रहश्चैव यानमासनमेवं च ।
द्वैधीभावः संशयश्चषड्गुणाः परिकीर्तिताः ॥'[19]

षाड्गुण्य के साथ-साथ *अग्निपुराण* में व्यूह-संरचना का भी विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। युद्ध के समय सेना को योजनाबद्ध तरीके से संगठित करने को व्यूह कहते हैं। *अग्निपुराण* में व्यूह के सात अंग बताए गए हैं। वे हैं– उर, कक्ष, पक्ष, मध्य, पृष्ठ, प्रतिग्रह तथा कोटि।[20]

सेना के आगेवाले भाग को पक्ष एवं कोटि, पीछेवाले भाग को कक्ष, प्रतिग्रह एवं पृष्ठ कहा जाता है। सेना के बीच के भाग उर एवं मध्य कहलाते हैं।

अग्निपुराण के अनुसार युद्ध का प्राण है– सेनानायक। जिस सेना का कोई नायक नहीं होता उसका वध कर दिया जाता है–

'युद्धं हि नायकप्राणं हन्यते तदनायकम्' [21]

नायक ही सेना का संचालन व संगठन करता है। वही व्यूहादि का निर्माण करता है।

उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सृष्टि के रोचक रहस्यों, पौराणिक कल्पनाओं और प्राचीन चरितों तथा वंशावलियों के गुणगान से इतर भी पुराण अपने धार्मिक कलेवर में काफ़ी कुछ समेटे हुए हैं, जिस पर नये सिरे से विचार किए जाने की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए *अग्निपुराण* में राजशास्त्र पर जो गम्भीर चिन्तन-मनन किया गया है, वह वेदों की अपेक्षा अधिक सरल, सामान्य शैली में होने के कारण सर्वजन ग्राह्य है। यह राज्य की उत्पत्ति के विषय में मौन रहकर भी राज्य के जिन सप्ताङ्गों को मान्यता देता है, वह वस्तुतः आज भी राजव्यवस्था की धुरी माने जा सकते हैं। राजा के पद को वंशानुगत मानते हुए भी उसकी निरंकुशता पर अंकुश लगानेवाले तरह-तरह के विधान इसमें वर्णित हैं। प्रजा की रक्षा और राष्ट्र के कल्याण को उसका परम कर्तव्य बताया गया है। इसमें षाड्गुण्य आदि का जिस रूप में विवेचन-विश्लेषण किया गया है, वह किसी-न-किसी रूप में वर्तमान लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था में भी दिखायी देता है। अतः इसकी उपादेयता एवं सम्भावनाशीलता पर नये सिरे से पुनर्विचार की आवश्कता है।

सन्दर्भ :

1. *अग्निपुराण*, 33.52
2. **'पुष्करेण च रामाय राजधर्मं हि पृच्छते।**
   यथाऽऽदौ कथितं तद्वद्वसिष्ठ कथमामिते॥' –*वही*, 218.1

3. 'नीतिस्ते पुस्करोक्ता ननु रामोक्ता लक्ष्मणाय या ।
जयाय तां प्रवक्ष्यामि शृणु धार्मादिवर्धिनीम् ॥ ' —*वही*, 238.1

4. 'सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते' —*याज्ञवल्क्यस्मृति*, 1.353; *मनुस्मृति*, 9.294

5. 'स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं दुर्गः कोषो बलं सुहृत् ।
परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥' —*अग्निपुराण*, 239.1

6. 'स्वाम्यमात्यौ जनपदो दुर्गं दण्डस्तथैव च ।
कोशो मित्रं च धर्मज्ञ सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥' —*मत्स्यपुराण*, 220.19

7. 'स्वाम्यमात्यजनपद दुर्ग कोश दण्ड मित्राणि प्रकृतयः' —*अर्थशास्त्र*, 6.1

8. *वही*, 1.5.15

9. *अग्निपुराण*, 239.1-10

10. *वही*, 238.12

11. वही, 238.2

12. *वही*, 239.20-23

13. *वही*, 222.4-5

14. *वही*, 222.1

15. 'सुसन्धानानि चास्त्राणि शस्त्राणि विविधानि च ।
दुर्गे प्रवेशितव्यानि ततः शत्रुं निपातयेत् ॥' —*गरुड़पुराण*, 1.112.21

16. *अग्निपुराण*, 223.1

17. *वही*, 223.22-25, 30-34

18. *वही*, 242.2

19. *वही*, 234.16-17

20. *वही*, 242.91-92

21. *वही*, 242.45

अग्निपुराण : सृष्टि-विद्या

प्रो० हरेराम त्रिपाठी*

'बड़े भाग्य मानुष तन पावा । सुर दुर्लभ सद्ग्रन्थन गावा ।।'– गोस्वामी तुलसीदास के इस वाक्य द्वारा यह ज्ञान होता है कि सभी योनियों में मनुष्य योनि श्रेष्ठ है, जिसे देवता भी प्राप्त करना चाहते हैं। मनुष्य-योनि को प्राप्त करने के बाद सामान्यतः असम्भव वस्तु मोक्ष भी सम्भव हो जाता है। मनुष्य मननशील प्राणी है। मनन करने के अनन्तर नूतन पदार्थों के अन्वेषण में अग्रसर हो जाता है। इसी क्रम में वह सोचता है कि मैं कौन हूँ? कैसे उत्पन्न हुआ हूँ? यह जगत् सत्य है या नहीं, जगत् की उत्पत्ति कैसे होती है? मेरे दुःख का अन्त कैसे हो सकता है? इत्यादि। इन प्रश्नों को उपस्थापित कर शास्त्रों के द्वारा समाधान प्राप्त करने के लिए वह अग्रसर होता है। इसी क्रम में 'यह विश्व कहाँ से उत्पन्न हुआ, अनन्त शून्य में इसकी स्थिति स्वाभाविक तथा नित्य है अथवा किसी कारणवश कुछ समय तक विद्यमान रहकर पुनः अनन्त शून्य में वह विलीन हो जायेगा'- इसी प्रकार सृष्टि-विद्या से संबंधित अनेक प्रश्न हमारे सामने दृष्टिगोचर होते हैं। प्रकृति के स्वाभाविक परिणाम धर्म के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि को तीन रूपों में विभक्त कर सकते हैं- 1. आध्यात्मिक सृष्टि, 2. आधिदैविक सृष्टि और 3. आधिभौतिक सृष्टि। आधिभौतिक सृष्टि पिण्ड-सृष्टि को कहते हैं। आध्यात्मिक सृष्टि का न आदि है न अन्त है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में कहा गया है- **'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते'** [1] *दैवीमीमांसादर्शन* में कहा गया है– **'अनाद्यनन्ताऽऽध्यात्मिकी सृष्टिः'** तथा **'प्रकृतेश्च तथात्वम्'**[2] अर्थात् आध्यात्मिक सृष्टि अनादि और अनन्त है। प्रकृति भी अनादि और अनन्त है। श्रुति में भी वर्णित

---

* अध्यक्ष, सर्वदर्शन विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नयी दिल्ली

है।

इस ब्रह्माण्ड के चारों दिशाओं में अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड आलोकित होते हैं। उन सभी ब्रह्माण्डों में सृष्टि स्थिति संहारकारी, सत्त्वरजस्तमः प्रधान, एवं ईश्वरांशस्वरूप चतुर्मुख से सहस्रमुखपर्यंत[3] अनन्तकोटि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र अधिष्ठान करते हैं। जिस प्रकार समुद्र में अनन्त मत्स्य और बुद्बुद् उत्पन्न होते हैं तथा स्थित होकर भ्रमण करते हैं उसी प्रकार आकाश में अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं।[4] *योगवासिष्ठ* में भी कहा गया है कि आकाश में केश कण के समान अनन्त शून्य में अन्तहीन कोटि-कोटि सावरण ब्रह्माण्ड विराजमान हैं। *विष्णुपुराण* में कहा गया है–

'अनादिर्भगवान्कालो नान्तोस्य द्विज विद्यते ।
अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः ॥'[5]

कालभगवान् अनादि और अनन्त हैं। महाप्रकृति में सृष्टि-स्थिति-प्रलय का क्रम भी अनन्त है। *माण्डूक्यकारिका* में गौड़पादाचार्य ने कहा है– परमात्मा ने अपनी विभूति को प्रकट करने के लिए सृष्टि रची है ऐसा किसी का मत है। दूसरे ने कहा है कि जिस प्रकार अकस्मात् बिना चिन्तन किए स्वप्न उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार जगत् अकस्मात् उत्पन्न हो जाता है। तीसरा कोई कहता है कि जगत् माया का विकास मात्र है। चौथे का कथन है कि परमात्मा की इच्छा ही सृष्टि का कारण है। काल का चिन्तन करनेवालों के मत में काल से ही भूतों की उत्पत्ति होती है। किसी के मत में भाग के लिए सृष्टि होती है। कोई परमात्मा के क्रीड़ार्थ ही सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। वस्तुतः सृष्टि केवल स्वभाव से उत्पन्न होती है। श्रुति कहती है कि जिस प्रकार मकड़ी (उर्णनाभ)[6] प्रयोजन के बिना ही तन्तुओं का विस्तार एवं संकोच करती रहती है, जिस प्रकार पृथिवी पर कारण के बिना ही ओषधि समूह उत्पन्न होते रहते हैं और जिस प्रकार जीवित पुरुष ब्रह्म से समस्त विश्व स्वयं ही उत्पन्न होते रहते हैं, *विष्णुपुराण* में कहा गया है है सृष्टि-क्रिया में परमात्मा निमित्त मात्र है, पदार्थों की स्व-स्व प्रकृति ही महाप्रकृति द्वारा प्रेरित होकर सर्ग कार्य को संपादन करती हैं। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के पूर्व का वर्णन *ऋग्वेद* ने किया है–

'नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्'[7]

अर्थात्, सृष्टि के पहले असत् नहीं था, सत् नहीं था, रजोमूलक क्रिया कार्य नहीं था, आकाश नहीं था और उससे परे भी कुछ प्राकृतिक पदार्थ नहीं था। *छांदोग्योपनिषद्*

में कहा गया है– **'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेवमेवाऽद्वितीयम्'** अर्थात् सृष्टि के पूर्व अद्वितीय ब्रह्म एकाकी ही था। *ऐतरेयोपनिषद्* में कहा गया है– **'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किचिंनमिषत्'** अर्थात् सृष्टि से पूर्व क्रिया से युक्त कोई वस्तु नहीं थी, अपितु अद्वितीय आत्मा ही थी। *मनुस्मृति* का कथन है–

'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥'

संहार की दशा में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तमोगुण से आछन्न अन्धकार के रूप में रहता है। प्रलयावस्था अप्रत्यक्ष अननुमेय शब्द के द्वारा अप्रकाशनीय, अविज्ञेय तथा क्रियाभाव के कारण गाढ़ सुषुप्ति समाछन्न की तरह होता है। *विष्णुपुराण* में कहा गया है–

'नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत्तमो ज्योतिरभून्न चान्यत् ।
श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत् ॥'

संहार की दशा में दिन, रात, आकाश, भूमि, अन्धकार, प्रकाश या और कुछ भी नहीं था। इन्द्रिय तथा मन-बुद्धि से अगोचर एकमात्र ब्रह्म ही उस समय विराजमान था। तदनन्तर सृष्टि हुई। सृष्टि की प्रक्रिया का निरूपण श्रुति में निम्नलिखित द्वारा किया गया है–

'सोऽकामयत बहु स्याम् प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत् ।
यस्य ज्ञानमयं तपः तपसां चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ॥'[8]

जब ईश्वरेच्छा होती है कि मैं एक हूँ अनेक हो जाऊँ एवं प्रजाओं की सृष्टि करूँ। इस प्रकार करके परमेश्वर ने तप किया। ईश्वर का तप ज्ञानस्वरूप ही है। ज्ञानमय तप के अनन्तर ब्रह्म में ईश्वरभाव का अभिनिवेश हुआ, जिसके कारण प्रलयविहीन ब्रह्माण्ड प्रकृति में अव्याकृत से व्याकृतावस्था की सूचना हुई। सृष्टितत्त्व की समीक्षा करने पर प्रधानतः दो मत उपलब्ध होते हैं। एक परमात्मा से ही आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी की उत्पत्ति यथाक्रम होती है। एकादशेन्द्रियाँ और पञ्चमहाभूतादि की उत्पत्ति होती है। प्रथम मत की सृष्टि का उल्लेख *तैत्तिरीयोपनिषद्* में उपलब्ध होता है–

'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः ।
आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी ॥'[9]

दूसरी प्रकार की सृष्टि *सांख्यदर्शन* में दिखाई गई है। इसी प्रकार की सृष्टि *अग्निपुराण* में भी वर्णित है। *अग्निपुराण* के 17वें अध्याय में सृष्टि-विद्या का वर्णन हमें उपलब्ध होता है। *अग्निपुराण* की सृष्टि वेदमूलिका है, क्योंकि श्रुति कहती है— **'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'** अर्थात् परमात्मा ने प्रकृति की ओर ईक्षण किया और एक से अनेक होने की इच्छा की। इसका अनुवाद करते हुए व्यास जी *अग्निपुराण* में कहते हैं—

'जगत्सर्गादिकां क्रीडां विष्णोः वक्ष्येऽधुना श्रृणु।
स्वर्गादिकृत्स सर्गादिः सृष्ट्यादिः सगुणोऽगुणः ॥' [10]

अर्थात्, अग्निदेव ने वसिष्ठ जी से कहा। इस समय विष्णु भगवान् की जगत् सृष्टिरूपी क्रीड़ा को कह रहा हूँ, कृपया एकाग्रचित् होकर सुनिये। यद्वा मैं एक हूँ अनेक हो जाऊँ— इस प्रकार विष्णु की इच्छारूपी क्रीड़ा से जगत् की उत्पत्ति होती है। इसी क्रीड़ा से स्वर्गादि लोकों की उत्पत्ति होती है। सृष्टि का कारण सगुणा प्रकृति तथा निर्गुण पुरुष ईश्वर का संयोग है जिसके कारण आकाशादि एवं दिन एवं रात्रि का आविर्भाव हुआ। *सांख्यदर्शन* को कुछ लोग निरीश्वरवादीदर्शन स्वीकार करते हैं। उनके मत में प्रकृति, महत्, अहंकार, एकादशेन्द्रिय, पञ्चतन्मात्र, पञ्चमहाभूत तथा पुरुष— ये 25 तत्त्व[11] स्वीकार किए जाते हैं। प्रकृति-पुरुष के संयोग से जगत् की सृष्टि महत्तत्त्व के द्वारा होती है, परन्तु ईश्वर की सत्ता नहीं है तथा सृष्टि में ईश्वर का कोई योगदान नहीं है। दूसरा मत सांख्य को ईश्वर-दर्शन स्वीकार करता है। इस मत में जगत् का कर्त्ता ईश्वर न होकर प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से प्रकृति के द्वारा जगत् की उत्पत्ति महदादि क्रम से होती है। इसी मत को *अग्निपुराण* स्वीकार करता है। परन्तु *अग्निपुराण* जगत् सृष्टि में जैसे प्रकृति का योगदान है, वैसे ईश्वर को भी स्वीकार करता है, क्योंकि *अग्निपुराण* के अनुसार प्रकृति के साथ विष्णुभगवान् रूपी पुरुष का संयोग होता है जिसके द्वारा प्रकृति में विक्षोभ होता है जिससे सर्वप्रथम महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व से अहंकार की सृष्टि होती है। सात्त्विक अहंकार से एकादशेन्द्रियों की तथा तामसिक से पञ्चतन्मात्राओं की सृष्टि होती है। विज्ञानभिक्षु से मन राजसिक अहंकार से पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय तथा तामसिक अहंकार से पञ्चतन्मात्राओं की सृष्टि होती है। इसी मत की पुष्टि *अग्निपुराण* में की गई है।

'सर्गकाले महत्तत्त्वमहंकारस्ततोऽभवत्।

वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः ॥'[12]

तामसिक अहंकार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध– इन पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है, जिसे सूक्ष्मभूत भी कहा जाता है। शब्दतन्मात्रा से आकाश, शब्दस्पर्शतन्मात्रा से वायु, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रा से तेज, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्राओं से जल तथा शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राओं से पृथिवी की उत्पत्ति होती है।

'तैजसानि इन्द्रियाणि च' यहाँ पर तैजस रजोगुण को कहते हैं अर्थात् कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों को तैजस कहा गया है। अर्थात् राजसिक अहंकार से उत्पत्ति दशेन्द्रियों की बताई गई है। यहाँ पर अव्यक्त मूल प्रकृति है। व्यक्त महत्तत्त्व, अहंकार, एकादशेन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा और पञ्चमहाभूत– ये 23 तत्त्व हैं। इन 23 तत्त्वों से भगवान् स्वयम्भू ने अनेक प्रकार के प्राणियों की सृष्टि की। प्रारम्भ में उन्होंने जल की उत्पत्ति की। उसमें तेजस्वी वीर्यसदृश पदार्थ को उत्पन्न किया। उसको **'आपो नारा'** शब्द से कहा गया। उस जल के पूर्व नर का अयन हुआ जिसके कारण उसको 'नारायण' कहा गया। उस नारायण से हिरण्यवर्ण अण्ड उत्पन्न हुआ। सृष्टिरूपी यज्ञ से स्वयं ब्रह्मा स्वयम्भू है ऐसा सुना गया। भगवान् हिरण्यगर्भ ने कुछ काल निवास करके उस अण्ड का दो विभाग कर दिया। एक विभाग से स्वर्गलोक उत्पन्न हुआ दूसरे विभाग से पृथिवीलोक की उत्पत्ति हुई। इन दोनों के मध्य में आकाश को ईश्वर ने उत्पन्न किया। जल में लीन पृथिवी को एवं दस दिशाओं को, काल, मन, वाणी, काम, क्रोध और रति की सृष्टि के लिए प्रजापति को हिरण्यगर्भ ने उत्पन्न किया। विद्युत् को, अशनि आदि मेघों को, रोहित एवं इन्द्रधनुषों को, पर्जन्यादि की सृष्टि प्रजापति ने की। यज्ञ की सिद्धि के लिए ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद की रचना की। देवतादि उच्च योनि एवं तिर्यग् आदि निम्न योनियों की रचना प्रजापति ब्रह्मा ने की। सनत्कुमार और क्रोध से युक्त रुद्र की सृष्टि भी हुई। मरीचि, अत्रि, अंगिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ– इन सात ब्राह्म मानस पुत्रों को ब्रह्मा ने उत्पन्न किया। ब्रह्मा ने अपने शरीर के दो विभाग कर दिये। आधे से पुरुष एवं आधे से नारी की उत्पत्ति की, इसके द्वारा प्रजाओं की सृष्टि ब्रह्मा ने प्रारम्भ की, जो अद्यावधि सतत जारी है। *अग्निपुराण* के बीसवें अध्याय में सर्ग के नव भेद बताए गए हैं।

'प्रथमो महतः सर्गो विज्ञेयो ब्रह्मणस्तु सः ।

तन्मात्राणां द्वितीयस्तु भूतसर्गो हि स स्मृतः ॥
वैकारिकस्तृतीयस्तु सर्ग ऐन्द्रियकः स्मृतः ।
इत्येषः प्राकृतः सर्गः सम्भूतो बुद्धिपूर्वकः ॥
मुख्यः सर्गश्चतुर्थस्तु मुख्या वै स्थावराः स्मृताः ।
तिर्यक्स्रोतस्तु यः प्रोक्तस्तैर्यग्योन्यस्ततः स्मृतः ॥
तथोर्ध्वस्रोतसां षष्ठो देवसर्गस्तु स स्मृतः ।
ततोऽर्वाक्स्रोतसां सर्गः सप्तमः स तु मानुषः ॥
अष्टमोऽनुग्रहः सर्गः सात्विकः तामसश्च यः ।
पञ्चैते वैकृताः सर्गाः प्राकृताश्च त्रयः स्मृताः ॥
प्राकृतो वैकृतश्चैव कौमारो नवमस्तथा ।
ब्रह्मणो नव सर्गास्तु जगतो मूलहेतवः ॥'[13]

प्रकृति एवं ब्रह्म के संयोग से महान् की उत्पत्ति होती है। यह प्रथम सर्ग है। तामसिक अहंकार से पञ्चतन्मात्राओं की सृष्टि द्वितीय भूत सर्ग है। सात्त्विक अहंकार से एकादशेन्द्रियों की सृष्टि वैकारिक ऐन्द्रियक तृतीय सर्ग होता है। बुद्धिपूर्वक होनेवाले पूर्वोक्त सर्ग प्राकृत सर्ग कहे जाते हैं। चौथा मुख्य सर्ग स्थावरों की उत्पत्ति को कहा जाता है।

पशु, पक्षी इत्यादि तिर्यग् योनियों की सृष्टि तिर्यक्स्रोतपद वाच्य होती है यह पञ्चम सर्ग है। उर्ध्व लोक में रहनेवाले देवताओं की सृष्टि देवसर्ग है, यह षष्ठ सर्ग है। मध्य-भूलोक में रहने वाले मनुष्यों की सृष्टि को सप्तम सर्ग कहते हैं। आठवाँ अनुग्रह सर्ग है उसके सात्त्विक एवं तामसिक– दो भेद होते हैं। इसमें प्रारम्भिक पाँच सात्विक सर्ग हैं तथा तीन प्राकृत सर्ग होते हैं। प्राकृत, वैकृत और कौमार को नवम सर्ग कहते हैं। ब्रह्म से उत्पन्न ये नव सर्ग जगत् के मूल कारण होते हैं। सर्ग के तीन भेद भी *अग्निपुराण* में उपलब्ध होते हैं। प्रथम सर्ग प्राकृत सर्ग-दक्षकन्या एवं भृगु आदि की उत्पत्ति, द्वितीय नित्य सर्ग, तृतीय नैमित्तिक सर्ग। प्रलय के बाद दैनन्दिनी होनेवाले सर्ग को प्राकृत सर्ग कहते हैं। निरन्तर होनेवाली सृष्टि को नित्य सर्ग कहते हैं। किसी निमित्त के द्वारा होनेवाली सृष्टि को नैमित्तिक सर्ग कहते हैं। जैसा कि *अग्निपुराण* में कहा गया है[14]–

'ख्यात्याद्या दक्षकन्यास्तु भृग्वाद्या उपयेमिरे ।
नित्यो नैमित्तिको सर्गस्त्रिधा प्रकथितो जनैः ॥

प्राकृतो दैनन्दिनी स्यादान्तरप्रलयादनु ।
जायते यत्रानुदिनं नित्यसर्गो हि स स्मृतः ।।'

सन्दर्भ :

1. *श्रीमद्भगवद्गीता*, 8.3
2. *दैवीमीमांसादर्शन*
3. **'अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्तकोटिब्रह्माण्डानि सावरणानि ज्वलन्ति..... महाजलौधमत्स्यबुद्बुदानन्तसंघवद्भ्रमन्ति ।'**
4. **'ससर्वावरणा एते महत्यन्तविवर्जिते ।
ब्रह्माण्डा भान्ति दुर्दृष्टेर्व्योम्नि केशोण्डको यथा ।।'** —*योगवासिष्ठ*
5. *विष्णुपुराण*, 1.2.26
6. **'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।'
'यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ।।'**
7. *ऋग्वेद*, 10.129.1
8. **सोऽकामयत बहुस्याम् प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत ।।
यस्य ज्ञानमयं तपः तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।।**
9. *तैत्तिरीयोपनिषद्*, 2.1
10. *अग्निपुराण*, 17.1
11. **'प्रकृतेस्महान् ततोऽहंकारस्तस्मात् षोडशो गणाः तेभ्यः पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतानि इति ।'**
12. *अग्निपुराण*, 17.31
13. *वही*, 20.1-6
14. *वही*, 20.7-8

अग्निपुराण : सृष्टिस्वरूप

आरती यादव *

अग्निपुराण पुराण-क्रम में आठवाँ पुराण है, जिसमें अग्नि को मूल तत्त्व के रूप में निरूपित किया गया है। *मत्स्यपुराण* एवं *स्कन्दपुराण* में *अग्निपुराण* के संबंध में वर्णित है कि ईशान कल्प-संबंधी जो ज्ञान अग्निदेव ने वसिष्ठ को दिया था, उसी को अग्निपुराण में प्रकाशित किया गया है। भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में अग्निपुराण भारतीय-ज्ञानकोश है। इसमें पौराणिक स्वरूप में कारणसृष्टि, कार्यसृष्टि और लय; देव-पितरों की वंशावली, समस्त मन्वन्तर तथा वंशानुचरित वंशों में उत्पन्न राजाओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। विषय की विविधता एवं लोकप्रियता की दृष्टि से इस पुराण का विशेष महत्त्व है। इसमें परा-अपरा विद्याओं का वर्णन, *महाभारत* के पर्वों की संक्षिप्त कथा, *रामायण* की संक्षिप्त कथा, मत्स्य, कूर्म आदि अवतारों की संक्षिप्त कथाएँ, सृष्टि-वर्णन, दीक्षा-विधि, वास्तुपूजा, विभिन्न देवताओं के मन्त्र आदि अनेक उपयोगी विषयों का अत्यन्त सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। इसके आरम्भ में भगवान् विष्णु के दशावतारों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त प्रासाद एवं देवालय-निर्माण, मूर्ति-प्रतिष्ठा आदि की विधियाँ भी बताई गई हैं। इसमें भूगोल, ज्योतिषशास्त्र तथा वैद्यक के विवरण के बाद राजनीति का भी विस्तृत वर्णन किया गया है। इसमें अभिषेक, साहाय्य, सम्पत्ति, सेवक, दुर्ग, राजधर्म आदि आवश्यक विषय वर्णित हैं। धनुर्वेद का भी बड़ा ही ज्ञानवर्धक विवरण दिया गया है, जिसमें प्राचीन अस्त्र-शस्त्रों तथा सैनिक शिक्षा-पद्धति का विवेचन विशेष उपादेय तथा प्रामाणिक है। इस पुराण के अन्तिम भाग में आयुर्वेद का विशिष्ट वर्णन अनेक अध्यायों में मिलता है। इसके

* शोध-छात्रा, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

अतिरिक्त छंदशास्त्र, अलंकारशास्त्र, व्याकरण तथा कोश-विषयक विवरण भी दिए गए हैं। इस प्रकार यह पुराण संस्कृत-वाङ्मय में उपलभ्यमान शास्त्रों में अधिकांश शास्त्रों की व्याख्या करता है।

अग्निपुराण में अग्निदेव ने स्वयं कहा है कि इस पुराण में परा एवं अपरा विद्याओं का सांगोपांग वर्णन है। श्रीभगवान् की एकान्त मनसा आराधना मनुष्य के सभी पापों को विनष्ट करके उसे परमात्मा का लोक प्रदान करती है। *अग्निपुराण* की महिमा का वर्णन करते हुए अग्निदेव ने कहा है—

'किं तीर्थैः गोप्रदानैर्वा किं यज्ञैः किमुपोषितैः ।
आग्नेयं ये हि शृण्वन्ति अहन्यहनि मानवाः ॥
कपिलानां शतैर्दन्तैर्यद् भवेज्ज्येष्ठपुष्करे ।
तदाग्नेयं पुराणं हि पठित्वा फलमाप्नुयात् ॥'

जो प्रतिदिन *अग्निपुराण* का पाठ करते हैं, उन्हें तीर्थ में जाने, गोदान करने, यज्ञ तथा उपवास करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वृद्ध पुष्कर क्षेत्र में सौ कपिला गौओं का दान करने से जो फल प्राप्त होता है, वही फल *अग्निपुराण* का पाठ करके प्राप्त हो सकता है।

अग्निपुराण के आधुनिक उपलब्ध कई संस्करणों में 383 अध्याय एवं 11,475 श्लोक हैं, परन्तु *नारदपुराण* के अनुसार इसमें 15 हज़ार श्लोक हैं। *मत्स्यपुराण* में इसे 16 हज़ार श्लोकों का ग्रन्थ बतलाया गया है।

अग्निपुराण में सृष्टि

मानव-चिन्तन के आरम्भ से सृष्टि-प्रक्रिया एक अबूझ पहेली रही है जिसे सुलझाने का प्रयास मनुष्य अपने ज्ञान के इतिहास में वैदिक काल से लेकर आज तक करता चला आया है। *अग्निपुराण* की सृष्टि के इसी क्रम की आदिकालीन प्रक्रिया या कड़ी है। सृष्टि-विद्या से संबंधित सन्दर्भ वैदिक वाङ्मय में अनेकत्र उपलब्ध होते हैं। प्रकृत प्रसङ्ग में ऋग्वेदीय दशममण्डलांतर्गत नासदीयसूक्त सर्वथा उल्लेखनीय है। इस मण्डल के देवीसूक्त, पुरुषसूक्त और प्रजापतिसूक्त का उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। वैसे भी त्रयीविद्या, सृष्टि, स्थिति और संहार की विद्या है और वैदिक यज्ञ-विज्ञान भारतीय कृषि-विज्ञान का ही प्रतीक वितान है। वस्तुतः वेदमूलकता के कारण पुराणों का सृष्टि-विवेचन वेदों में अनेकत्र सूत्र रूप में उपलब्ध एतद्विषयक सामग्री का ही

विशिष्ट रूपात्मक, कथात्मक शैली में उपबृंहण है।

पञ्चलक्षणात्मक पुराणों के वर्ण्य विषयों में सर्ग (सृष्टि-निरूपण) का प्रथम स्थान है। ईश्वर की प्रेरणा से गुणों में क्षोभ होने से आकाशादि पञ्चभूतों, तन्मात्राओं, इन्द्रियों, अहंकार और महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है, उसको सर्ग कहते हैं–

'भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्मसर्ग उदाहृतः' (*भा०पु०*, 2.10.3)

प्रायः सभी पुराणों में सर्ग-प्रक्रिया या जगदुत्पत्ति-क्रम एक-जैसा ही निरूपित किया गया है। सबने इस दृश्यमान प्रपञ्च के मूल में एक सनातन, अव्यय तत्त्व की स्थिति को स्वीकार किया है। यदि कोई भेद है तो जैसा कि अभिनवपादाचार्य ने **'संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः'** कहकर लक्षित किया है, तो इस सर्वाध्यक्ष, सर्वकारण, सर्वाधिष्ठान, परब्रह्म, परमात्मा या परमतत्त्व की संज्ञा में ही है।

अग्निपुराण में सृष्टि-विद्या का बड़े वैशद्य से वर्णन किया गया है। इसमें कहा गया है कि इस सृष्टि के पूर्व में न तो आकाश था और न रात-दिन आदि का ही विभाग था; उस समय केवल एक अव्यक्त ब्रह्म ही स्थित था।[1] यह सृष्टि श्रीहरि की लीलामात्र है। श्रीहरि ही स्वार्गादि के रचयिता हैं, सृष्टि और प्रलय आदि उन्हीं का स्वरूप है, सृष्टि के आदि कारण वे ही हैं और वे ही निर्गुण और सगुण हैं।[2]

सृष्टिक्रम

अग्निपुराण के अनुसार ब्रह्म ही सृष्टि का मूल कारण है। वह ब्रह्म ही व्यक्त और अव्यक्त जगत् के रूप में तथा उसके साक्षी पुरुष और काल के रूप में स्थित है। सृष्टिकाल में परमपुरुष श्रीविष्णु ने प्रकृति में प्रवेश करके उसे विकृत कर दिया।[3] फिर प्रकृति से सर्वप्रथम महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ और उससे अहंकार प्रकट हुआ। यह अहंकार तीन प्रकार का है– वैकारिक (सात्त्विक), तेजस् (रजस्) और भूतादि रूप (तमस्)।[4]

सात्त्विक-अहंकार– इससे दस इन्द्रियों के अधिष्ठाता दस देवता और 11वीं इन्द्रिय की सृष्टि हुई।[5] *भागवतपुराण* में दिशा, वायु, सूर्य, इन्द्र, अश्विनीकुमार, अग्नि, विष्णु मित्र और प्रजापति– इन दस देवताओं के नाम कहे गए हैं।[6]

राजस-अहंकार– इससे दस इन्द्रियों की सृष्टि हुई है।

तामस-अहंकार– इससे शब्द तन्मात्रावाला आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से स्पर्श तन्मात्रा वाले वायु का प्रादुर्भाव हुआ। वायु से रूप तन्मात्रा वाले अग्नितत्त्व का, अग्नि से रस तन्मात्रा वाले जल की, तथा जल से गन्ध तन्मात्रा वाली भूमि का प्रादुर्भाव हुआ।

इस प्रकार इन तीनों अहंकारों से दस इन्द्रियों के अधिष्ठाता इस देवता और मन, दस इन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्राओं की सृष्टि हुई।

इन तामस, राजस और सात्त्विक अहंकार की सृष्टि के अनन्तर भगवान् स्वयंभू ने नाना प्रकार की प्रजा को उत्पन्न करने के इच्छा से सबसे पहले जल की ही सृष्टि की और उसमें अपनी शक्ति का आधान किया। जल को 'नार' कहा गया है क्योंकि वह नर से उत्पन्न हुआ है 'नार' ही पूर्वकाल में भगवान् का 'अयन' था, इसलिए भगवान् को 'नारायण' कहा जाता है।

ब्राह्मी सृष्टि

स्वयम्भू श्रीहरि ने जल में जो वीर्य स्थापित किया था, वह जल में सुवर्णमय अण्ड के रूप में प्रकट हुआ। उसमें साक्षात् स्वयंभू भगवान् ब्रह्माजी प्रकट हुए। ब्रह्माजी ने एक वर्ष तक अण्ड के भीतर निवास करके[7] उस अण्ड के दो भाग किए, उसमें से एक का नाम 'द्युलोक' हुआ और दूसरे का नाम 'भूलोक'। उन दोनों अण्डों के बीच में उन्होंने अकाश की सृष्टि की। जल के ऊपर तैरती हुई पृथिवी को रखा और दसों दिशाओं के विभाग किए।[8] फिर सृष्टि की इच्छावाले प्रजापति ने वहाँ काल, मन, वाणी, काम, क्रोध, तथा रति आदि की तत्तद्रूप से सृष्टि की।[9] इसके पश्चात् उन्होंने आदि में विद्युत्, वज्र, मेघ, रोहित, इन्द्रधनुष, पक्षियों तथा पर्जन्य का निर्माण किया। तत्पश्चात् यज्ञ की सिद्धि के लिए मुख से ऋक्, यजु और सामवेद को प्रकट किया। इन वेदों के द्वारा साध्यगणों ने देवताओं का यजन किया।[10] इसके अनन्तर ब्रह्माजी ने अपनी भुजाओं से ऊँचे-नीचे भूतों को उत्पन्न किया, सनत्कुमार की उत्पत्ति की तथा क्रोध से प्रकट होनेवाले रुद्र को जन्म दिया। इन सबको ब्रह्माजी ने उत्पन्न किया, इसलिए इसे ब्राह्मी सृष्टि कहते हैं।

मानसी सृष्टि

मानसी सृष्टि वह है जो आदिदेव ब्रह्मा द्वारा वेदमूलक, अक्षय, अव्यय तथा धर्मानुकूल हो। इस सृष्टि द्वारा मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, और

वसिष्ठ की उत्पत्ति होती है।[11] *महाभारत* में भी कहा गया है–

'प्रजापतिरिदं सर्वं मनसैवासृजत प्रभुः ।
तथैव देवान् ऋषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥
आदिदेवसमुद्‌भूता ब्रह्ममूलाक्षयाव्यया ।
सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा ॥'

रौद्री सृष्टि

रुद्र की सृष्टि ब्रह्मा के क्रोध से मानी गई है।[12] परन्तु ब्रह्मा ने क्रोध क्यों किया, इसका उल्लेख इस पुराण में नहीं किया गया है परन्तु *विष्णुपुराण* में इस विषय में उल्लेख प्राप्त होता है कि ब्रह्माजी ने सबसे पहले मन से सनत्, सनक्, सनन्दन, सनातन आदि चार कुमारों की रचना सृष्टि-वृद्धि के लिए की थी, परन्तु सनातन का संसार के प्रति औदासीन्य को देखकर पितामह के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। उसी समय क्रोधदीप्त तथा भृकुटि-कुटिल ललाट से प्रचण्ड सूर्य के समान प्रकाशमान रुद्र का आविर्भाव हुआ।[13] *अग्निपुराण* में ही अन्यत्र रुद्र के विषय में कहा गया है कि ब्रह्माजी से एक रोता हुआ पुत्र हुआ, जो रुदन करने के कारण 'रुद्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ और ब्रह्माजी ने उसे भर्व, शर्व ईशान, पशुपति, भीम, उग्र और महादेव आदि नामों से पुकारा। इनकी पत्नी सती थीं। इन्होंने अपने पिता दक्ष पर कोप करने के कारण देह त्याग किया और हिमवान् की कन्या के रूप में प्रकट होकर पुनः वे शंकर जी की ही धर्मपत्नी हुईं।[14]

मानसी सृष्टि के द्वारा उत्पन्न पुलह, क्रतु, वसिष्ठादि ब्रह्मपुत्र तथा रुद्रगण प्रजावर्ग की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार प्रजावर्ग की सृष्टि मानसी और रौद्री सृष्टि है।

नव सर्ग

अग्निपुराण में सृष्टि के नव प्रकार बतलाए गए हैं। ये नवसर्ग ब्रह्माजी से उत्पन्न हैं और ये ही जगत् के मूल कारण हैं।[15] ये मुख्यतया तीन हैं– प्राकृत, वैकृत तथा प्राकृत वैकृत।

प्राकृत सर्ग की संख्या तीन, वैकृत सर्ग की पाँच तथा प्राकृत वैकृत की एक– इस प्रकार सर्गों की सम्मिलित संख्या नव हुई।

प्राकृत सर्ग

प्राकृत सर्ग बुद्धिपूर्वक होता है अर्थात् ब्रह्मा ने सोच-विचारकर इस सर्ग के प्रकारों का

निर्माण किया है।

1. ब्राह्म सर्ग– प्रकृति से सर्वप्रथम महत्तत्त्व की सृष्टि हुई, उसे ब्राह्मसर्ग कहते हैं। ब्राह्मसर्ग में ब्रह्मन् शब्द *गीता* के अनुसार महत् ब्रह्म अर्थात् बुद्धितत्त्व का बोधक है। *सांख्यदर्शन* के अनुसार बुद्धि या महत्तत्त्व ही प्रकृति-पुरुष के संयोग का प्रथम परिणाम है।[16]

2. भूतसर्ग– पञ्चतन्मात्राओं की सृष्टि का यह अभिधान है। तन्मात्राएँ पृथिव्यादि पञ्चभूतों की अत्यन्त सूक्ष्मावस्था की द्योतक तत्त्व हैं।[17]

3. ऐन्द्रिक सर्ग– इसे वैकारिक सृष्टि भी कहते हैं। इन्द्रिय-संबंधी सृष्टि का यह नाम है। अहंकार के राजस रूप से इन इन्द्रियों की सृष्टि होती है, ये ही ऐन्द्रिक सर्ग हैं।[18]

वैकृत सर्ग

4. मुख्य सर्ग– चौथे प्रकार की सृष्टि को मुख्य सर्ग कहते हैं। मुख्य नाम है स्थावरों का[19] अर्थात् वृक्ष, पर्वतादि की उत्पत्ति मुख्य सर्ग से हुई।

5. तैर्यग्योन्य सर्ग– 'तिर्यक्' नाम का स्वारस्य यही है कि इस योनि के प्राणी वायु के समान तिरही गति से चलते हैं। इस योनि में पशु-पक्षी आते हैं।[20]

6. देवसर्ग– ऊर्ध्वलोक में निवास करनेवाले सर्ग को देवसर्ग कहते हैं।[21] इस सृष्टि के प्राणी विषयसुख की प्रीति से सम्पन्न होते हैं।

7. मानुष सर्ग– इस सर्ग के प्राणी मनुष्य कहलाते हैं। ये पृथिवी पर ही भ्रमण करनेवाले जीव हैं।[22]

8. अनुग्रह-सर्ग– इस सर्ग के प्राणियों का *अग्निपुराण* में केवल सात्त्विक और तामस कहकर संकेत कर दिया है।[23] इसके स्वरूप का निर्देश *मार्कण्डेयपुराण* में किया गया है जहाँ यह चार प्रकार का बताया गया है- विपर्यय, सिद्धि, शान्ति तथा तुष्टि। *वायुपुराण* में इन चारों की व्यवस्था भी की गई है– स्थावरों में विपर्यास रहता है, तिर्यग्योनि में शक्ति, मनुष्यों में सिद्धि तथा देवों में तुष्टि।

प्राकृत-वैकृत सर्ग

कौमार-सर्ग– इस सर्ग के विषय में भी कोई वर्णन नहीं मिलता, अपितु केवल

नामोल्लेखमात्र कर दिया गया है।

इस प्रकार इन नवसर्गों से जगत् की सृष्टि होती है। कुछ विद्वान् नित्य, नैमित्तिक और प्राकृत— इस भेद से तीन प्रकार की सृष्टि मानते हैं। जो प्रतिदिन होनेवाले अवान्तर प्रलय से प्रतिदिन जन्म लेते रहते हैं, वह नित्यसर्ग कहा गया है।[24]

इसके अतिरिक्त *अग्निपुराण* में प्रजाओं की सृष्टि किस प्रकार हुई, इसका भी वर्णन किया गया है। इसमें कहा गया है कि ब्रह्माजी ने अपने शरीर के दो भाग किए— आधे भाग से वे पुरुष हुए और आधे से स्त्री बन गये, फिर इस नारी के गर्भ से उन्होंने प्रजाओं की सृष्टि की। ये ही स्वायम्भुव मनु तथा शतरूपा के नाम से प्रसिद्ध हुए और इनसे ही मानषी सृष्टि हुई।[25] इसके अतिरिक्त दुःखादि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वेदना ने नरक के संयोग से 'दुःख' नामक पुत्र उत्पन्न किया। इसके पश्चात् मृत्यु से व्याधि, जरा, शोक, तृष्णा और क्रोध की उत्पत्ति हुई।

इस प्रकार *अग्निपुराण* में सृष्टि-विद्या का बहुत ही मौलिक विवेचन किया गया है। त्रिदेवों का सृष्टि के उत्पादन में सहयोग है। प्रधानतः सृष्टि तो ब्रह्माजी का ही कार्य है, परन्तु सृष्टि-कार्य के लिए उन्हें प्रेरणा विष्णु के द्वारा प्राप्त होती है। स्वयम्भू श्रीहरि ने जल में जो वीर्य स्थापित किया था, वह सुवर्णमय अण्ड के रूप में प्रकट हुआ और उसी में ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई। भारतीय-दर्शनों में से *सांख्यदर्शन* की सृष्टि-प्रक्रिया *अग्निपुराण* में वर्णित सृष्टि-प्रक्रिया से काफ़ी साम्य रखती है।

सन्दर्भ :

1. **'ब्रह्माव्यक्तं सदाग्रेऽभूत् न खं रात्रिदिनादिकम्'** —*अग्निपुराण*, 17.2
2. **'जगत्सर्गादिकां क्रीडां विष्णोर्वक्ष्येऽधुना शृणु।**
   स्वर्गादिकृत् स सर्गादिः सृष्ट्यादिः सगुणोगुणः ॥' —*वही*, 17.1
3. **'प्रकृतिः पुरुषो विष्णुः प्रविश्याक्षोभयत्ततः ॥'** —*वही*, 17.2
4. **'सर्ग काले महत्तत्त्वमहंकारस्ततोऽभवत्।**
   वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः ॥' —*वही*, 17.3
5. **'वैकारिका दश देवा मन एकादशेन्द्रियम्'** —*वही*, 17.5
6. **'दिग्वातोकप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः'**—*भागवतपुराण*, 2.5.30
7. **'अहंकारात्तामसात्तु तैजसानीन्द्रियाणि'** —*अग्निपुराण*, 17.5
8. **'अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृत्।**

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ॥' —*वही*, 17.7

'अयनन्तस्य ताः पूर्वन्तेन नारायणः स्मृतः ।' —*वही*, 17.8

9. 'तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा स्वयम्भूरिति नः श्रुतम् ।
हिरण्यगर्भो भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ॥' —*वही*, 17.9

10. 'तदण्डमकरोत् द्वैधन्दिवं भुवमथापि च ।
तयोः शकलयोर्मध्ये आकाशमसृजत् प्रभुः ॥' —*वही*, 17.10

11. 'अप्सु पारिप्लवां पृथ्वीं दिशश्च दशधा दधे ।
तत्र कालं मनो वाचं कामं क्रोधमथो रतिम् ॥' —*वही*, 17.11

12. 'वयांसि च ससर्जादौ पर्जन्यं चाथ वक्त्रतः ।
ऋचो यजूंषि सामानि निर्ममे यज्ञसिद्धये ॥' —*वही*, 17.13

13. 'मरीचिमत्र्यङि्गरसं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
वसिष्ठं मानसान् सप्त ब्राह्मणान् इति निश्चितम् ॥' —*वही*, 17.15

14. 'सनत्कुमारं रुद्रं च ससर्ज क्रोधसम्भवम् ।' —*वही*, 17.14

15. *विष्णुपुराण*, 1.7.8,10,12

16. 'ब्रह्मणश्च रुदन् जातो रोदनाद्रुद्रनामकः ।
भवं शर्वमथेशानं तथा पशुपतिं द्विजः ॥
भीममुग्रं महादेवमुवाच स पितामहः ।
दक्षकोपाच्च तद्भार्या देहन्तत्याज सा सती ।
हिमवद्दुहिता भूत्वा पत्नी शम्भोरभूत् पुनः ॥' —*अग्निपुराण*, 20.20-22

17. 'ब्रह्मतो नव सर्गास्तु जगतो मूलहेतवः ' —*वही*, 20.6

18. 'प्रथमो महतः सर्गो विज्ञेयो ब्रह्मणस्तु सः' —*वही*, 20.1

19. 'तन्मात्राणां द्वितीयस्तु भूतसर्गो हि स स्मृतः' —*वही*, 20.1

20. 'वैकारिकतृतीयस्तु सर्ग ऐन्द्रियकः स्मृतः' —*वही*, 20.2

21. 'मुख्यः सर्गःचतुर्थस्तु मुख्या वै स्थावराः स्मृताः' —*वही*, 20.3

22. 'तिर्यक्स्रोतस्तु यः प्रोक्तस्तैर्य्यग्योन्यस्ततः स्मृतः' —*वही*, 20.3

23. 'तथोर्द्ध्वस्रोतसां षष्ठो देवसर्गस्तु स स्मृतः' —*वही*, 20.4

24. 'ततोऽर्वाक् स्रोतसां सर्गः सप्तम स तु मानुषः' —*वही*, 20.4

25. 'अष्टमोनुग्रहः सर्गः सात्विकस्तामसश्च यः' —*वही*, 20.5

26. 'नित्यो नैमित्तिकः सर्गस्त्रिधा प्रकथितो जनैः ।
प्राकृतो दैनन्दिनीयादन्तरप्रलयादनु ।
जायन्ते यत्रानुदिनं नित्यसर्गो हि स स्मृतः ॥' —*वही*, 20.7-8

27. 'द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्द्धेन नारी तस्यां स ब्रह्मा वै चासृजत् प्रजाः ॥ —*वही*, 97.16

अग्निपुराण : सृष्टिप्रक्रिया

नीरजा कुमारी *

रतीय चतुर्दश विद्याओं में पुराण का अत्यन्त महत्त्व है। यह विद्या समाज के सभी आश्रमों के लिये शिक्षाप्रद है फिर वह ब्रह्मचर्याश्रम हो या गृहस्थाश्रम तथा वानप्रस्थ या संन्यासाश्रम। यास्क ने *निरुक्त* में 'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये कहा है **'पुरा नवं भवति'**।[1] अर्थात् जो प्राचीन होकर भी नया होता है। *पद्मपुराण* भी कहता है कि **'पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन स्मृतम्'**।[2] किसी विशिष्ट ग्रन्थ का बोधक न होकर विद्याविशेष का ही बोधक है। पुराण लौकिक शास्त्र है। *न्यायभाष्य* में वात्स्यायन लोकवृत्त को ही इतिहासपुराण का विषय स्वीकार करते हैं– **'लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य विषयः'**[3] 'पुराण' वैदिक दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों को सरलतम रूप में प्रस्तुत करता है।

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'[4]

महापुराणों की संख्या मुख्य रूप से अठारह मानी गई है। इनमें विषय की विविधता की दृष्टि से *अग्निपुराण* का उत्कृष्ट स्थान है। कहा गया है– **'आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वाः विद्याः प्रदर्शिताः'**[5] । इस पुराण में 383 अध्याय हैं तथा *नारदपुराण* के अनुसार 15,000 श्लोक एवं *मत्स्यपुराण* के अनुसार 16,000 श्लोक हैं। पुराण के पञ्चलक्षणों में से मुख्य लक्षण 'सर्ग' है जिसका अर्थ है जगत्-सृष्टि। *अग्निपुराण* के सृष्टि-सिद्धान्त में सांख्य, वेदान्त व *न्यायदर्शन* द्वारा निर्दिष्ट

* शोध छात्रा, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

सृष्टि-विद्या का दिग्दर्शन होता है।

न्याय व अग्निपुराण

ईश्वर न्यायदर्शन का मूल तत्त्व है। इस दर्शन के अनुसार ईश्वर इस जगत् की रचना, पालन तथा संहार करनेवाला है। ईश्वर अणुओं से जगत् की संरचना करता है। वह जगत् का निमित्त कारण है। प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य के आदि तथा अन्त में महेश्वर को प्रमाणभूत माना है। इनके अनुसार सृष्टिकाल में ईश्वर की सिसृक्षा से ही जड़ परमाणुओं में आद्य स्पन्दन उत्पन्न होता है। प्रशस्तपाद कहते हैं—

'ततः पुनः प्राणिनां भोगभूतये महेश्वरसिसृक्षानन्तरं सर्वात्मगत-वृत्तिलब्धादृष्टापेक्षेभ्यस्तत्संयोगेभ्यः पवनपरमाणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगेभ्यो द्वयणुकादिप्रक्रमेण महान् वायुः समुत्पन्नः'[6]

वैशेषिकसूत्र में **'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'** तथा **'अस्मद्विशिष्ट'**— ये दो सूत्र ईश्वर की सत्ता का संकेत करते हैं। उदयनाचार्य *न्यासकुसुमाञ्जलि* में जगत् के कर्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि करते हैं—

'कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥'[7]

अग्निपुराण के सत्रहवें अध्याय में अग्निदेव जगत् की सृष्टि को श्रीहरि की लीला कहते हैं।

'जगत्सर्गादिकां क्रीडां विष्णोर्वक्ष्येऽधुना श्रुणु ।
स्वर्गादिकृत्स सर्गादिः सृष्ट्यादिः सगुणोऽगुणः ॥'[8]

श्रीविष्णु ही स्वर्ग आदि के रचयिता हैं। सबसे पहले सत्स्वरूप अव्यक्त ब्रह्म ही था। उसने ही जड़ परमाणुओं में स्पन्दन किया। अणु परिणाम-विशिष्ट परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक की उत्पत्ति होती है। तीन द्वयणुकों के संयोग से त्रसरेणु तथा चार त्रसरेणुओं के संयोग से चतुरणुक की उत्पत्ति होती है। तदन्तर जगत् की सृष्टि होती है। महेश्वर की सृष्टि करने की इच्छा से आत्मा और परमाणु का संयोग उत्पन्न होता है जिसके परिणामस्वरूप परमाणुओं में कर्म की उत्पत्ति होती है क्रमशः सृष्टि का आविर्भाव होता है।

अतः *न्यायदर्शन* का यह सिद्धान्त कि 'सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर है',

अग्निपुराण का भी अभिमत है।

अद्वैतवेदान्त व अग्निपुराण

उपनिषदों को प्रमाणस्वरूप मानकर चलनेवाला शास्त्र वेदान्त है– **'वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं'**।[9] *छान्दोग्योपनिषद्* कहता है कि यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप है क्योंकि यह जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, ब्रह्म में ही लीन हो जाता है, तथा उत्पत्ति और लय के मध्यकाल में ब्रह्म में ही जीवित सक्रिय रूप से अवस्थित रहता है– **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीतिशान्त उपासीत'**[10]।

अग्निपुराण में भी अग्निदेव कहते हैं, सबसे पहले सत्स्वरूप अव्यक्त ब्रह्म ही था। वेदान्तसार में सदानन्द ब्रह्म को सत् स्वरूप कहते हैं।

'सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म'[11]

अद्वय विशेषण से द्योतित होता है कि सृष्टि से पूर्व केवल ब्रह्म ही था जो निर्गुण रूप था। माया (अज्ञान) शक्ति से उपहित होकर सृष्टिकाल में वह सगुण ईश्वर की संज्ञा प्राप्त करता है। यह अज्ञान-शक्ति ईश्वर की उपाधि है। *अग्निपुराण* में भी कहा गया है कि सृष्टि और प्रलय ब्रह्म का ही स्वरूप है। सृष्टि के आदिकारण भी वे ही हैं। वे ही निर्गुण हैं और वे ही सगुण हैं। सृष्टि-पूर्व न तो आकाश था और न रात-दिन आदि का ही विभाग था।

'ब्रह्माव्यक्तं सदग्रेऽभून्न खं रात्रिदिनादिकम्'[12]

वेदान्त की सृष्टि-प्रक्रिया में माया शक्ति (अज्ञान) त्रिगुणात्मक है– **'अज्ञानं तु ...त्रिगुणात्मकं'**[13]।

विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य से आकाश की, आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की तथा जल से पृथिवी की उत्पत्ति होती है। **'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः**[14] **सम्भूतः'** इत्यादि श्रुति से यह सिद्ध है। उस समय उन आकाश आदि में कारण गुहा के प्रक्रम में सत्त्व, रज और तम की उत्पत्ति होती है, इन्हें ही सूक्ष्मभूत, तन्मात्र और अपञ्चीकृत कहा जाता है, इनमें सूक्ष्म शरीर और स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म शरीर में सत्रह अवयव होते हैं। वे हैं– पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ– इनकी उत्पत्ति आकाश आदि के सत्त्वभाग से होती है।

पाँच कर्मेन्द्रियाँ– ये आकाश आदि सूक्ष्म भूतों के व्यस्त राजस अंशों से

पृथक्-पृथक् क्रम से उत्पन्न होते हैं। पाँच वायु– ये पाँच वायु, आकाश आदि के मिलित रजोगुण से उत्पन्न होते हैं। बुद्धि और मन के साथ ये सत्रह अवयव सूक्ष्म शरीर में होते हैं।

अग्निपुराण में भी तामस अहंकार (अज्ञान) से शब्द तन्मात्रावाला आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से स्पर्श तन्मात्रावाले वायु का प्रादुर्भाव हुआ। वायु से रूप तन्मात्रावाला अग्नितत्त्व, अग्नि से रस तन्मात्रावाले जल और जल से गन्ध तन्मात्रावाली भूमि का प्रादुर्भाव हुआ–

'अहंकाराच्छब्दमात्रमाकाशमभवत्ततः ।
स्पर्शमात्रोऽनिलस्तस्माद्रूपमात्रोऽनलस्ततः ॥'[15]
'रसमात्रा आप इतो गन्धमात्रा धरित्र्यभूत् ।'

जिस प्रकार वेदान्त में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ सत्त्व एवं राजस अंशों से उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार *अग्निपुराण* में भी इन्द्रियाँ तैजस अर्थात् राजस अहंकार से प्रकट हुई हैं। दस इन्द्रियों के अधिष्ठाता दस देवता और ग्यारहवीं इन्द्रिय मन सात्त्विक अहंकार की सृष्टि हैं।

'अहङ्कारात्तामसात्तु तैजसानीन्द्रियाणि च ।
वैकारिका दश देवा मन एकादशेन्द्रियम् ॥'[16]

वेदान्त में इन सूक्ष्मभूतों के पञ्चीकरण के उपरान्त पञ्च स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है। इन पञ्चीकृत भूतों से ब्रह्माण्ड की, उसके अंतर्गत चार प्रकार के स्थूल शरीरों की और उनके पालन योग्य अन्न, पान आदि की उत्पत्ति होती है। चार प्रकार के शरीरों के नाम हैं– जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज। मनुष्य पशु आदि जरायुज हैं। अण्डों से उत्पन्न पक्षी, सर्प आदि अण्डज हैं। भूमि से उत्पन्न होनेवाले वृक्ष आदि उद्भिज्ज हैं। स्वेद, गन्दा पानी आदि से अदृष्टवश उत्पन्न होनेवाले मच्छर आदि स्वेदज हैं। *अग्निपुराण* में भी यह उल्लेख है कि सूक्ष्म शरीर की सृष्टि के बाद नाना प्रकार की प्रजा को उत्पन्न करने की इच्छावाले भगवान् स्वयम्भू ने सबसे पहले जल की सृष्टि की–

'ततः स्वयम्भूर्भगवान् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु वीर्यमवासृजत् ॥'[17]

वेदान्त में स्थावर, जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज– चार प्रकार के शरीरों का

वर्णन है किन्तु *अग्निपुराण* मनुष्य को मानव-सर्ग, वृक्ष-पर्वत को स्थावर पशु-पक्षियों को तिर्यक् सर्ग के अन्तर्गत रखा है। अतः *अग्निपुराण* में अद्वैत वेदान्त की सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन मिलता है। अद्वैत वेदान्त का परमब्रह्म इस जगत् का कारण है तथा सृष्टि एवं प्रलय भी उसके, अन्तर्गत ही है उसी प्रकार *अग्निपुराण* का 'विष्णु' भी सर्वव्यापक, अनन्त, अद्वय और एक है जो अव्यक्त, स्वयम्भू आदि नामों से कहा गया है।

सांख्य व अग्निपुराण

सांख्यदर्शन में प्रकृति व पुरुष का संयोग भोगोपवर्ग के लिए होता है। पुरुष भोक्ता है तथा प्रकृति भोग्या; ईश्वरकृष्ण कहते हैं कि अव्यक्त (प्रकृति) से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से एकादशेन्द्रिय तथा पञ्चतन्मात्रक सोलह तत्त्वों का समूह तथा पञ्चतन्मात्राओं द्वारा पञ्चमहाभूतों का आविर्भाव होता है।

'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥'[18]

अग्निपुराण के बीसवें अध्याय में सृष्टि-उत्पत्ति का यही क्रम है। अग्निदेव कहते हैं कि प्रकृति से पहले 'महत्' तत्त्व की सृष्टि हुई, इसे ब्रह्मसर्ग समझना चाहिए। दूसरी तन्मात्राओं की सृष्टि हुई, इसे भूतसर्ग कहा गया है। तीसरी वैकारिक सृष्टि है इसे ऐन्द्रियक सर्ग कहते हैं। इस प्रकार यह बुद्धिपूर्वक प्रकट हुआ प्राकृत सर्ग तीन प्रकार का है—

'प्रथमो महतः सर्गो विज्ञेयो ब्रह्मणस्तु सः ।
तन्मात्राणां द्वितीयस्तु भूतसर्गो हि स स्मृतः ॥
वैकारिकस्तृतीयस्तु सर्ग ऐन्द्रियकः स्मृतः ।
इत्येष प्राकृतः सर्गः सम्भूतो बुद्धिपूर्वकः ॥'[19]

अग्निपुराण के सत्रहवें अध्याय के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति त्रिगुणात्मक है तथा प्रकृति के गुणों में विक्षोभ से ही सृष्टि प्रारम्भ होती है।

'प्रकृतिः पुरुषं विष्णुं प्रविश्याक्षोभयत्ततः'[20]

'तन्मात्राएँ' *अग्निपुराण* में भूत-सर्ग का परिणाम तथा इन्द्रियाँ वैकारिक सृष्टि की। सांख्य में अहंकार की विविध सृष्टि होती है जो वैकृत व भूत के नाम से अभिहित की गई है। ईश्वरकृष्ण कहते हैं कि 'वैकृत' अहंकार से सत्वबहुल ग्यारह

इन्द्रियों का समूह अभिव्यक्त होता है। भूतादि अहंकार से पञ्चतन्मात्राओं का समूह प्रकट होता है जो तमोबहुल है।

'अभिमानोऽङ्कारः तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥'[20]
'सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥'[21]

सांख्यदर्शन में 'प्रत्यय-सर्ग' की कल्पना है जो विपर्यय, अशक्ति व तुष्टि नाम से चार प्रकार का है तथा इनके अन्य अवान्तर भेद हैं। *अग्निपुराण* में इसे अनुग्रह सर्ग कहा गया है जिसकी क्रम संख्या आठवीं है। यह सात्त्विक और तामस भी है।

'अष्टमोऽनुग्रहः सर्गः सात्त्विकस्तामसश्च यः'

सांख्यशास्त्र में महत् के आठ धर्म हैं– त्रिगुणात्मक बुद्धि में प्रथम चार धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य सत्त्वगुण प्रधान हैं तथा चार अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य तमोगुणप्रधान हैं। रजोगुण दोनों प्रकार के धर्मों का प्रेरक होने से उन्हीं में सन्निविष्ट रहता है।

सांख्यशास्त्र में पाञ्चभौतिक सृष्टि के मुख्यतः तीन भेद हैं– दैवसृष्टि, तैर्यक् सृष्टि, मानुष सृष्टि।

'अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुषकश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥'[22]

अग्निपुराण में चौथे प्रकार की सृष्टि को मुख्य सर्ग कहते हैं। मुख्य नाम है स्थावरों का। जिसमें पशु-पक्षियों की उत्पत्ति होती है उसे तैर्यग्योन्य सर्ग कहा गया है, जो क्रम में पाँचवा है। उर्ध्व देवताओं की सृष्टि को देवसर्ग कहते हैं जो क्रम में छठा सर्ग है। सातवाँ मानव सर्ग है। नवें प्रकार के सर्ग को कौमार सर्ग कहा है जिसका स्पष्ट विवरण नहीं दिया गया है। *अग्निपुराण* के अनुसार ये अन्तवाले पाँच वैकृत सर्ग हैं और आरम्भ के तीन प्राकृत सर्ग। ये कुल नौ सर्ग ब्रह्मा से प्रकट हुए, जो इस जगत् के मूल कारण हैं।

'प्राकृतो वैकृतश्चैव कौमारो नवमस्तथा ।
ब्रह्मणो नव सर्गास्तु जगतो मूलहेतवः ॥'[23]

इस प्रकार सांख्य की सृष्टि-प्रक्रिया *अग्निपुराण* में भी परिलक्षित होती है। वैदिक दर्शन की सृष्टि-प्रक्रियाओं को दो अध्यायों में अंकित कर देना *अग्निपुराण* का वैशिष्ट्य है। इसके अतिरिक्त *अग्निपुराण* में रूपक के माध्यम से भी सृष्टि-सिद्धान्त का दिग्दर्शन होता है।

सन्दर्भ :

1. *निरुक्त*, 3.19
2. *पद्मपुराण*, 5.2.53
3. *न्यायभाष्य*, 4.1.61
4. *महाभारत*, आदिपर्व , 1.267
5. *अग्निपुराण*, 383.52
6. *प्रशस्तपादभाष्य*, पृ० 31
7. *न्यायकुसुमाञ्जलि*, पञ्चम स्तबक, 1
8. *अग्निपुराण*, 17.1
9. *वेदान्तसार*
10. *छान्दोग्योपनिषद्*
11. *वेदान्तसार*
12. अग्निपुराण, 17.2
13. *वेदान्तसार*
14. *वही*
15. *अग्निपुराण*, 17.4
16. *वही*, 17.5
17. *वही*, 17.6
18. *सांख्यकारिका*, 22
19. *अग्निपुराण*, 20.1-2
20. *वही*, 17.1
21. *सांख्यकारिका*, 24
22. *वही*, 25
23. *वही*, 52
24. *अग्निपुराण*, 20.6

अग्निपुराणे दशावतारनिरूपणम्

डॉ० रामानुज उपाध्यायः *

अस्माकं संस्कृतवाङ्मये पुराणानामतीवगौरवास्पदं स्थानम्। वेदतत्त्वार्थजातं सारल्येन अवगमयितुमेवैतेषां प्रवृत्तिः। तदिदं पुराणसाहित्यमत्यन्तविशालं मनोहरमलंकाररूपेण वर्णितं गाथाख्यानोपाख्यानसंवलितं संस्कृतसाहित्यरत्नाकरे अतिभास्वरं महारत्नमिवाभाति। भारतीयाचारव्यवहारसनातनसंस्कृतिपरम्परायाः धर्मार्थकाममोक्षौपयिकोपदेशानां महान् खलु आकरः। नास्ति तादृशो विषयो लोकहितावहो यस्तत्र न वर्णितो भवेत्।

तत्रादौ निर्वचनमुखेन पुराणस्वरूपं विमृश्यते। पुरा अतीतान् अर्थान् अणति कथयति इति व्युत्पत्तौ पुरा उपपदात् भौवादिकात् अण् शब्दे इति धातोः पचादित्वादचि प्रत्यये सति पुराणशब्दः सिध्यति।[1]

यद्यपि पुराणशब्दस्य अपरपर्यायाः प्रत्नप्रतनपुरातनचिरन्तनादयः शब्दाः सन्ति तथापि अत्र पुरा शब्देन प्राचीनाख्यायिकादियुक्ता महर्षिव्यासप्रणीता अष्टादशग्रन्थविशेषा एव ज्ञायन्ते। संस्कृतसाहित्यस्य सर्वे ग्रन्थकारा इममेवार्थं स्वीकुर्वन्ति। अपि च पुराणशब्दश्रवणमात्रेणैव महर्षिव्यासप्रणीतानामष्टादशानां पुराणग्रन्थानां सहसा स्मरणं जायते। प्राचीनानि सन्त्यपि रचनावैचित्र्य-वस्तुवैचित्र्याभ्यां सदा अभिनवानि प्रतीयन्ते। एवं सृष्टिप्रलयप्रसिद्धराजर्षि-वंशपरम्परानुवर्णनविशिष्टमानवानां पावनचरित्राणां च वर्णनं यस्मिन् ग्रन्थे विद्यते

* सहायकाचार्य, वेद-विभागः, श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, नयी दिल्ली

तत् पुराणमुच्यते।

वैदिकसाहित्यपर्यालोचनेन विज्ञायते यत् पुराणानि अतिप्राचीनकालतः प्रचलितानि वर्तन्ते। एषाञ्च वेदमूलकत्वं तद्विशेषज्ञा एवं समामनन्ति। पुराणसाहित्यमिदं श्रुतिमिः सहैव उच्छिष्टात् (ब्रह्मणः) सकाशात् प्रादुर्भूतमिति अथर्वाम्नायवचनेन ज्ञातं भवति। तथा चोक्तं–

'ऋचः सामानिच्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः ॥'[2]

इदमप्यत्रावधेयं यत् पुराणान्यपि वेदवत् सनातनानि सन्तीति आचार्य शंकराचार्योऽपि बृहदारण्यकभाष्ये अमुमर्थमेवसमर्थयन्नाह– **'निःश्वसितमिव पुराणं, यथा अप्रयत्नेनैव पुरुषनिःश्वासो भवति एवं पुराणमपि'**[3] एतावानस्य महिमा पुराणस्य।

नूनं वे दार्थोपबृंहणानि पुराणानि इति अतीव प्राचीनः वादो यथार्थ एव। तथा चोक्तं महाभारते भगवता व्यासेन–

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥'[4]

वचनेनानेन सिध्यति यत् अल्पश्रुतानां वेदार्थतत्त्वबुभुत्सूनां कृते पुराणानि निर्मितानि महर्षिभिरिति संसूच्यते। इदमप्यवशेयं यत् पौराणिकज्ञानस्याभावे वैदिकसाहित्यस्य अर्थावबोधः सर्वथाऽसम्भवो विद्यते। यथा **'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे'**[5]। मन्त्रस्यास्य अर्थः सायणादिभाष्यैरपि सम्यक् अधिगन्तुं न पार्यते किं सामान्यजनैः। श्रीविष्णुना कदा कथं केन प्रकारेण वा विश्वमिदं त्रिमिः पदैः मापितम्? किन्तु पुराणेषु वलिवामनकथया मन्त्रार्थस्यास्य विवरणं सम्यगुपलभ्यते, तदा सन्देहस्य कश्चनावसरो न तिष्ठति।

तदेवं वेदे सूक्ष्मरूपेण यन्निर्दिष्टमस्ति तस्यैव विस्तृता व्याख्या व्यासदेवेन भाष्यरूपेण महाभारते पुराणेषु च कृतास्ति। अत्र इदमपि वक्तुं शक्यते यत् वेदे गूढतया वर्णितानामर्थानां यावत् सुरुचिपूर्णया शैल्या वर्णनं न क्रियते, तावत् पुराणानां निर्माणस्य प्रयोजनं पूर्णं न भवितुं मर्हेत्। अतएव आख्यानोपाख्यानगाथा-कल्पशुद्धयादिभिस्तेषां वेदार्थानां विस्तारं पुराणमुखेन कृतवान् पुराणपुरुषो भगवान् व्यासदेवः।

पुराणानि अष्टादशसंख्याकानि सन्ति। तद्यथा मत्स्य-मार्कण्डेय-भागवत, भविष्य-ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त-ब्रह्म-वामन-वराह-विष्णु-वायु-अग्नि-नारद-पद्म-लिंग-गरुड-कूर्म-स्कन्दानि इति पुराणानि विज्ञेयानि।[6] तत्र ममायं विषय अग्निपुराण-सम्बद्धः, तेनाग्निपुराणस्य परिचयपुरस्परं तत्रोपदिष्टदशविधावताराणां परिचयः प्रस्तूयते।

मत्स्यपुराणानुशीलनेन इदं विज्ञातं भवति यत् अग्निना वसिष्ठाय यः उपदेशः प्रदत्तः स एवाग्निपुराणं विद्यते, यच्च सर्वयज्ञफलप्रदं वर्तते। अत्र षोडश-सहस्रं श्लोकाः विद्यन्ते–

'यत्तदीशानकं कल्पवृत्तान्तमधिकृत्य च ।
वसिष्ठायाग्निना प्रोक्तमाग्नेयं तत् प्रचक्षते ।
तच्च षोडशसाहस्रं सर्वक्रतुफलप्रदम् ।।'[7]

पुराणस्यास्य वक्ता अग्निः श्रोता च महर्षिवसिष्ठः। अग्निपुराणं लोकशिक्षायै उपयोगिनीनां विद्यानां संग्रहं प्रस्तोतृ-पुराणमस्ति। अत एव भारतीय समस्तविद्यानां कोश इति नाम्ना व्यपदिश्यते। तथा चात्र उक्तम्–

'नास्मात् परतरं भूमौ विद्यते वस्तुदुर्लभम् ।
आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वाः विद्याः प्रदर्शिताः ।।'[8]

अग्निपुराणस्य प्रथमेऽध्याये भगवतो विष्णोर्वैशिष्ट्यवर्णनान्तरं द्वितीयाध्यायतः मत्स्यकूर्मवराहावतारदिग्दर्शनं विधाय रामावतारस्य च विवेचनं विद्यते। अस्मिन् ग्रन्थे 383 अध्यायाः सन्ति। समेषां वर्ण्यविषयाणां विवेचनं नात्र प्रस्तौमि विस्तरभिया। अवतारविवेचनमेव मदीयं प्रयोजनम्। अतोऽत्र अवतारहेतुत्वं प्राथ्म्येन निरूप्यते।

भगवान् श्रीकृष्णः स्वयमेव स्वावतारप्रयोजनं श्रीमद्भगवद्गीतायामाह-

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।।'[9]

श्लोकार्थस्तु स्पष्ट एव। श्रीमद्भागवते अपरमपि अवतारप्रयोजनं सम्प्राप्यते। तद्यथा–

'नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥'[10]

अर्थात् अव्ययस्य अप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनो भगवतः व्यक्तिः अवतारः आविर्भावो वा मनुष्याणां निःश्रेयसार्थाय मोक्षाय एव भवति।

ज्ञानप्रदानमपि भगवतोऽवतारस्य प्रयोजनमिति भगवता व्यासेन उक्तम्। यतः भगवान् एव गुरूणां गुरुः। तत्र कपिलावतारस्य मुख्यं प्रयोजनं तत्त्वानां निरूपणमेवासीत्। भगवान् स्वयमेव वक्ति—

'एतन्मे जन्म लोकेस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात् ।
प्रसङ्ख्यानाय तत्त्वानां सम्मतायात्मदर्शने ॥'[11]

अन्यत्रस्थलेऽपि संकेतः प्राप्यते—

'कपिलस्तत्त्वसङ्ख्याता भगवानात्ममायया ।
जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम् ॥'[12]

अस्य इदं तात्पर्यं यत् जीवानां मोक्षप्रदानमेवावतारस्य मुख्यं प्रयोजनमस्तीति नात्र कश्चित् सन्देहलेशः। बद्धो जीवः कथमपरान् तारयति। अतः शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो हि भगवान् बद्धजीवमुन्मोचयितुं समर्थः नान्यः कश्चन इति सिद्धान्तः। मर्त्यावतारः खलुमर्त्यशिक्षणं,[13]

रक्षोवधायैव न केवलं विभोरिति श्रीमद्भागवतस्योद्घोषः।

ततश्चेह जिज्ञासते के के अवताराः सन्ति ?

'मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्किश्च ते दश ॥'[14]

अत्रादौ मत्स्यावतारविषये किञ्चिदुच्यते। महर्षिवसिष्ठः भगवन्तमग्निं पृच्छति यत्—

'संसारसागरोत्तारनावं ब्रह्मेश्वरं वद ।
विद्यासारं यद् विदित्वा सर्वज्ञो जायते नरः ॥'[15]

इति प्रश्नानन्तरमग्निरुवाच—

'विष्णुः कालाग्निरुद्रोऽहं विद्यासारं वदामि ते ।

विद्यासारं पुराणं यत्सर्वं सर्वस्य कारणम् ॥'[16]

'विष्णुनोक्तं यथा मह्यं देवेभ्यो ब्रह्मणा पुरा ।
तथा ते कथयिष्यामि हेतुं मत्स्यादिरूपिणम् ॥'[17]

मत्स्यावतारप्रयोजनञ्चाह—

'मत्स्यावतारं वक्ष्येऽहं वसिष्ठ शृणु वै हरेः ।
अवतारक्रिया दुष्टनष्ट्यै सत्पालनाय हि ॥'[18]

अर्थात् दुष्टानां विनाशाय सत्पुरुषाणाञ्च परित्राणाय एव ममावतारो भवति ।

अतीते कल्पान्ते नैमित्तिको ब्राह्मो लयो जातः तेन भूरादिलोकाः समुद्रोपप्लुता जाताः। तदानीं वैवस्वतो मनुः भुक्तिमुक्तये च तपस्तेपे। एकस्मिन् दिवसे कृतमालायां नद्यां पितृतर्पणं कुर्वतस्तस्य अञ्जल्युदके एकः स्वल्पः मत्स्यः अभ्यपद्यत। जले क्षेप्तुकामं मुनिं स मत्स्यश्चाह न मां क्षिप नरोत्तम! अत्र ग्राहादिजीवेभ्यः बिभेमि। इति आकर्ण्य मनुः तं कलशे अक्षिपत। पुनर्मत्स्यः प्राह यत् इतोऽपि बृहत्स्थानमपेक्षते। एवं पुनः पुनः मत्स्यस्य वृद्धिं विज्ञाय मनुः अम्बुधौ प्राक्षिपत्। स च मत्स्यः क्षणमात्रेणैव लक्षयोजनविस्तीर्णो जातः। तमदुभु मत्स्यमवलोक्य मनुरेवमब्रवीत्—

'को भवान्ननु वै विष्णुर्नारायण नमोऽस्तुते ।
मायया मोहयसि मां किमर्थं त्वं जनार्दन ॥
मनुनोक्तोऽब्रवीन्मत्स्यो मनुं वै पालने रतम् ।
अवतीर्णो भवायास्य जगतो दुष्टनष्टये ॥
सप्तमे दिवसे त्वब्धिः प्लावयिष्यति वै जगत् ।
उपस्थितायां नावि त्वं बीजादीनि विधाय च ॥
सप्तर्षिभिः परिवृतो निशां ब्राह्मीं चरिष्यसि ।
उपस्थितस्य मे शृङ्गे निबध्नीहि महाहिना ।
इत्युक्त्वान्तर्दधो मत्स्यो मनुः कालप्रतीक्षकः ।
स्थितः समुद्र उद्वेले नावमारुरुहे तदा ॥
एक शृङ्गधरो मत्स्यो हैमोनियुतयोजनः ।
नावं बबन्ध तच्छृङ्गे मत्स्याख्यं च पुराणकम् ॥'[19]

अनेन पुराणवचनेनेदं विज्ञातं भवति यत् स्वयमेव भगवान् मत्स्यरूपं

सन्धार्य मनुं मत्स्याख्यं पुराणमुपदिदेश। अस्मिन्नेवावतारे ब्रह्मवेदप्रहर्त्तारं दानवं हयग्रीवं चावधीत्।

मत्स्यावतारनिरूपणानन्तरं कूर्मावतारकथा संक्षेपेण विविच्यते।

पूर्वकाले देवासुरसंग्रामे देवाः दैत्यैः पराजिताः, दुर्वाससः शापेन च निःश्रीका अभवन्। तदाऽमराः विष्णुशरणं ययुः। विष्णुश्च देवान् प्राह यदसुरैः सह सन्धिं कुर्वन्तु येन क्षीराब्धिमन्थनं स्यात् अथ च अमृतभाजो युष्मान् करिष्यामि। दानवाश्चात्र पीयूषपानेन वंचिता भविष्यन्ति। मन्थानं मन्दरं वासुकिं च नेत्रं कृत्वा मत्सहायेन अतन्द्रिता यूयं निर्मथध्वमिति विष्णुरुवाच। अर्णवे मथ्यमाने सति अनाधारः सोऽद्रिः अपोऽविशत्। तत्र भगवान् विष्णुः कूर्मरूपं समास्थाय मन्दरं दध्रे। क्षीराब्धेः मथ्यमानाच्च चतुदर्शरत्नानि अजायन्त। तत एव हालाहलं विषं हरेण कण्ठे धारितम्। तेनाद्यापि नीलकण्ठो भगवान् शिव इति स्तूयते जनैः। ततः अमृतेन पूर्णं कमण्डलुं बिभ्रत् आयुर्वेदप्रवर्तकः धन्वन्तरिः समुत्थितः दैत्याश्च तत्करादमृतं गृहीत्वा सुरेभ्यः अर्धं प्रदाय पातुमुद्यता जाताः। एतच्च विलोक्य विष्णुः मोहिनीरूपमवलम्ब्य असुरान् मुमोह। अपाययच्च अमृतं सुरान्। प्रसंगादिह सूर्यचन्द्रग्रहणस्यापि उल्लेखो जातः। भगवन्तं शिवमपि स्वस्वरूपं दर्शयित्वा अन्तर्हितो भगवान्। देवाश्च स्वर्गलोकं प्रापुः। एवं कूर्मावतारं श्रद्धया यः शृणोति तस्य सर्वत्र विजयो भवति।[20]

कूर्मावतारनिरूपणानन्तरं वराहावतारविषये किञ्चिदुच्यते—

'अवतारं वराहस्य वक्ष्येऽहं पापनाशनम्।
हिरण्याक्षोऽसुरेशोऽभूद्देवाञ्जित्वा दिवि स्थितः॥'[21]

अत्र हिरण्याक्षः कश्चन राक्षस आसीत्। स च देवान् विजित्य स्वर्गं प्राप्तवान्। देवैः स्तुतो विष्णुः वराहरूपेण अद्भुतं दानवं नाश। अनन्तरं च हिरण्याक्षस्य भ्राता जितदेवभाक् हिरण्यकशिपुरपि देवान् पीडयामास। ततश्च विष्णुः नारसिंहवपुर्धृत्वा तं जघान, स्वपदस्थान् सुराँश्चक्रे। इति नृसिंहावतारानिरूपणम्। अथ वामनावतारः संक्षेपेण यथापुराणं प्रस्तूयते।

पूर्वस्मिन् काले बलिप्रभृतिभिरसुरैः जिता देवाः स्वर्गात् परिभ्रष्टाः हरिं शरणं गताः। तत्र भगवान् विष्णुः देवेभ्यः अभयं प्रदाय अदित्या कश्यपेन च स्तुतोऽसौ हरिः वामनो भूत्वा बलेः क्रतुं ययौ। वेदान्पठन्तं वामनं विलोक्य श्रुत्वा च तच्छ्रुतिं शुक्राचार्येण निवारितोऽपि बलिराह यदिच्छसि तत्तेऽहं प्रदास्यामि। तदा वामनः पदत्रयं गुर्वर्थे देहि बलिमब्रवीत्। हस्ते तोये पतिते संकलपकाले वामनः

अवामनः अभूत्। भूर्लोकं भुवर्लोकं स्वर्लोकं च पदत्रयेण ममौ। अन्ते च सुतललोकं बलये ददौ। शक्रोऽपि हरिं स्तुत्वा स्वर्गं ययौ।[22] अत्र श्लोकानामेव भावः प्रस्तुतः तस्मात् श्लोका नैव दत्ता विस्तरभयात्।

वामनावतारं निरूप्य परशुरामावतारं यथापुराणं प्रस्तूयते–

'वक्ष्ये परशुरामस्य चावतारं शृणु द्विज।
उद्धतान्क्षत्रियान्मत्वा भूभारहरणाय सः॥'[23]

परशुरामस्य पिता महर्षिजमदग्निः माता च रेणुका आसीत्। तस्मिन् समये दत्तात्रेय प्रसादेन राजा कार्तवीर्यः सहस्रबाहुः मृगयां गतः। श्रान्तः स च मुनिना जमदग्निना अरण्ये निमन्त्रितः। तत्र कामधेनुं विलोक्य तत्प्रभावं च विचिन्त्य तामयाचत। परञ्च मुनिः स्वीयामसमर्थतांमप्राकटयत् तेन स कामधेनुं हृतवान्। पुनश्च परशुरामः युद्धं कृत्वा धेनुं स्वाश्रमं नीतवान्। कालानन्तरं परशुरामे वनं गते सति कार्तवीर्यपुत्रैः जमदग्निः निपातितः, निहतं पितरं दृष्ट्वा परशुरामः त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं निःक्षत्रामकरोत् अन्ते च कुरुक्षेत्रे पञ्चकुण्डान् कृत्वा पितॄन् सन्तर्प्य कश्यपाय च महीं दत्वा महेन्द्रपर्वतं ययौ। एवमेतेषामवताराणां कथां श्रुत्वा नरो दिवं याति।[24]

परशुरामावतारवर्णनं विधाय रामावतारं वर्णयन् अग्नि आह– **'रामायणमहं वक्ष्ये नारदेनोदितं पुरा'**[25]। वाल्मीकीये यथा तद्वत् पठितं मुक्तिमुक्तिदम्।

पुराणेऽस्मिन् पञ्चमाध्यायत आरम्य एकादशाध्यायपर्यन्तं रामावतारमुद्दिश्य रामायणस्य सारोऽपि संकेतितः। अत्र सप्तकाण्डानि विलसन्ति। यथाऽत्र बालकाण्डतः आरम्य उत्तरकाण्डपर्यन्तं रामचरितं वर्णितं तथैव रामचरितमानसेऽपि श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासैः पुराणानुगुणमेवोपवर्णितम्। तस्मादिह केवलं दिङ्मात्रमेवोपस्थाप्यते, यथा–

'आदौ रामतपोवनादिगमनं हत्वा मृगं काञ्चनम्।
वैदेहीहरणं जटायुमरणं सुग्रीवसम्भाषणम्॥
बालीनिर्दलनं समुद्रतरणं लंकापुरीदाहनम्।
पश्चाद्रावणकुम्भकर्णहननमेतद्धि रामायणम्॥'[26]

विशेषतः उत्तरकाण्डे रामेण अगस्त्यादि समागमः वाल्मीक्याश्रमे सीतायां रामस्य कुशलवपुत्रोत्पत्तिः रामस्य वैकुण्ठगमनम् एतच्छ्रवणफलम्। तद्यथा–

'पुत्रौ कुशलवौ जातौ वाल्मीकेराश्रमे वरौ ।
लोकापवादात्त्यक्तायां ज्ञातो सुचरितश्रवात् ॥
राज्येऽभिषिच्य ब्रह्माहमस्मीति ध्यानतत्परः ।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
राज्यं कृत्वा क्रतून्कृत्वा स्वर्गं देवार्चितो ययौ ॥
वाल्मीकिर्नारदाच्छ्रुत्वा रामायणमकारयत् ।
सविस्तरं यदेतच्च श्रृणुयात्स दिवं व्रजेत् ॥'

रामावतारनिरूपणानन्तरं कृष्णावतारमुपक्रमते— कृष्णबलरामयोरुत्पत्ति-प्रयोजनं प्रतिपादयता पुराणकारेण उक्तं—

'भुवो भारावतारार्थं देवक्यां वसुदेवतः ।
यदोः कुले यादवाश्च वासुदेवस्तदुत्तमः ॥'[27]

अत्र संक्षेपेण कृष्णावतारकथा प्रस्तूयते कृष्णबलरामयोरुत्पत्तिः कृष्णस्य वसुदेवेन सह गोकुलप्रस्थानं कृष्णेन यमलार्जुनमोक्षणं शकटासुरपूतनावधस्य वर्णनम् । कालियमर्दनं गोवर्द्धनोद्धारः अक्रूरस्य रामकृष्णाभ्यां समागमः ।

कुब्जादेहस्य ऋजूकरणं चाणूरमुष्टिकयोर्मल्लयुद्धे संहारः कंसस्य कृष्णेन कृतो वधः। कृष्णो द्वारकां गत्वा नकासुरं संहत्य तदीयषोडशसहस्त्रकन्याः परिजग्राह । भगवान् कृष्णः सन्दीपनगुरवे मृतपुत्रानानीय ददौ, रुक्मिण्यां प्रद्युम्नोत्पत्तिः ततः अनिरुद्धोत्पत्तिः अनिरूद्धस्य बाणासुरेण सह युद्धं, कृष्णस्य स्वभक्तरक्षणार्थं आगतेन शंकरेण सह युद्धं बाणासुरस्य सहस्रभुजानां छेदः, उषासहितस्यानिरुद्धस्य कृष्णादिभिः सह द्वारकायामागमनं, बलरामेण हस्तिनापुराकर्षणं, कृष्णस्य रूक्मिण्यादिषु बहुपुत्रोत्पत्तिः कीर्तनफलं च प्रतिपादितमस्ति ।

'हरिवंशं पठेद्यः स प्राप्तकामो हरिं व्रजेत्'[28]

भगवतः श्रीकृष्णस्यावतारस्य कथा विस्तरेण श्रीमद्भागवते वर्णितास्ति। तच्च नाधिकं वक्तुमीहे विस्तरभयात् ।

कृष्णावतारनिरूपणानन्तरं बुद्धावतारं यथापुराणं प्रस्तौमि ।

'वक्ष्ये बुद्धावतारं च पठतः श्रृण्वतोऽर्थदम्'। इतिफलश्रुतिमुक्तवा कथां वर्णयति—

पुराकाले दैत्यैः पराजिता देवा रक्ष रक्षेति वदन्तः। ईश्वरं जग्मुः। मायामोहस्वरूपः असौ शुद्धौदनसुतः, अभवत्। वैदिकं धर्मं तान् त्याजयित्वा एवं दैत्यान् मोहयामास। अन्ये वेदवर्जिता बौद्धा बभूवुः। एवमेव वेदधर्मादिवर्जिताः संसारे पाखण्डिनो जाताः। कलियुगस्य अन्ते सर्वे वर्णसङ्करा भविष्यन्ति। पार्थिवरूपिणः म्लेच्छाः मानुषान् भक्षयिष्यन्ति। सर्वे च दस्यवः शीलहीनाश्च भविष्यन्ति। एषां समेषां दानवानां विनाशाय, धर्मपरित्राणाय च विष्णुयशः पुत्रो याज्ञवल्क्यपुरोहितः म्लेच्छान्गृहीतास्त्रः कल्किर्भगवान् उत्सादयिष्यति। चातुर्वर्ण्ये च यथोचितां मर्यादां स्थापयिष्यति। स च हरिः कल्किरूपं परित्यज्य स्वर्गं गमिष्यति। ततः पुराकालवत् कृतयुगमागमिष्यति।[29]

एवंप्रकारेण विष्णोर्दशावतारान्यः पठेत् शृणुयाद्वा स च अवाप्तकामः सकुलः स्वर्गमाप्नुयात्। तदित्थमग्निपुराणोपदिष्टदशविधावतारनिरूपणं सहेतुकं मया यथामति प्रस्तुतमिति।

सन्दर्भ :

1. *नानार्थरत्नमाला*, पृ० 77
2. *अथर्ववेद*, 11.7.4
3. *बृहदारण्यकभाष्य*, पृ० 20
4. *महाभारत*, आदिपर्व, 1-267
5. *ऋग्वेद*, 2.12.27
6. *देवीभागवतपुराण*, 1.2.3
7. *मत्स्यपुराण*, 53.28
8. *अग्निपुराण*, 383 -51
9. *श्रीमद्भगवद्गीता*, 4-3-4
10. *श्रीमद्भगवद्गीता*, 10-29-14
11. *श्रीमद्भागवतपुराण*, 3.24.36
12. *श्रीमद्भागवतपुराण*, 3.25.1
13. *श्रीमद्भागवतपुराण*, 5.17.18
14. *पद्मपुराण*, 257.40.41
15. *अग्निपुराण*, 1.12
16. *अग्निपुराण*, 1.13
17. *अग्निपुराण*, 1.18
18. *अग्निपुराण*, 2-1
19. *अग्निपुराण*, 2.10-15

20. *अग्निपुराण*, 3-1-23
21. *अग्निपुराण*, 4.2
22. *अग्निपुराण*, 4.11
23. *अग्निपुराण*, 4.12
24. *अग्निपुराण*, 4.19
25. *अग्निपुराण*, 5.1
26. पूर्वस्मृतिमेतत्
27. *अग्निपुराण*, 12-4
28. *अग्निपुराण*, 12-54
29. *अग्निपुराण*, 16-1-13

अग्निपुराण : शिवतत्त्वविमर्श

प्रवीण कुमार द्विवेदी *

द भारतीय संस्कृति के प्राण कहे जाते हैं। वेद के द्विविध विभाग माने गये हैं– मन्त्र और ब्राह्मण।[1] वेदार्थ के अवबोध के लिए विभिन्न मार्गों में से पुराण भी एक विशेष मार्ग है। वेदार्थ के सम्यक् ज्ञान के लिए ही महर्षियों ने स्मृति, इतिहास तथा पुराण की रचना की है।[2] विशेषतः मन्त्रभाग की व्याख्या स्मृति और ब्राह्मणभाग की व्याख्या इतिहास तथा पुराण करते हैं। *अग्निपुराण* की विशेषता यह है कि संस्कृत-वाङ्मय में उपलभ्यमान शास्त्रों में से अधिकांश शास्त्रों की व्याख्या एवं विश्लेषण करता है।

संस्कृत-वाङ्मय में अनेक दर्शन सम्प्रदायों का विवेचन किया गया है। संस्कृत-वाङ्मय के कुछ प्रमुख विद्वानों को यदि शैव कहा जाय तो सम्भवतः अतिशयोक्ति नहीं होगी क्योंकि महाकवि कालिदास, शङ्कराचार्य तथा अभिनवगुप्त आदि आचार्य इस परम्परा का वर्णन करने में स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करते हैं। पुराणों के रचयिता वेदव्यास ने सभी पुराणों में शिव को यथोचित स्थान दिया है और कई कथाओं का वर्णन शिव और पार्वती के संवाद के रूप में भी प्रस्तुत किये हैं। अग्निपुराण के 383 अध्यायों में शिव का भी वर्णन दृष्टिगोचर होता है। इसके 53वें अध्याय में शिवलिङ्ग आदि के स्वरूप का वर्णन किया गया है। 54वें अध्याय के अन्तर्गत शिवलिङ्ग के प्रमाण आदि तथा उनके व्यक्त एवं अव्यक्त आदि स्वरूप का वर्णन किया गया है। 74वें अध्याय के अन्तर्गत शिवपूजा वर्णन-विधि तथा 75वें अध्याय में शिव के पूजाङ्ग होम-विधि का वर्णन किया गया है। पुनः 97वें अध्याय के अन्तर्गत शिव की प्राण-प्रतिष्ठा विधि का वर्णन किया गया है। 192वें अध्याय में भी

* शोध-छात्र, विशिष्ट संस्कृताध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

शिवरात्रि व्रत का वर्णन किया गया है। 295वें अध्याय में पञ्चाङ्ग रुद्रविधान का वर्णन समुपलब्ध होता है। 321वें अध्याय में पाशुपत शान्ति वर्णन तथा 323वें अध्याय के अन्तर्गत रुद्रशान्ति वर्णन दृष्टिगोचर होता है। इन सब अध्यायों में शिव-सम्बन्धी वर्णन पूर्णरूपेण उपलब्ध होता है जबकि अंशतः वर्णन 50वें अध्याय में (चण्डी आदि देवताओं की मूर्तियों के स्वरूप-निरूपण में), 71वें अध्याय में (गणपति के पूजा विधान में) 110वें अध्याय में (गङ्गा माहात्म्य वर्णन में), 112वें अध्याय में (वाराणसी माहात्म्य वर्णन में) 266वें अध्याय में (माहेश्वर स्नान एवं लक्षकोटि होम वर्णन) तथा 325वें अध्याय में (गौरी आदि के पूजन वर्णन में) समुपलब्ध होता है। एतदतिरिक्त भी शिव का वर्णन प्रसङ्गानुसार अन्य कथाओं या वर्णन में भी प्राप्त होता है ।

अग्निपुराण में सृष्टि के स्वयंभू के सगुण रूप का वर्णन ही प्रमुखतया दृष्टिगोचर होता है। इसके अन्तर्गत द्विविध लिङ्ग का वर्णन किया गया है– 1. साधारण लिङ्ग तथा 2. शिवलिङ्ग। साधारण शिवलिङ्ग के निर्माण के लिए चौकोर (चतुरस्र) प्रस्तर की लम्बाई को दो भागों में विभक्त करके पुनः आधे भाग को आठ भागों में विभक्त करके उसके तीन भाग को छोड़कर शेष पाँच भागों में चौकोर विष्कम्भ बनाएँ एवं उसकी चौड़ाई को छह भागों में विभक्त करके एक भाग, दो भाग तथा तीन भाग क्रम से विभक्त करें। इसमें प्रथम भाग ब्रह्मा का द्वितीय भाग विष्णु का तथा तीसरा भाग शिव का होता है। इसे ही वर्द्धमान कहते हैं।[3] जिस लिङ्ग की लम्बाई और चौड़ाई एक समान तीन भागों में विभक्त हो, उसे विभासम लिङ्ग कहते हैं। वह उपासकों की सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति करनेवाला होता है।[4] लिङ्ग के स्वरूप वर्णन के क्रम में *अग्निपुराण* के अन्तर्गत कहा गया है कि विद्वान् पुरुष को चाहिए कि वह सोलह अंगुल के लिङ्ग को छह भागों में इस तरह विभक्त करे कि उसका मध्य सूत्र ब्रह्म भाग एवं रुद्र भाग के मध्य से जाय। पिण्डिका के निर्माण होने के साथ इसको साधारण लिङ्ग कहा जाता है।

द्वितीय प्रकार के शिवलिङ्ग को बुद्धिवर्द्धक लवणजन्य तथा घृतजन्य कहा गया है। तत्काल वस्त्र से निर्मित शिवलिङ्ग समृद्धिकारक होता है। मिट्टी का बनाया हुआ लिङ्ग दो प्रकार का होता है– पक्व तथा अपक्व। अपक्व की अपेक्षा पक्व लिङ्ग श्रेष्ठ होता है। उससे भी श्रेष्ठ लकड़ी का तथा उससे भी श्रेष्ठ लिङ्ग पत्थर का होता है। चाँदी, ताम्बा तथा पीतल का बना हुआ शिवलिङ्ग भोग तथा मोक्ष प्रदान करनेवाला होता है। पारद से निर्मित लिङ्ग के आभ्यन्तर में पारद और लोहा आदि

(ताम्बा, रजत एवं सुवर्ण आदि) करके बनवाना चाहिए। सिद्ध पुरुषों के द्वारा स्थापित अथवा स्वयं उत्पन्न शिवलिङ्ग के विषय में प्रमाण आदि का कोई बन्धन नहीं है।[5] बाण शिवलिङ्ग (नर्मदेश्वर) के सन्दर्भ में भी यह तथ्य अवलोकित होता है। उनके पीठ तथा प्रासाद की कल्पना अपनी इच्छानुसार कर लेना चाहिए। सूर्य बिम्ब में प्रतिष्ठित शिवलिङ्ग की पूजा दर्पण में प्रतिबिम्बित रूप से करनी चाहिए।[6] शिव तो सर्वत्र पूज्य हैं किन्तु शिवलिङ्ग में उनकी पूजा पूर्ण होती है–

'पूज्यो हरस्तु सर्वत्र लिङ्गे पूर्णार्चनं भवेत्'[7]

पत्थर तथा लकड़ी के बने शिवलिङ्ग को एक हाथ ऊँचा होना चाहिए। चल शिवलिङ्ग को अङ्गुल के मान से निर्माण करना चाहिए तथा स्थिर शिवलिङ्ग के द्वार तथा गर्भगृह को हाथ के मान से निर्मित करना चाहिए। गृह में स्थापित शिवलिङ्ग की ऊँचाई एक अङ्गल से लेकर पन्द्रह अङ्गुलपर्यंत होनी चाहिए। श्रेष्ठ प्रमाण द्वारमान के अनुसार लिङ्ग तीन प्रकार के होते हैं और गर्भमान के अनुसार उन प्रत्येक के नव-नव भेद होते हैं। इस तरह लिङ्गों के सत्ताईस भेद होते हैं, पुनः गर्भमान के शुद्ध नव भेदों को मिलाकर लिङ्ग भेदों की संख्या छत्तीस हो जाती है। इन्हीं लिङ्गों की गृह में पूजा करनी चाहिए। मध्यमान के अनुसार भी लिङ्गों के (36) छत्तीस तथा अधममान के अनुसार भी लिङ्गों के छत्तीस भेद होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर लिङ्ग के भेदों की संख्या 108 हो जाती है।[8] एक अङ्गुल से लेकर पाँच अङ्गुलपर्यंत लम्बे चल शिवलिङ्ग अधम कोटि के होते हैं। छह अङ्गुल से दस अङ्गुलपर्यंत लम्बे चल शिवलिङ्ग मध्यम कोटि के होते हैं। ग्यारह अङ्गुल से पन्द्रह अङ्गुलपर्यंत लम्बे चल शिवलिङ्ग उत्तम कोटि के होते हैं–

'एकाङ्गुलादिपञ्चान्तं कनिष्ठं चलमुच्यते ।
षडादिदशपर्यन्तं चललिङ्गं च मध्यमम् ।
एकादशाङ्गुलादि स्याज्ज्येष्ठं पञ्चदशान्तिकम् ॥'[9]

शिवलिङ्ग के अङ्गुल परिमाण को निम्नलिखित तालिका से सरलतया अवबोध किया जा सकता है–

उत्तम शिवलिङ्ग एकादश से पञ्चदश अङ्गुलपर्यंत
मधयम शिवलिङ्ग छह से दस अङ्गुलपर्यंत
अधाम शिवलिङ्ग एक से पाँच अङ्गुलपर्यंत

महारत्नों से बने शिवलिङ्गों को छह अङ्गुल, अन्य रत्नों से बने शिवलिङ्गों

को नव अङ्गुल का, हेमसार (सुवर्णभार) से बने शिवलिङ्ग को बारह अङ्गुल का तथा उससे भिन्न वस्तुओं से बने शिवलिङ्ग को पन्द्रह अङ्गुल का होना चाहिए। इसको निम्नलिखित तालिका से सरलतया अवबोध किया जा सकता है—

महारत्न से निर्मित शिवलिङ्ग	**छह अङ्गुल**
अन्य रत्नों से निर्मित शिवलिङ्ग	**नव अङ्गुल**
हेमसारद्धसुवर्णभारक्ष से निर्मित शिवलिङ्ग	**द्वादश अङ्गुल**
तद्भिन्न वस्तुओं से निर्मित शिवलिङ्ग	**पञ्चदश अङ्गुल**

बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह लिङ्गों को छह तथा अष्टोत्तरशत भागों में विभक्त करे—

'लिङ्गानि घटयेद्धीमान्षट्सु चाष्टोत्तरेषु च' [10]

शैवदर्शन के अन्तर्गत वीरशैव दर्शन में लिङ्ग को स्थल कहा जाता है और उस स्थल को परमशिव की संज्ञा प्रदान की जाती है। स्थल के षड् विभाग करके उसे षड्स्थल कहा जाता है और उस षड्स्थल के भेद प्रभेद मिलाकर अष्टशतोत्तर (108) होते हैं। इस प्रकार लिङ्ग (स्थल) के कुल 108 भेद होते हैं।[11] इस सिद्धान्त का ग्रहण *अग्निपुराण* से सम्बन्धित है या नहीं, इस विषय पर पर्याप्त शोध की अपेक्षा है। वीर शैव दर्शन के षड्-स्थल तथा अष्टशतोत्तर स्थल का विस्तार *सिद्धान्तशिखामणि* ग्रन्थ में देखा जा सकता है।

स्थिर तथा दीर्घ प्रमाणों के द्वारा तीन मान होते हैं। इन्हीं मानों के आधार पर इन लिङ्गों के तीन नाम हैं— भागेश, जलेश तथा देवेश। विश्वकर्मा के अनुसार भी शिवलिङ्ग के बहुत से भेद पाए जाते हैं।[12] ये परिमाण उन साधकों के लिए हैं जो उन्हें (शिव को) स्थूल रूप में देखते हैं। शिव का तीव्र शक्तिपात यदि हो तो किसी स्थूल वस्तु या परिमाण की आवश्यकता नहीं रह जाती है। अतः किसी भी रूप में शिव की भावना को *अग्निपुराण* ने उत्तम माना है।

शिव के स्वरूप का वर्णन कहते हुए कहा गया है कि वृष (बैल) पर सवार शङ्कर मातृकाओं के आगे रहते हैं।[13] *अग्निपुराण* के 74वें अध्याय के अन्तर्गत शिव-पूजा-विधि का कथन किया गया है। तदनुसार आचमन करके प्रणव के द्वारा अर्घ्य तथा शिव के साथ उनके द्वारपालों का भी पूजन करें। साथ ही उदुम्बर (गूलर) की शाखा के ऊपर गणेश, सरस्वती तथा लक्ष्मी का भी पूजन करना चाहिए। साथ ही

नन्दी, गंगा, महाकाल तथा यमुना की भी पूजा करनी चाहिए। अङ्गन्यास के साथ त्रिविध प्राणायाम (रेचक, पूरक तथा कुम्भक), विन्यास और ध्यान भी करना चाहिए। सकलीकरण करते हुए हृदयकमल के ऊपर भावपुष्पों के द्वारा शिव का आपादमस्तक पूजन करना चाहिए। होम तथा तर्पण भी करना चाहिए। षडङ्गन्यास तथा अष्टाङ्ग अर्घ्य तथा धेनु मुद्रा भी प्रदर्शित करनी चाहिए। धीर पुरुष को सदा स्नान, देवार्चन, होम, भोजन, याग, योग तथा आवश्यक जप के समय मौन रहना चाहिए–

'स्नाने देवार्चने होमे भोजने यागयोगयोः ।
आवश्यके जपे धीरः सदा वाचं यमो भवेत् ॥'[14]

सिंहासन के ऊपर शुक्ल वर्णवाले पञ्चमुख शिव की स्थापना करनी चाहिए जो बत्तीस लक्षणों से युक्त हैं। आवहनी मुद्रा, कलाकान्ति मुद्रा, मुष्टि मुद्रा तथा लिङ्ग मुद्रा भी शिव को प्रसन्न करने के लिए प्रदर्शित करनी चाहिए। शिव के सिर पर न तो हाथ घुमाएँ और न तो उनके सिर को पुष्प से खाली रखें–

'निर्माल्यर्ध्यं प्रदद्याच्च नोपरि भ्रामयेत्करम् ।
न शून्यमस्तकं लिङ्गं पुष्पैः कुर्यात्ततो ददेत् ॥'[15]

दशांश अर्घ्य, स्तुति, प्रदक्षिणा करके भगवान् शिव को साष्टाङ्ग प्रणाम करना चाहिए। तदनन्तर 75वें अध्याय में शिव पूजा के उपरान्त होम का भी वर्णन अग्निपुराण के अन्तर्गत किया गया है। इस पुराण के अन्तर्गत शिव को पूज्य मानते हुए उनके सगुण रूप का यथावत् वर्णन किया गया है। यह भी प्रदर्शित किया गया है कि शिव मात्र के पूजन से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का पूजन हो जाता है। एतदर्थ शिव पूजन-विधान के अन्तर्गत सृष्टि के अन्य देवताओं का भी पूजन-विधान किया गया है।

पूजा सगुण रूप की ही होती है और यह सर्वविदित है कि पूजा करनेवाले व्यक्ति का मन सदैव प्रसन्न रहता है। मन उद्विग्न नहीं होता है अतः किसी भी देव की भावना करके पूजा करनी चाहिए। शिव की पूजा सरलतया हो जाती है अतः शिव की पूजा का अधिकार स्त्री, शूद्र तथा अन्त्यज आदि सभी वर्णों को है।[16] जिस सत्ता को आशुतोष, महादेव तथा भूतभावन आदि अभिधानों से अलङ्कृत किया गया हो, वह सत्ता निश्चय ही इहलौकिक और पारलौकिक द्विविध फलों की प्राप्ति शीघ्रतया तथा सरलतया करा सकती है क्योंकि एक ओर तो यह परमशिव अखण्ड, अरूप,

अक्रम तथा अभेद हैं तो वही दूसरी ओर सखण्ड, सरूप, सक्रम तथा सभेद भी हैं।

सन्दर्भ :

1. **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** —*अग्निपुराण*, प्रस्तावना, पृ० 1
2. **'वेदार्थो निश्चेतव्यः स्मृतीतिहासपुराणैः'** —*वही*
3. *वही*, 53.1-3, पृ० 109
4. *वही*, 53.7, पृ० 110
5. *वही*, 54.1-5, पृ० 111
6. *वही*, 54.6, पृ० 111
7. *वही*, 54.7, पृ० 111
8. *वही*, 54.8-11, पृ० 111-112
9. *वही*, 54.11-12, पृ० 112
10. *वही*, 54.20, पृ० 112
11. *सिद्धान्तशिखामणि*, प्रस्तावना, पृ० 11
12. *अग्निपुराण*, 54.20-21 और 28 पृ० 112-113
13. *वही*, 50.17, पृ० 112
14. *वही*, 74.39, पृ० 154
15. *वही*, 74.68, पृ० 155
16. *नित्यकर्मपूजाप्रकाश*, पृ० 273

अग्निपुराण : वृक्षायुर्वेद

डॉ० महानन्द झा *

भारतवर्ष में प्रचलित सभी विद्याओं का आधार-ग्रन्थ पुराण हैं। पुराणों के अंतर्गत न केवल धर्मशास्त्रीय विषय तथा उदात्त कथाएँ प्राप्त होती हैं; न केवल सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित का विनिवेश है, अपितु उनमें व्याकरण, काव्य, निरुक्त, ज्योतिष, वास्तुशास्त्र तथा आयुर्वेदादि विविध विषय उपलब्ध होते हैं। आयुर्वेद अपने आपमें विषय की गम्भीरता का आधान करता है जिसके अंतर्गत वृक्षायुर्वेद सन्निहित है। प्रकृत शोध-लेख 'अग्निपुराण : वृक्षायुर्वेद' *अग्निपुराण* में वर्णित आयुर्वेद का अंशभूत है।

हमारा देश एक कृषिप्रधान देश है। वनस्पतियों की उत्पत्ति, संरक्षण तथा विकास में वृक्षायुर्वेद की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। प्रकृति के द्वारा ही प्राणी मात्र जीवन धारण करते हैं। प्रकृतिभूत वृक्षों के द्वारा ही जीवनदायिनी वायु का सञ्चरण होता है। जीवनदायिनी वायु के अभाव में प्राणधारी जीव का सुरक्षित रहना कठिन है। वायु प्राण है, उसी के शरीर में आवागमन से व्यक्ति जीवित रहता है। इस प्रकार वृक्षों, वनस्पतियों की आवश्यकता वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। भगवान् धन्वन्तरि ने वृक्षों के आरोग्य के लिए उनकी चिकित्सा-विधि भी बतलाई है। भैषज्यविज्ञान में प्राकृतिक वनस्पतियों, वृक्षों, लताओं में होनेवाले रोगों के निदान वर्णित हैं।

वृक्षायुर्वेद की चिकित्सा-विद्या भारतवर्ष की प्राचीनतम विद्या है। *ऋग्वेद* में वनस्पतिविज्ञान के उल्लेख होने से इसकी प्राचीनता असन्दिग्ध है। *ऋग्वेद* का मन्त्र है—

* सहायक आचार्य, श्रीलालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नयी दिल्ली

'या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ।
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ॥'[1]

ये ओषधियाँ मानव की रक्षा माता के समान करती हैं।[2] यज्ञक्रिया-संपादन, के साथ ही स्वास्थ्य-रक्षा में भी इन वनस्पतियों का भरपूर उपयोग होता है। *भामिनीविलास*[3] में वनस्पतियों के महत्त्व को बताते हुए कहा गया है कि **'ये वृक्षाः पत्रपुष्पफलादीनां भारं वहन्तो धर्मव्यथां शीतबाधां च सहन्ते तथा चान्येषां प्राणिनां सुखाय स्वशरीरमर्पयन्ति, वदान्यगुरवे तस्मै तरवे नमः ।'** यही उदात्त भावना वैदिक ऋषि भी वेदमंत्रों द्वारा व्यक्त करते हैं।

यजुर्वेद के *वाजयनेयीसंहिता*[4] तथा *चरकसंहिता*[5] में वनस्पतियों के चार भेद बतलाए गए हैं। जो वृक्ष पुष्प के बाद फल प्रदान करते हैं, उसे 'वानस्पत्य' कहते हैं, जैसे– आम का वृक्ष। जो वृक्ष पुष्प दिए बिना ही फल देता है, उसे 'वनस्पति' कहा गया है, जैसे– गूलर का वृक्ष। किसी के मत में वनस्पति तथा वानस्पत्य– दोनों ही वृक्षमात्र के बोधक हैं। फल पाक के अनन्तर जिसका नाश हो जाए, उसे 'ओषधि' कहा जाता है, जैसे– मूंग, उड़द आदि। लता आदि अंकुर से उत्पन्न होनेवाले 'वीरुध' कहलाते हैं, जैसे– मालती आदि।[6] ये वनस्पतियाँ माता की तरह जीवनमात्र का पोषण तथा संवर्धन करती हैं।

महर्षि सुश्रुत के मतानुसार वृक्षादि स्थावर के भीतर ही अंतर्भूत हैं।[7] *अथर्ववेद* का उपवेद है आयुर्वेद। *अथर्ववेद* में अनेकानेक वनस्पतियों का उल्लेख प्राप्त होता है। वहाँ लिखा है– **'यत्राश्वत्था न्यग्रोधा सपत्रा तिष्ठन्ति, यत्र चार्जुनादयो वृक्षा अजाश्रृङ्ग्यादयो वनस्पतयश्च भवन्ति, तत्र विषजन्तवो न तिष्ठन्ति ।'**[8] *सुश्रुतसंहिता* में भी **'जलदुर्गन्धनिरोधकनागचम्पकोत्पलप्रभृतीनां प्रसादनं कर्त्तव्यम्'**[9]– इस प्रकार के वाक्य उपलब्ध होते हैं। *अथर्ववेद* के अनुसार ये वृक्ष वन्य कहलाते हैं, इनके पत्तों से जल स्वच्छ होता है तथा जलीय रोग कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। इस वेद में चार प्रकार की चिकित्सा बतलाई गई है– आथर्वणी, आंगिरस, दैवी तथा मानुषी। मानुषी चिकित्सा वनस्पति से सम्बद्ध होती है। वनस्पतियों के गुणावगुण का ज्ञान पशु, पक्षी तथा सर्पादि के द्वारा होता है।[10] पशु-पक्षियों के स्वभाव से वनस्पति-विषयक ज्ञान होता है।

सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य का आदिकाव्य *श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण* है। इस काव्य में भी अशोक, कुटज, अर्जुन, कदम्ब-प्रभृति वृक्षों का समुल्लेख प्राप्त होता है।

वहाँ अनेक औषधीय पर्वतों का उल्लेख है। इन पर्वतों पर अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ भी उपलब्ध होती हैं जो आयुर्वेद की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। *महाभारत* में तक्षक नामक सर्प के विषाघात से जले हुए वृक्ष को कश्यप ने पुनरुज्जीवन प्रदान किया था, ऐसी कथा मिलती है।[11]

अग्निपुराण में वृक्षायुर्वेद की चर्चा विस्तृत रूप में उपलब्ध होती है। वहाँ लता, गुल्म, वीरुधादि की चर्चा की गई है। घर की किस दिशा में कौन-सा वृक्ष फलदायक होता है तथा कौन अशुभकारक होता है, उसकी विवेचना की गई है। गृह के पूर्वभाग में वटवृक्ष, पश्चिम में पीपल का वृक्ष, उत्तर दिशा में प्लक्ष तथा दक्षिण में आम का वृक्ष शुभ फलप्रद तथा आरोग्यकारक होता है।[12]

बृहत्संहिता का वचन है—

'उपगृहं दक्षिणां दिशमुत्पन्नाः ।'

कण्टकद्रुमाः रिपुभयदाः क्षीरिणो वृक्षा अर्थहराः[13] प्रोक्ताः ॥

आवास स्थान के समीप उद्यान की व्यवस्था स्वास्थ्यवर्धक, आयुवर्धक, बलवर्धक होती है।

अग्निपुराण में वृक्ष, वनस्पतियों के रोपण की विधि वर्णित है। इस विधि के अंतर्गत कौन-सी वनस्पति किस काल में रोपी जानी चाहिए, इसका भी संकेत मिलता है। ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से भी आयुर्वेदीय ओषधि की रोपण-विधि का उल्लेख प्राप्त होता है। किसी भी वृक्ष के रोपण से पूर्व उस भूमि की उर्वरता तथा कीटाणु नाश करने के लिए रासायनिक द्रव्य के प्रक्षेपण-विधि भी वहाँ वर्णित है। वृक्षारोपण से पूर्व चन्द्रपूजन का विधान है, क्योंकि चन्द्रमा में शीतलता, अमृततत्त्व की प्रबलता होती है जिससे वृक्ष में भी उस गुण का संक्रमण होता है। वृक्षारोपण के लिए स्वाति, हस्त, रोहिणी, श्रवण एवं मूल नक्षत्र प्रशस्त माने जाते हैं। *अग्निपुराण* के अनुसार दो वृक्षों के मध्य की दूरी बीस हाथ हो तो उत्तम, सोलह हाथ की दूरी मध्यम तथा बारह हाथ की दूरी अधम मानी जाती है।[14] सघन वृक्ष उतने प्रशस्त नहीं माने जाते। मध्य की दूरी बढ़ाने के लिए वृक्षों के अंग विशेष का छेदन कर देना चाहिए।

अग्निपुराण में वनस्पति के सेचन की विधि भी वर्णित है।[15] अशोक, कदली, जामुन, अनार-प्रभृति वृक्षों को ग्रीष्म ऋतु में प्रातःकाल तथा सायंकाल सींचना चाहिए। शरद ऋतु में सायंकाल सींचना चाहिए। किन्तु वर्षा ऋतु में शुष्क

भूमि में आरोपित वृक्ष के सिंचन का विधान है।

इस पुराण में वृक्षौषधि में वृद्धि करने का भी विधान प्राप्त होता है। वृक्षारोपण से पूर्व रासायनिक द्रव्य-प्रक्षेपण का वर्णन आया है। समय-समय पर लता, वृक्षादि की जड़ के पास की घास आदि को निकालना चाहिए। उसे विविध कीट, पतंगादि से रक्षा के उपाय का भी इस पुराण में वर्णन मिलता है। यदि वनस्पति, ओषधि की वृद्धि में अवरोध हो तो विशेष प्रकार के जल से सेचन का विधान भी अग्निपुराण में मिलता है।

'मत्स्याम्भसा तु सेकेन वृद्धिर्भवति शाखिनः'[16]

अग्निपुराण के वृक्षायुर्वेद-प्रकरण में वृक्ष के दोहद-विधि का वर्णन मिलता है। नर-प्रकृति तथा मातृ-प्रकृतिवाले वृक्षों में भिन्नता होती है।

सामान्य रूप से सभी वृक्षों के लिए दोहद काल का निर्धारण किया गया है। आम के वृक्ष का दोहद काल पाँचवें वर्ष में, महुआ के वृक्ष का पच्चीसवें वर्ष में तथा इमली का तीस वर्ष में दोहद काल होता है। एतावता वृक्ष, वनस्पतियों में भी जीवन की स्थिति सिद्ध होती है। वृक्षादिक भी मुनष्य की तरह सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। आधुनिक तथा पाश्चात्य वैज्ञानिक वृक्ष में जीवन की स्थिति को अपना नवीन आविष्कार मानते हैं किन्तु हज़ारों वर्ष पूर्व उदयनाचार्य ने अपनी युक्ति से वृक्ष का शरीर तथा उसमें सजीवता को प्रदर्शित किया है।[17] उनके द्वारा प्रदर्शित युक्ति है– **'वृक्षादयः प्रतिनितभोक्त्रधिष्ठिता जीवनमरणस्वप्नजागरणरोग भेषजप्रयोगसजातीयानुबन्धानुकूलोपगमप्रतिकूलापगमादिभ्यः प्रसिद्धशरीरवत्।'**[18] वृक्ष में यह देखा जाता है कि शाखा को काट देने पर भी उसमें पुनः पल्लव आदि निकल जाते हैं तथा कटी हुई शाखा सूख जाती है। इस प्रकार भग्नक्षत संरोहणादि के द्वारा भी वृक्ष में जीवन का अनुमान किया जाता है।[19]

छान्दोग्योपनिषद् में भी वृक्षों के सजीत्व प्रतिपादन करनेवाले वाक्य मिलते हैं– **'अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्, यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेत्, योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेत्, स एव जीवेनात्मनाऽनुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति।'**[20]

शक्तिग्रह प्रकरण में मुक्तावली में भी वनस्पतियों की सजीवता का वर्णन मिलता है–

'वसन्ते सर्वशस्यानां जायते पत्रशातनम् ।
मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः ॥'[21]

महाभारत के शान्तिपर्व में शीत, वर्षा, धूप आदि में वृक्ष के सुख-दुःखानुभूति की चर्चा मिलती है। मनुष्य की तरह वृक्ष भी इन्द्रियसुख का अनुभव करता है, सुनता है, देखता है तथा रस ग्रहण करता है।[22] वृक्ष भी रोगग्रस्त होते हैं, ओषधि का सेवन करते हैं।

भारत के एक महान् वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र बोस (1858-1937) का कथन है कि दुनिया के समक्ष मैंने वही सिद्धान्त स्थापित किया है जिसे मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने हज़ारों वर्ष पूर्व खोजा था। उदयनाचार्य ने भी वृक्ष के जीवन, मरण, रुग्णता तथा उपचार के संबंध में अपना मत प्रकट किया है।

अग्निपुराण में आयुर्वेद-संबंधी वृक्षों के रोपण, रक्षण, संवर्धन के साथ ही उनके होनेवाले रोग, लक्षण, निदान आदि का चिन्तन वृक्षायुर्वेद प्रकरण में किया गया है। इस प्रकरण में यथोचित अध्ययन से आधुनिक कृषिविज्ञान भी उपकृत हो सकेगा। समग्र *अग्निपुराण* में वृक्षायुर्वेद प्रकरण का सर्वोत्कृष्ट स्थान है।

सन्दर्भ :

1. *ऋग्वेद*, 10.97.1
2. **'ओषधीरिति मातरो तद्वो देवीरूपं ब्रुवे'** —*वही*, 10.90.4
3. **'धत्ते भरं कुसुमपत्रफलावलीनां धर्मव्यथां वहति शीतभवारुजश्च ।**
   यो देहमर्पयति चान्यसुखस्य हेतोस्तस्मै वदान्यगुरवे तरवे नमोऽस्तु ॥'
4. *यजुर्वेद*, 12.75, 79, 89, 95
5. **'वनस्पतिस्तथावीरुद्वानस्पत्यस्तथौषधिः'** —*चरकसंहिता*, सूत्रस्थान, 1.70
6. **'फलैर्वनस्पतिः पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि ।**
   औषधयः फलपाकान्ताः प्रतानैर्वीरुधाः स्मृताः ॥' —वही, 1.71-72
7. *सुश्रुतसंहिता*, सूत्रस्थान, 1.29
8. *अथर्ववेद*, 4.37.4-6
9. **'प्रसादनं च कर्त्तव्यं नागचम्पकोत्पलपाटलापुष्पप्रभृतिभिश्चाधिवासनमिति'**
   —*सुश्रुतसंहिता*, 45.12
10. *अथर्ववेद*, 8.7.23-25
11. **'यद्वृक्षं जीवयामास काश्यपस्तक्षकेण वै'**
12. **'दक्षिणां दिशमुत्पन्नाः समीपे कण्टकद्रुमाः ।**

वृक्षायुर्वेदमाख्यास्ये प्लक्षश्चोत्तरतः शुभः ॥' —*अग्निपुराण*, 282-2-3

13. 'आसन्नाः कण्टकिनो रिपुभयदाः क्षीरिणोऽर्थनाशाय ।'—*बृहत्संहिता*, 52.84

14. 'उत्तमं विंशतिर्हस्ताः मध्यमं षोडशान्तरम् ।
स्थानात् स्थानान्तरं कार्यं वृक्षाणां द्वादशावरम् ॥' —*अग्निपुराण*, 282.8-9

15. 'अशोकः कदलीजम्बूस्तथा ब्रकुलदाडिमाः ।
सायं प्रातस्तु धार्मतौं शीतकाले दिनान्तरे ॥' —*वही*, 282.6-7

16. *वही*, 282.12

17. *किरणावली*, पृ० 57-58

18. *वही*

19. 'वृक्षादेः शरीरत्वे किं मानम्? आध्यात्मिकवायुसम्बन्धः प्रमाणम् । तैत्रव किं मानमिति चेत् ? भग्नक्षतसंरोहणादिना तदुन्नयनात् । —*मुक्तावली*, पृथिवीनिरूपण

20. *छान्दोग्योपनिषद्*, 6.11.1

21. *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली*, शक्तिग्रहोपायप्रकरण

22. 'श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः ।
आरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः ।
व्याधिप्रतिक्रियात्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे ॥' —*महाभारत*, शान्तिपर्व

अग्निपुराण : आयुर्वेद

चन्दा कुमारी *

भारतीय-धर्म का मूल वेद है और वेद के अति कठिन विषय को जनसाधारण तक पहुँचाने का श्रेय पुराण को ही प्राप्त है। अतः कहा जाता है कि पुराणों का कथोपकथन उतना ही प्राचीन है जितना वैदिक ऋचाओं का संकलन और वंशानुवंश संरक्षण। *शतपथब्राह्मण* के अनुसार चारों वेद, इतिहासपुराण– ये सब महान् परमात्मा के ही निःश्वास हैं। जो पुरातन आख्यान ऋषियों की स्मृति में सुरक्षित थे और जो वंशानुवंश ऋषिकण्ठों से कीर्तित थे उन्हीं का संकलन और विभागीकरण भगवान् वेदव्यास द्वारा हुआ। उन्हीं आख्यायिकाओं को व्यवस्थित करके प्रकाश में लाने का श्रेय भगवान् वेदव्यास को है, इसी कारण वे पुराणों के प्रणेता कहलाये।

पौराणिक साहित्य अक्षय ज्ञान का भण्डार है जिसमें ज्ञान, विज्ञान, लोक-व्यवहार, समाज और संस्कृति के सभी पक्षों का सांगोपांग विवेचन है। पुराण शब्द का मूल अर्थ है– प्राचीन अर्थात् जो पुरातन अर्थ कर वाचक है, वह पुराण है। *देवीभागवतपुराण* के एक श्लोक में आद्यक्षर के निर्देश से अष्टादश पुराणों का नामोल्लेख किया गया है–

'मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम् ।
अनापल्लिंगकूस्कानि पुराणानि पृथक् पृथक् ॥'[1]

पुराणों के पाँच लक्षण बताए गए हैं–

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।

---

* शोध छात्रा, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥'[2]

पुराणों के पाँचों लक्षण तो *अग्निपुराण* में मिलते ही हैं साथ ही साथ मानव के लौकिक, पारलौकिक, और पारमार्थिक हित के अनेक और भी महत्त्वपूर्ण विषयों का ज्ञान भी हमें इसमें मिलता है। उल्लेखनीय है कि प्राचीन काल में न तो मुद्रण की प्रथा थी और न ग्रन्थ ही सहज सुलभ होते थे। ऐसी परिस्थितियों में अनेक विषयों का ज्ञान एक ही जगह प्राप्त हो जाना एक आश्चर्य की बात है जो हमें *अग्निपुराण* में प्राप्त होता है और इसी कारण से यह पुराण अति जनप्रिय और विद्वानों द्वारा समादृत रहा है। यह पुराण समस्त विद्याओं का संग्रह प्रस्तुत करता है इस पुराण में तत्तत्शास्त्रविषयक प्रौढ़ ग्रन्थों की सामग्री का संकलन है जिस कारण कहा गया है–

'आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वाः विद्याः प्रदर्शिताः'

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि *अग्निपुराण* विविध ज्ञानों का भण्डार है तो इसमें हमें आयुर्वेद का भी ज्ञान प्राप्त होता है। यह आयुर्वेद न केवल मानव मात्र के रोग का निवारण करता है अपितु इसमें अश्व, गौ, वृक्ष, गज आदि की चिकित्सा का वर्णन भी प्राप्त होता है। यह एक अनादि जीवनशास्त्र है, जिसमें धर्मार्थकाममोक्ष– इस चतुर्विध पुरुषार्थ के मूल साधनभूत आरोग्य का प्रतिपादन किया गया है। आयुर्वेद में प्रतिपादित सिद्धान्त इतने व्यापक एवं सर्वसाधारण के लिए इतने हितकारी हैं कि उन्हें अमल में लाकर शीघ्रतापूर्वक ही आरोग्य लाभ किया जा सकता है। अतः शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक स्वास्थ्य की दृष्टि से आयुर्वेद की उपयोगिता सुविदित है। यह केवल एक चिकित्साशास्त्र ही नहीं अपितु भौतिक से लेकर आध्यात्मिक तत्त्वों के विवेचन में भी अपनी मौलिक विशेषता रखता है। आयुर्वेद के आठ अंग हैं जो इस प्रकार हैं–

1. **काय-चिकित्सा**– सर्वांग में रहनेवाले ज्वरादि रोगों की चिकित्सा।
2. **शालाक्य**– ग्रीवा से ऊपर होनेवाले रोगों की चिकित्सा।
3. **शल्य चिकित्सा**– शल्य से संबंधित चिकित्सा।
4. **विषगर वैरोधिक प्रशमन**– विष-चिकित्सा।
5. **भूतविद्या**– भूत-प्रेत, ग्रहादि की शान्ति हेतु चिकित्सा।
6. **कौमारभृत्य**– गर्भविज्ञान तथा बाल-चिकित्सा।
7. **रसायन**– आयु, मेधा, बल, बुद्धि आदि के रोग।
8. **वाजीकरण**– वीर्य आदि से संबंधित रोगों की चिकित्सा।

अग्निपुराण के 279-293वें अध्यायों में आयुर्वेद का वर्णन प्राप्त होता है। यहाँ हमें विविध प्रकार के रोगों और उनके लिए प्रयोग की जानेवाली ओषधियों का वर्णन प्राप्त होता है।

ओषधियों के प्रकार– *अग्निपुराण* में ओषधियों के पाँच प्रकार बताए गए हैं–

'औषधिनां पञ्चविधा तथा भवति कल्पना।
रसः कल्कः शीतः फाण्टश्च मनुजोत्तमः॥'[3]

अर्थात् रस, कल्क, शीत, क्वाथ एवं फाण्ट– ये पाँच प्रकार की ओषधियाँ हैं।

1. रस– जो पीड़क होता है, उसे रस समझना चाहिए।[4] अर्थात् ओषधियों को दबाने से जो तरल पदार्थ निकलता है उसे रस कहते हैं।

शारंगधरसंहिता के अनुसार ऐसी वनौषधि जो कृमि, धूल आदि से खराब न हुई हो एवं रस निकालने से कुछ देर पूर्व ही उखाड़कर लाई गई हो ऐसी ओषधि को शिला या खरल में पीसकर कपड़े के द्वारा निचोड़ने से जो रस प्राप्त होता है उसे रस कहते हैं।[5]

2. कल्क– आलोडन करने से कल्क की रचना होती है।[6] अर्थात् जो द्रव्य चटनी की भाँति पीसकर निकला है उसे कल्क कहते हैं।

3. शीत– जिस द्रव्य को सायंकाल में भिगोकर रख दें और उसे प्रातः मसलकर छान लें। उससे जो जल शेष रह जाता है, उसे शीत कहते हैं।[7]

4. क्वाथ- ओषधि को क्वथित कर जो काढ़ा बनाया जाए उसे क्वाथ कहते हैं। *शारंगधरसंहिता* में वर्णित है कि किसी भी वानस्पतिक या प्राणिज द्रव्यों के छोटे-छोटे टुकड़े बनाकर उन्हें लौह या मृतिका पात्र में चार गुने जल के साथ मृदु अग्नि पर रखकर उबाला जाए और अंत में चतुर्थांश जलशेष रखकर जब छान लिया जाता है तो इसे क्वाथ कहते हैं।[8]

5. फाण्ट– जब ओषधि को खौलते पानी में उबाल कर तुरन्त छान लेते हैं तो उसे फाण्ट कहते हैं।[9]

विविध प्रकार के रोग एवं उनकी चिकित्सा-विधि का विवेचन भी *अग्निपुराण* में संक्षेप में प्राप्त होता है–

1. ज्वर– हम जानते हैं कि ज्वर अनेक कारणों से हो सकता है। अग्निपुराण में कारणों का वर्णन न करते हुए उसके नाश के लिए अनेक प्रकार की ओषधियों का वर्णन किया गया है। *अग्निपुराण* के अनुसार ज्वरयुक्त पुरुष को लाजाओं का माण्ड पीने के लिए देना श्रेयस्कर होता है। रोगी के ज्वर-नाश के लिए मोथा, पर्यटक, खसखस, एवं सोंठ का काढ़ा पिलाना चाहिए। छः दिन के पश्चात् चिरायते का काढ़ा पिलाना चाहिए। रोगी को भोजन में पुराना साठी का चावल, निवार, लाल चावल, आदि देने चाहिए। वायु से उत्पन्न ज्वर में बेल की गुद्यी, आलू, अरणी, पाठ व गम्भारी की छाल का काढ़ा देना चाहिए या फिर पीपर या सोंठ का काढ़ा देना भी हितकर है। सभी प्रकार के ज्वरों के लिए वर्णित है कि आँवला, पीपर तथा चित्रक सर्वज्वरनाशक हैं।[10]

2. रक्त-पित्त– *अग्निपुराण* के अनुसार **'रक्तपित्ते तथा पानं शडङ्गशुण्ठि वर्जितम्'**[11]। अर्थात् रक्त-पित्त रोगी को सोंठरहित शडङ्ग अर्थात् नागरमोथा, चित्तपापड़ा, खश तथा लाल चन्दन का पान कराना चाहिए। यही बात *गरुड़पुराण* में भी कही गई है।

3. अतिसार– *अग्निपुराण* के अनुसार अतिसार में पुराना चावल खाने के लिए देना चाहिए एवं जो भी अन्न कब्ज करनेवाला न हो, वह देना चाहिए तथा अतिसार में लौंग का काढ़ा देना चाहिए–

'अतिसारे पुराणानां शालीनां भक्षणं हितम् ।
अनमिश्यन्दि यच्चान्नं लोध्रवल्कलसंयुतम् ।।'[12]

इसके अतिरिक्त सोंठ, सेंधा नमक तथा इमली का चूर्ण बनाकर उसी चूर्ण के बराबर हरड़ का चूर्ण मिलाकर उसे गर्म जल के साथ मिलाकर पीने पर अतिसार रोग नष्ट हो जाता है।[13]

3. कुष्ठरोग– *अग्निपुराण* में कुष्ठरोग के उपचार के लिए कई प्रकार की औषधियों का उल्लेख मिलता है, यथा– गेहूँ, शाली, मूँग, खदिर, अभया, पञ्चकोल, नींबू का रस, शुष्क मूलक व सैन्धव नमक का पान, लाभकारी है तथा कुष्ठ पर लेपन के लिए विडंग, काली मिर्च, मोथा, लौंग, मैनसिल व वचा को गोमूत्र में पीसकर लगाना उत्तम होता है। सफेद कुष्ठ दूर करने के लिए निम्नलिखित वर्णन है–

'गिरिमृच्चन्दनं लाक्षा मालतीकलिका तथा ।

संयोज्याकृता वर्तिः क्षतष्वित्रहरी तु सा ॥'[14]

अर्थात् गेरू लाल चन्दन, लाख व मालती के पुष्प की कली– इन सबको पीसकर बत्ती बना लें तथा उसे समय समय पर घिसकर लगाने से सम्पूर्ण कुष्ठ नष्ट हो जाता है।

4. श्वास व कास रोग– *अग्निपुराण* के अनुसार कुलत्थ, मूँग, सूखा बेर और शुष्कमूलक– इनका पुआ बनाकर दही में साधित करके अनार नीम्बू के रस में शहद, मुनक्का, सोंठ, मिर्च, पीपरी मात्रा के अनुसार मिलाकर खाना चाहिए। जौ, गेहूँ व शाली अन्नों का भोजन करना चाहिए।[15]

5. नासिका-रोग– नासिका-रोग में नकसीर, प्रतिष्याय आदि आते हैं। नकसीर का उपचार *अग्निपुराण* में वर्णित है– **'नासारक्तहरो नस्याद् दूर्वारस इहोत्तमः'**[16]। अर्थात् दूब के रस का नस्य लेने से नकसीर आनी बन्द हो जाती है।

6. दन्त-वेदना– दाँतों की पीड़ा की चिकित्सा के लिए बताया गया है कि जायफल, मैनफर, सोंठ, मिर्च, पिपरी और हल्दी का काढ़ा बनाकर व हरड़ का कल्क बनाकर तैल में पकाकर मुँह में धारण करने से दाँत की पीड़ा दूर होती है।[17]

7. ओष्ठ-रोग– इसके लिए बहुत ही आसान विधि बताई गई है कि अदरख के रस में तेल पकाकर कुल्ला करने से ओष्ठ-रोग शान्त होता है।[18]

8. कर्ण-रोग– कर्ण-रोग के अंतर्गत *अग्निपुराण* में कान के दर्द का उपचार वर्णित किया गया है– **'लशुनार्द्रकशिग्रूणां रसः कर्णस्य पूरणम्'**[19]। अर्थात् लहसुन, अदरख व सहजन का रस कान में डालने से आराम होता है। इसके अतिरिक्त सेंधा नमक जल में पकाकर उसे छान लें और उस जल को गरम-गरम कान में डालने से कान की पीड़ा नष्ट हो जाती है।[20]

उल्लेखनीय है कि *गरुड़पुराण* में भी हमें यही उपचार मिलते हैं।

9. नेत्र-रोग– नेत्रोपचार के लिए *अग्निपुराण* में कई औषधीय प्रयोग वर्णित हैं। अग्निपुराणानुसार सोंठ, मिर्च, पीपर तथा आँवला, हरड़ व बहेड़ा व तूतिया तथा रसञ्जन को जल में बारीक पीसकर आँख में अञ्जन लगाने से नेत्र के सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं। फिर लौंग को घी में भूनकर कांजी व सेंधा नमक के साथ पीसकर नेत्र में लगाने से सभी प्रकार के कष्ट दूर हो जाते हैं तथा त्रिफला का

निरन्तर सेवन नेत्र रोगों में अति लाभदायक होता है।[21]

10. जिह्वा-रोग– *अग्निपुराण* के अनुसार–

'धान्याम्बुनारिकेलं गोमूत्रं क्रमुकं विश्वयुक् ।
क्वाथितं कवलं कार्यं जिह्वाव्याधिप्रशान्तये ॥'[22]

अर्थात् धनिया, नारियल, गोमूत्र, सुपारी व सोंठ का क्वाथ बनाकर केवल मुख में कुछ ही समय धारण करने से जिह्वा की सारी व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

11. कृमि-रोग– मानव शरीर में कई प्रकार के कृमियों का प्रकोप हो सकता है, जैसे– दन्तकृमि, पेट के कृमि तथा व्रण आदि में होनेवाले कृमि। इन सबसे निदान पाने के कई उपचार यहाँ वर्णित किए गए हैं। जैसे वायविड्ङग का चूर्ण एवं गोमूत्र सभी जगह के कृमियों का नाश करते हैं।[23] देवदारु, पृष्णिपर्णी, सहिजन, त्रिफला व नागरमोथा का काढ़ा बनाकर उसमें मुनक्का व पीपरी का कल्क छोड़कर पीया जाए तो कृमि नष्ट हो जाते हैं।

12. मानसिक रोग– *अग्निपुराण* में शारीरिक रोगों के उपचार के साथ-साथ पागलपन, मिर्गी आदि मानसिक रोगों के उपचार का भी वर्णन है। इसके अनुसार सोंठ, गुर्च, भटकैया, पुष्करमूल और भटेसु के काढे में पीपरी का चूर्ण मिलाकर पीने से मुर्च्छा रोग नष्ट हो जाता है। फिर शंखपुष्पी, वच व कुठ के कल्क से एवं ब्राह्मी के रस में पकाये घृत से मिर्गी रोग तथा पागलपन नष्ट हो जाता है।[24]

13. विष– विषैले जानवरों के काटने से मनुष्य के शरीर में विष चढ़ जाता है। *अग्निपुराण* में सर्प, बिच्छु, कुत्ते आदि जानवरों के काटने से चढ़े हुए विष की उपचार-विधि वर्णित है। नीम के पत्तों को चबाना सर्पदंश की दवा है। बिच्छू के काटने पर मयूरपत्री और घृत का धूप देना चाहिए और मदार के दूध में पलाश का बीज पीसकर लेप लगाना चाहिए। इसी प्रकार निसोथ व चौड़ाई की जड़ पीसकर घी मिलाकर पीने से साँप व बिच्छु का विष नष्ट हो जाता है।[25]

अग्निपुराण के अनुसार वात, पित्त तथा कफ– ये त्रिदोष हैं। इनसे निवारण के लिए कहा गया है–

'स्निग्धोष्णमन्नमभ्यङ्गस्तैलं पानादि वातनुत् ।
आज्यं क्षीरं सिताद्यं च चन्द्ररश्म्यादि पित्तनुत् ॥'[26]

अर्थात् स्निग्ध तथा उष्ण भोजन, तैल की मालिश, एवं तैल का पान वायु को नष्ट करता है। घृत, दुग्ध मिश्री एवं चन्द्रमा की किरणों का सेवन पित्तनाशक है। मधु के साथ त्रिफला का सेवन, तैल का सेवन और व्यायामादि श्लेष्मानाशक है।

अग्निपुराण में मानव-चिकित्सा के साथ-साथ वृक्ष एवं पशु-चिकित्सा के भी उपाय वर्णित हैं।

14. वृक्ष-चिकित्सा– *बृहत्संहिता* में वृक्षों में रोगोत्पत्ति के कारण बताए गए हैं कि अधिक शीत, वायु और धूप लगने से वृक्षों को रोग हो जाता है। रोगी वृक्ष के पत्ते पीले पड़ जाते हैं। अंकुर नहीं बढ़ते, शाखाएँ सूख जाती हैं। *अग्निपुराण* में वृक्ष की चिकित्सा के निम्न उपाय बताए गए हैं– जिस वृक्ष का फल लगकर झड़ जाता हो उस वृक्ष की जड़ में कुलत्थी, मूँग, तिल व यव के चूर्ण से मिश्रित शीतल जल से सिंचन करना चाहिए। ऐसा करने से वह वृक्ष सदा पुष्प व फल से लदा रहेगा। एक अन्य उपचार के अनुसार वायविड्डग का चूर्ण व मछली का मांस सामान्य रूप से सभी वृक्षों के रोगों को नष्ट करनेवाला है।[27]

15. गौ-चिकित्सा– हिंदू-संस्कृति में गौ अति पूजनीय है, हर शास्त्र में गौ का माहात्म्य वर्णित है। गौ के विभिन्न रोगों की चिकित्सा *अग्निपुराण* में वर्णित है, जैसे– सींग-सम्बन्धी रोग, कर्णशूल, मुख रोग, गलघोंटु, क्षयरोग, अतिसार, अस्थिभंग आदि गौओं के श्रृंग रोगों में सोंठ, खरेठी और जटामांसी को पीसकर उसमें मधु, सैन्धव तथा तेल मिलाकर लगाना चाहिए। सभी प्रकार के कर्णरोगों में मंजिष्ठा, हींग और सैन्धव डालकर सिद्ध किया हुआ तैल प्रयोग करना चाहिए या तो लहसुन के साथ पकाया हुआ तैल प्रयोग करना चाहिए। दन्तशूल में बिल्वमूल, अपामार्ग, धान की पाटला और कुटज का लेप करना चाहिए। जिह्वा-रोगों में सैन्धव लवण प्रशस्त है। गलग्रह रोग में सोंठ, हल्दी, और त्रिफला विहित है। हृदरोग, वातरोग, तथा क्षयरोग में गौओं को घृत-मिश्रित त्रिफला का अनुपात ठीक करता है। अतिसार में हल्दी, दारुहल्दी तथा नेमुक दिलाना चाहिए। सभी प्रकार के कोष्ठगत रोगों में, शाखागत रोगों में कास, श्वास एवं अन्य रोगों में सोंठ भारंगी देनी चाहिए। हड्डी आदि टूटने पर लवणयुक्त प्रियंगु का लेप करना चाहिए। तैल वातरोग का हरण करता है। पित्त रोग में तैल में पकायी हुई मुलहठी, कफरोग में मधु सहित त्रिकुट अर्थात् सोंठ, अमीर्च और पीपर हितकर हैं। ग्रहबाधा-विनाश के लिए धूप का प्रयोग करना चाहिए।[28]

अग्निपुराण के अननुसार उडद, तिल, गेहूँ, दूध, घी तथा खिर की पिण्डी में नमक मिलाकर बछड़े को देने से पुष्टि होती है।[29]

मंत्र भी औषध रूप माने गए हैं। *अग्निपुराण* के अनुसार ओंकार परम मंत्र है। यह आयु एवं आरोग्यप्रदायक एवं स्वर्ग की प्राप्ति करानेवाला है। इसका जाप करके मानव अमर हो सकता है। गायत्री परम श्रेष्ठ मंत्र है। **'ओम् हुँ नमो विष्णवे'**– यह मंत्र परम औषध होता है। इस मंत्र से देव व असुर सब नीरोग हुए थे।[30]

इस प्रकार उपर्युक्त सभी प्रकार की चिकित्साओं को देखकर यह कहा जा सकता है कि आयुर्वेद विद्या को अग्निपुराण में विशिष्ट स्थान मिला है। *अग्निपुराण* में इस आयुर्वेद विषय को 'धन्वन्तरि द्वारा सुश्रुत को प्रोक्त' बताया गया है। आयुर्वेद-संबंधी ग्रन्थ, जैसे– *सुश्रुतसंहिता, चरकसंहिता* आदि में जिन विषयों का समावेश विस्तृत रूप से हुआ है, अग्निपुराण में उन्हीं विषयों को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। *अग्निपुराण* में विवेचित आयुर्वेद के ज्ञान से यह स्पष्ट हो जाता है कि *अग्निपुराण* में मनुष्य, वृक्ष, पशु के कल्याण आदि के लिए चिकित्सा का वर्णन अत्यन्त सरल रूप से किया गया है जिसको सभी आसानी से उपयोग में ला सकते हैं। *अग्निपुराण* का मुख्य उद्देश्य जन सामान्य को आयुर्वेद का ज्ञान प्रदान करना था क्योंकि पुराण अन्य ग्रंथों की अपेक्षा साधारण जनों के अधिक निकट थे। वैसे भी सभी पुराणों में *अग्निपुराण* विश्वकोश के नाम से जाना जाता है और इसी स्वरूप के कारण इसका सभी पुराणों में विशिष्ट स्थान है। साधारण जन तक धर्म के साथ विविध ज्ञान, विज्ञान का उपदेश देना इस पुराण का मुख्य उद्देश्य है।

सन्दर्भ :

1. *देवीभागवतपुराण*, 1.3.21
2. *अग्निपुराण*, 1.14
3. *वही*, 281.21
4. *वही*, 281.22
5. *शारंगधरसंहिता*, 1.2
6. *अग्निपुराण*, 281.22
7. *वही*, 281.22
8. *शारंगधरसंहिता*, अ० 2
9. *अग्निपुराण*, 281.23

10. वही, 279.3-5
11. वही, 279.8
12. वही, 279.10-11
13. वही, 283.28-29
14. वही, 279.45
15. वही, 279.20
16. वही, 283.7
17. वही, 283.9
18. वही, 283.8
19. वही, 283.8
20. वही, 285.72
21. वही, 285.73-74
22. वही, 283.10
23. वही, 279.42
24. वही, 285.17-10
25. वही, 279.56-60
26. वही, 280.47-48
27. वही, 282.10-14
28. वही, 292.23-35
29. वही, 292.32
30. वही, 284.1-4

अग्निपुराण : व्याकरणशास्त्र

अर्पित कुमार दुबे *

मानव-व्यवहार के प्रमुखतम साधनों में भाषा प्रधान साधन है। भाषा की साधुता व असाधुता का निर्धारण करनेवाले शास्त्र को व्याकरणशास्त्र कहते हैं। *अग्निपुराण* के 349 से 359 अध्याय तक व्याकरणशास्त्र का वर्णन किया गया है। इसमें भाषाज्ञान के लिए, जो अनिवार्य तत्त्व हैं, उनका बहुत ही सारगर्भित व संक्षेप रूप में वर्णन किया गया है। इसमें वर्णित मुख्य विषय हैं– 1.अक्षरसमाम्नाय व प्रत्याहार, 2. सन्धिस्वरूप, 3. सुब्विभक्तिरूप, 4. कारक व विभक्ति, 5-समास, 6. तद्धित, 7. उणादिसिद्धरूप, 8. तिङ्-विभक्तिरूप, 9. कृतसिद्धरूप।

1. अक्षरसमाम्नाय व प्रत्याहार :-

अक्षरसमाम्नाय के ज्ञान के लिये स्कन्द 14 माहेश्वर सूत्रों का उपदेश करते हैं– 1. अइउण्, 2. ऋलृक्, 3. एओङ्, 4. ऐऔच्, 5. हयवरट्, 6. लण्, 7. ञमङणनम्, 8. झभञ्, 9. घढधष्, 10. जबगडदश्, 11. खफछठथचटतव्, 12.कपय्, 13. शषसर्, 14. हल्। इनको 'अक्षरसमाम्नाय' कहते हैं। इनसे अणादि प्रत्याहार बनते हैं। उपदेशावस्था में जो अन्तिम हल् है उसकी इत्संज्ञा होती है–

'प्रत्याहारादिकाः संज्ञाः शास्त्रसंव्यवहारगाः' [2]

अर्थात् प्रत्याहारादि संज्ञा शास्त्रव्यवहार के लिये हैं। स्कन्द ने इस अध्याय में तीन शास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन किया है–

क– **'आदिवर्णो गृह्यमाणोऽप्यन्येनेता सहैव तु।**

---

* शोध-छात्र, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

तयोर्मध्यगतानां स्याद् ग्राहकः स्वस्य तद्यथा ॥'

'प्रत्याह्रियन्ते संक्षिप्यन्ते वर्णा अत्रेति प्रत्याहारः ।' अर्थात् वर्णों के संक्षेपण को प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहार विधायक सूत्र **'आदिरन्त्येन सहेता।'** अन्त्य इत् से युक्त आदिवर्ण, मध्यगत वर्णों की तथा अपनी प्रत्याहार संज्ञा हो। अर्थात् अच् आदि की प्रत्याहार संज्ञा हो। यहाँ संज्ञा अच् आदि है और संज्ञी अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ व औ हैं। यहाँ दो प्रश्न उपस्थित होते हैं– 1. अच् प्रत्याहार् में अकार का ग्रहण क्यों होता है? और चकार का ग्रहण क्यों नहीं होता है। **'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा'**– इस सूत्र से स्वम् पद की अनुवृत्ति होती है जिससे अच् आदि के स्वरूप का भी ग्रहण होता है, लेकिन स्व यह सर्वनाम है। सर्वनाम प्रधान का ही निर्देश करने वाले होते हैं, अप्रधान का नहीं। **'अन्त्येनेता सहादिः'**– यहाँ प्रधान आदि है अन्त्य नहीं, क्योंकि **'सहयुक्तेऽप्रधाने'** से अप्रधान में ही तृतीया होती है अतः स्व यह सर्वनाम प्रधान 'आदि' का ही ग्रहण करायेगा, अप्रधान अन्त्य का नहीं। इत् संज्ञक वर्ण अगर मध्य में आते हैं तो उनका प्रत्याहार में ग्रहण नहीं होता है। ऐसा आचार्य के व्यवहार से ज्ञात होता है। इसीलिये स्कन्द कहते हैं कि अन्तिम इत्संज्ञक वर्णों के साथ गृहीत होनेवाला जो आदि वर्ण वह दोनों के मध्यवर्ती वर्णों का तथा अपना भी बोध कराता है।

ख. **अण् इण् यण् परेण णकारेण ।** अण्, इण् च यण् प्रत्याहारों में लण् सूत्रस्थ णकार गृहीत है। यहाँ यण् प्रत्याहार के विषय में तो शंका नहीं है लेकिन अण् व इण् प्रत्याहार के विषय में शंका होती है कि यहाँ जो णकार गहीत है वह अइउण् का णकार है या लण् का इसके समाधान में भाष्यकार पतञ्जलि कहते हैं–

'परेणैवाण्ग्रहाः सर्वे, पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः ।
एतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ॥' [1]

अर्थात् इण् प्रत्याहार सर्वत्र पर लण् णकार से तथा अण् प्रत्याहार अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः को छोडकर अइउण् वाले णकार से ग्रहण करना चाहिये।

ग. स्कन्द ने 40 प्रत्याहारों की गणना की है। अण्, एङ् ,अट् ,यङ् ,यञ्, छव्, झष्, भष्, अक्, इक्, उक्, यम्, इण्, यण्, अम्, णम्, ङम्, अच्, इच्, एच्, ऐच्, अय्, मय्, झय्, अश्, झर्, खय्, जश्, खर्, चर्, शर्, हश्, वश्, झश्, अल्, हल्, वल्, रल्, झल्, शल्, । व्याकरण-परम्परा में 44 प्रत्याहार माने जाते हैं। 42 प्रत्याहारों का पाणिनि ने

अपने सूत्रों मे प्रयोग किया है और 2 प्रत्याहार, ञम् उणादिपाठ का है तथा चय् वार्तिकपाठ का है। इसमें जो र प्रत्याहार को नहीं मानते हैं, उनके अनुसार प्रत्याहार 43 ही हैं।

2. सन्धिस्वरूप

वाक्य-संरचना में संधि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संधि ज्ञान के अभाव में पदविच्छेद गलत करने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है। सन्धि की महत्ता समझते हुए स्कन्द सन्धिस्वरूप का वर्णन करते हैं। जहाँ पर दो वर्ण मिलकर नया रूप धारण कर लेते हैं, उसे सन्धि कहते हैं। निम्न स्थानों में सन्धि अनिवार्य होती है–

'संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥'[5]

एकपद (अखण्डपद) में धातु और उपसर्ग में तथा समास में संहिता नित्य करनी चाहिये वाक्य में संहिता वक्ता की इच्छा पर निर्भर है। *अग्निपुराण* में भी संधि के पाँच भेद बताए गए हैं। अच्, हल्, अनुस्वार, विसर्ग व स्वादिसंधि चूंकि अनुस्वार संधि में व्यञ्जन का अनुस्वार होता है, अतः इसका ग्रहण हल्संधि में हो जाता है और स्वादि का विसर्ग में अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार संधि के मुख्यतः तीन भेद है- अच्संधि, हल्संधि और स्वादिसंधि।

3. कारक

कारकों का आगमन तत्तत् शक्तियों के रूप में होता है। इसीलिए वाक्य का लक्षण करते हुए अमरसिंह ने कहा है–

'सुप्तिङन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता'[6]

संस्कृत व्याकरण में वाक्य-विन्यास के सन्दर्भ में कारकों पर विशेष विचार हुआ है। तदनुसार वाक्य में संज्ञा और क्रिया के बीच जो सम्बन्ध है, उसके आधार पर ही कारक नाम दिया गया है। वस्तुतः यह क्रिया की निष्पत्ति में लगी हुई द्रव्यशक्ति है, जिसे साधन भी कहते हैं। इसी का दूसरा नाम कारक है। वह शक्तिमूल रूप में एक है– कर्तृत्व शक्ति। वही शक्ति अवान्तर-व्यापार की विवक्षा से करण, सम्प्रदान आदि नाम प्राप्त कर छः रूपों में प्रकाशित होती है। उसी शक्ति के ये छह भेद कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें कर्ता की प्रधानता इसलिए मानी जाती है कि करण आदि की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति उसी

के अधीन होती है।

स्कन्द कारक व विभक्तियों के वर्णन के क्रम में सर्वप्रथम कारकों का स्वरूप बताते हैं फिर कारक विभक्ति का व अन्त में उपपद विभक्ति का वर्णन करते हैं।

कारकस्वरूप

1. कर्ता– (स्वतन्त्रः कर्ता) कर्ता यश्च करोति सः, जो क्रिया को करनेवाला होता है उसे कर्ता कहते है। तिङ्कृत्तद्धितसमास से उक्त होने पर कर्ता में प्रथमा विभक्ति होती है। अनुक्त होने पर तृतीया होती है।

'स्वतन्त्रः कर्ता विद्यान्तं कृतिनः समुपासते ।
हेतुकर्ता लम्भयते हितं वै कर्मकर्तरि
स्वयं भिद्येत् प्राकृतधीः स्वयञ्च छिद्यते तरुः ॥
कर्ताऽभिहितं उत्तमः कर्ताऽनभिहितोऽधमः ।
कर्ता पञ्चविधःप्रोक्तः ॥'[17]

कर्ता के पाँच भेद हैं– 1. **स्वतन्त्रकर्ता– 'विद्यान्तं कृतिनः समुपासते'** यहाँ विद्या की उपासना में विद्वानों की स्वतंत्रता विवक्षित है। अतः कृतिनः स्वतंत्रकर्ता है। 2. **प्रयोगकर्ता** अथवा **हेतु कर्ता** यह उसका प्रयोजक होता है- **'चैत्रो मैत्रं हितं लम्भयते ।'** यहाँ चैत्र मित्र को हित की प्राप्ति करवाता है। अतः चैत्र यहाँ प्रयोजक या हेतुकर्ता है। 3. **कर्मकर्ता** जहाँ कर्म ही कर्ता के रूप में विवक्षित होता है– **'स्वयं भिद्येत् प्राकृतधीः'** यहाँ कार्य के अतिशय सौकर्य को बताने के लिये कर्ता का व्यापार विवक्षित नहीं होता है। इस तरह के प्रयोग में कर्म आदि अन्य कारक भी कर्ता के समान प्रतीत होते हैं। अतः यहाँ प्राकृतधी कर्मकर्ता का उदाहरण है। 4. **अभिहित कर्ता** यह कर्ता वाक्यों में तिङ्कृत्तद्धितसमास से उक्त होता है। अभिहित कर्ता उत्तम माना गया है– **'रामो गच्छति'** यहाँ तिङ् से कर्ता उक्त है। अतः यह अभिहित कर्ता का उदाहरण है। 5. **अनभिहित कर्ता** यह अधम कोटि का कर्ता है- **'गुरुणा धर्मः शिष्ये उपदिश्यते'**– यहाँ गुरु अनुक्त है और वह उपदेश का कर्ता है। अतः यह अनुक्त कर्ता का उदाहरण है।

2. कर्मः– (कर्तुरीप्सिततमं कर्म) कर्ता अपनी क्रिया से जिसको सर्वाधिक प्राप्त करने की इच्छा करता है, उस कारक को कर्म कहते है, या जो किया

जाता है उसे कर्म कहते है। कर्म के उक्त होने पर उससे प्रथमा होती है। अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। कृत् के योग में कर्म में षष्ठी भी होती है।

कर्म के भेद

'कर्म सप्तविधं शृणु ॥ ईप्सितं कर्म च यथा श्रद्दधाति हरिं यतिः। अनीप्सितं कर्म यथा अहिं लङ्घयते भृशम् ॥ नैवेप्सितं नानीप्सितं दुग्धं सम्भक्षयन् रजः। भक्षयेदप्यकथितं गोपालो दोग्धि गां पयः॥ कर्त्तृकर्माऽथ गमयेच्छिष्यं ग्रामं गुरुर्यथा। कर्म चाभिहितं पूजा क्रियते वै श्रियै हरेः॥ कर्मानभिहितं स्त्रोत्रं हरेः कुर्य्यात् तु सर्वदम् ॥'[8]

कर्म के सात भेद होते हैं–1. **'ईप्सितकर्म-श्रद्दधाति हरिं यतिः'**, यहाँ पर यति श्रद्धा क्रिया के द्वारा ईप्सित श्रीहरि है; अतएव हरि यहाँ पर ईप्सित कर्म है। 2. अनीप्सित कर्म– **अहिं लंघयते भृशम्,** यहाँ पर लाँघनेवाला सांप को लाँघना नहीं चाहता है, लेकिन किसी के डर के मारे उसे बार-बार लाँघना पड़ता है; अतः यहाँ पर अहि अनीप्सित कर्म है। 3. ईप्सितानीप्सितकर्म– **दुग्धं सम्भक्षयन् रजः भक्षयेत्,** यहाँ पर पीने की क्रिया के द्वारा दुग्ध तो ईप्सित है किन्तु धूल पीना उसको ईप्सित नहीं है, फिर भी वह उसे पी लेता है; अतएव दुग्ध और रज क्रमशः दोनों ईप्सित एवं अनीप्सित कर्म है। 4. अकथित कर्म (जहाँ पर कारक अपादान आदि विशेष नामों से विवक्षित नहीं होता वहाँ पर कारक की कर्म संज्ञा होती है)– **'गां दोग्धि पयः'**। यहाँ पर गौ अपादान है फिर भी उसके अपादान रूप से विवक्षित नहीं होने के कारण उसकी कर्म संज्ञा हुई और उसमें द्वितीया विभक्ति हुई है। 5. कर्तृकर्म (जहाँ प्रयोजक कर्ता का प्रयोग होता है वहाँ प्रयोज्य कर्ता कर्म के रूप में परिणत हो जाता है)– **'गुरुः शिष्यं ग्रामं गमयेत्'**– यहाँ शिष्य गाँव जाता है तथा गुरु उसे ग्राम भेजता है; यहाँ प्रयोजक कर्ता गुरु है और प्रयोज्य कर्ता शिष्य है; अतएव उसकी यहाँ कर्म संज्ञा हुई व उसमें द्वितीया विभक्ति हुई। 6. अभिहित कर्म (जहाँ पर वाक्य में कर्म में प्रत्यय होता है, उसे अभिहित कर्म कहते हैं। अभिहित कर्म में प्रथमा होती है) **श्रियै हरेः पूजा क्रियते**। यहाँ क्रियते में कर्म में प्रत्यय हुआ है अतः कर्म पूजा में प्रथमा विभक्ति हुई। 7. अनिभिहित कर्म (जहाँ वाक्य में कर्ता में प्रत्यय होता है, वहाँ पर अनभिहित कर्म होता है)– **हरेः सर्वदं स्तोत्रं कुर्यात्,** यहाँ कुर्यात् में कर्ता में प्रत्यय हुआ है, अतः कर्म के अनुक्त के कारण यहाँ कर्म में द्वितीया विभक्ति हुई।

3. करण– '(साधकतमं करणम्) क्रियते येन करणम् ।' क्रिया की सिद्धि में जो सबसे अधिक उपकारक होता है,उसे करण कारक कहते है। अनुक्त करण में तृतीया होती है, तथा उक्त करण में प्रथमा।

करण के भेद–

'करणं द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमभ्यन्तरं तथा'[9]

करण दो प्रकार का होता है- 1. आभ्यान्तरकरण– **चक्षुषा रूपं गृह्णाति**, यहाँ चक्षुषा आभ्यान्तर करण है, क्योंकि इसके रूप ग्रहण करने की क्रिया को कोई दूसरा देख नहीं सकता है। 2. बाह्यकरण– **दात्रेण लुनाति।**

4. सम्प्रदान– (कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्) यस्मै दित्सा धारयते सम्प्रदानं तदीरितम् ॥' दान क्रिया के कर्म के द्वारा जिसका अभिप्राय सिद्ध किया जाय (जिसको लक्षित किया जाय) वह कारक सम्प्रदान कहलाता है। अनुक्त सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति और उक्त में प्रथमा विभक्ति होती है।

सम्प्रदान के भेद– 'सम्प्रदानं त्रिधा प्रोक्तं प्रेरकं ब्राह्मणाय गाम् । नरो ददाति नृपतये दासं तदनुमन्तृकम् ॥ अनिराकर्तृकं भर्त्रे दद्यात् पुष्पाणि सज्जनः ।'[10]

सम्प्रदान तीन प्रकार का कहा गया है– 1. **प्रेरक सम्प्रदान** (जो दान करने के लिये प्रेरित करे उसे प्रेरक सम्प्रदान कहते हैं)– **'नरो ब्राह्मणाय गां ददाति'**। यहाँ ब्राह्मण प्रेरक सम्प्रदान है; अतएव उसमें चतुर्थी विभक्ति हुई। 2. **अनुमन्तृक सम्प्रदान** जो प्राप्त हुई वस्तु को केवल अनुमति प्रदान करता है। 3. **अनिराकर्त्तृक सम्प्रदान** (जो दी गई वस्तु का न तो अनुमोदन करता है और न ही उसका निराकरण करता है, अपितु उसे चुपचाप स्वीकार कर लेता है)– **'सज्जनः भर्त्रे पुष्पाणि दद्यात् ।'**

5. अपादान– (ध्रुवमपायेऽपादानम्) दो वस्तुओं के अलग होने में जो वस्तु उदासीन हो उस कारक को अपादान कारक कहते है। **'अपादानं यतोऽपैति आदत्ते च भयं यतः ।'** जिससे किसी का विलगाव होता हो, जिससे कुछ लेता या ग्रहण करता हो, जिससे भय की प्राप्ति हो, उसकी अपादान संज्ञा होती है। अनुक्त अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है, व उक्त अपादान में प्रथमा विभक्ति

होती है।

अपादान के भेद–

'अपादानं द्विधा प्रोक्तं चलमश्वात् तु धावतः ।
पतितश्चाचलं ग्रामादागच्छति स वैष्णवः ॥'[11]

अपादान दो प्रकार का बतलाया गया है, 1. चल अपादान– **धावतः अश्वात् पतितः**, यहाँ दौड़ता हुआ अश्व चल अपादान है। अतः उसमें पञ्चमी विभक्ति हुई। 2. अचल अपादान– **'सः वैष्णवः ग्रामादायति'**, यहाँ पर ग्राम अचल अपादान है; अतः उससे पञ्चमी विभक्ति हुई।

6. अधिकरण– (आधारोऽधिकरणम्) कर्ता और कर्म के द्वारा तन्निष्ठ क्रिया के आधारभूत कारक की अधिकरण संज्ञा होती है। **आधारोऽधिकरणं विभक्तिस्तत्र सप्तमी**। अनुक्त अधिकरण में सप्तमी विभक्ति, व उक्त अधिकरण में प्रथमा विभक्ति होती है।

अधिकरण के भेद– चतुर्धा चाधिकरणं व्यापकं दध्नि वै घृतम् । तिलेषु तैलं देवार्थमौपश्लेषिकमुच्यते ॥ गृहे तिष्ठेत् कपिर्वृक्षे स्मृतं वैर्षायकं यथा ॥ जले मत्स्यो वने सिंहः स्मृतं सामीप्यकं यथा । गङ्गायां घोषो वसति औपचारिकमीदृशम् ॥'[12]

अधिकरण चार प्रकार का होता है– 1. अभिव्यापक अधिकरण (जो वस्तु किसी वस्तु में व्यापक हो उसका आधार अभिव्यापक अधिकरण है) **'दध्नि घृतम्'**, यहाँ दही में घी व्यापक है; अतः दही अभिव्यापक अधिकरण है। इसलिये इसमें सप्तमी हुई। 2. औपश्लेषिक अधिकरण (जहाँ आधार और आधेय का संयोग हो, उसे औपश्लेषिक आधार कहते है)– **'कपिः गृहे तिष्ठेत् वृक्षे च'**– यहाँ कपि के आधार गृह और वृक्ष हैं तथा दोनों से उसका संयोग है; अतः ये दोनों अधिकरण हैं व इनमें सप्तमी हुई। 3. वैषियक (विषय से संबंध रखनेवाला आधार वैषयिक कहलाता है)– **'जले मत्स्यः, वने सिहः'**– यहाँ जल तथा वन दोनों क्रमशः मत्स्य व सिंह के विषय है; अतएव ये दोनों वैषयिक अधिकरण है, इसलिए इनमें सप्तमी हुई। 4. सामयिक– **'गंगायां घोषः**– यहाँ गंगा को घोष का अधिकरण बताया गया है। चूंकि यहाँ अन्वयानुपपत्ति के कारण गंगा शब्द सामीप्यक अधिकरण है।

अधिकरण होने के कारण इसमें सप्तमी विभक्ति हुई है। ऐसे वाक्य औपचारिक लाक्षणिक कहलाते हैं।

विशेष विधान

1. **षष्ठीविभक्ति– स्वस्वाम्यादौ च षष्ठ्यपि । (षष्ठी शेषे)** कारक और प्रातिपदिकार्थ से भिन्न स्वस्वामिभाव आदि सम्बन्ध शेष कहलाता है। उस शेष अर्थ में षष्ठी विभक्ती होती है। जैसे राज्ञः पुरुषः में राज पदार्थ का पुरुष पदार्थ के साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है; अतः राजन् शब्द से षष्ठी हुई।

'तृतीया वाऽथ वा षष्ठी स्मृताऽनभिहिते तथा ।
विष्णुः सम्पूज्यते लोकैर्गन्तव्यं तेन तस्य वा ॥' [13]

अनुक्त कर्ता में तृतीया अथवा षष्ठी होती है। **'विष्णुः सम्पूज्यते लोकैः'** यहाँ कर्म में प्रत्यय हुआ है; अतएव कर्म उक्त है और कर्ता अनुक्त है इसलिये यहाँ कर्ता लोक में तृतीया विभक्ति हुई। **'तेन तस्य वा गन्तव्यं'** इस वाक्य में कृदन्त के द्वारा कर्म के उक्त होने के कारण वाक्य के कर्ता में विकल्प से तृतीया व षष्ठी विभक्ति हुई। अर्थात् दोनों वाक्यों का अर्थ एक ही है।

'अन्नस्य हेतोर्वसति षष्ठी स्मृत्यर्थ कर्मणि ।
मातुः स्मरति गोप्तारं नित्यं स्यात् कर्त्तकर्मणोः ॥' [14]

यहाँ पर उन तीन कारणों को बताया गया है, जिससे षष्ठी विभक्ति होती है–

क. हेतु वाचक हेतु शब्द का प्रयोग होने पर षष्ठी विभक्ति होती है– **'(षष्ठी हेतुप्रयोगे) अन्नस्य हेतोवर्सति'**, यहाँ निवास (वसने या रहने) कारण अन्न है। उस कारण के वाचक हेतु शब्द का योग होने से अन्न शब्द में षष्ठी विभक्ति हुई। समानाधिकरण्य के कारण हेतु में भी षष्ठी हुई।

ख. स्मरणार्थक धातु का प्रयोग होने पर उसके कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है। **मातुः स्मरति,** यहाँ पर स्मरणार्थक स्मृ धातु का प्रयोग होने पर उसके कर्म मातृ शब्द में षष्ठी विभक्ति हुई।

ग. कृत्प्रत्यय के योग में कर्ता एवं कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है **(कर्त्तृकर्मणोः कृतिः)। अपां भेत्ता,** यहाँ **'भेतृ'** शब्द कृत्प्रत्यान्त है अतएव

उसके योग से उसके कर्मभूत अप् शब्द से षष्ठी बिभक्ति हुई। **तव कृतिः**, यहाँ कृति शब्द कृत् प्रत्यान्त है; अतः उसके कर्तृभूत युष्मद् शब्द में षष्ठी विभक्ति हुई।

'न निष्ठादिषु षष्ठ्यपि ।'[15] न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् । कृत्प्रत्यय के योग में षष्ठी विधान के बाद अब कुछ कृत् प्रत्यय के योग में षष्ठी का निषेध करते हुए कहते हैं कि निष्ठा (क्त, क्तवतु, शतृ, शानच्, उ, उक्, तुमुन्, खलर्थ, तृन्, शानच् तथा चानश् आदि प्रत्यय निष्ठादि है) के योग में षष्ठी नहीं होगी। जैसे **ग्रामं गतवान्,** यहाँ कर्म में द्वितीया हुई। यह निषेध कारक षष्ठी का है जो कृत् आदि के योग में होती है न कि षष्ठी सामान्य का।

उपपदविभक्ति– कारक विभक्तियों के अतिरिक्त कुछ विभक्तियाँ विभिन्न पदों के योग में होती है, उन्हें उपपदविभक्ति कहते हैं।

1. **हेतौ तृतीया चान्नेन वसेत् ।'[16] हेतौ ।** हेतु में तृतीया विभक्ति होती है। **'अन्नेन वसेत् क्वापि'**, यहाँ निवास का हेतु अन्न है; अतएव उससे तृतीया हुई।

2. **चतुर्थी तादर्थेऽभिहिता । नमः स्वाहास्वधास्वस्तिव-षडाद्यैयश्चतुर्थ्यपि । नमो देवाय ते स्वस्ति तुमर्थात् भाववाचिनः ।'[17]**

यहाँ तीन के योग में चतुर्थी का विधान किया है। 1. तादर्थ्य के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति होती है। **'वृक्षाय जलम्'**– यहाँ पर जल वृक्ष के लिये है अतः वृक्ष तादर्थ्य है और इसमें चतुर्थी हुई। 2. **'नमः स्वाहा स्वधा'**– आदि के योग में या यह अर्थ गम्यमान होने पर चतुर्थी विभक्ति होती है। **'नमो देवाय'**– यहाँ नमः का योग होने से देव में चतुर्थी विभक्ति हई। 3. तुमुन् प्रत्ययार्थक भाववाची शब्द में चतुर्थी विभक्ति होती है। **'पाकाय याति'**– यहाँ पाक शब्द तुमुन् प्रत्यार्थक भाववाची है अतः इसमें चतुर्थी विभक्ति हुई।

3. **'पञ्चमी पर्य्युपाङ्मुखैः ।'** [18] जिसके परि, उप तथा आङ् इन उपसर्गों से सम्बन्ध हो, उसमें पञ्चमी होती है। **'वृष्टोऽयं परिग्रामात् देवोऽयं बलवत् पुरा'** । यहाँ परि उपसर्ग का ग्राम से योग होने पर उसमें पञ्चमी हुई। दिशावाचक शब्द, अन्यार्थक शब्द तथा ऋते शब्द के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है। **'पूर्वा ग्रामादृते विष्णोर्न मुक्तिरितरा हरेः । पूर्वो ग्रामात्'**– यहाँ दिशावाची पूर्व शब्द के योग होने पर ग्राम में पञ्चमी विभक्ति हुई। **'ऋते विष्णोः'**– यहाँ ऋते के

योग में विष्णु में पञ्चमी हुई। **'नमुक्तिः इतरा हरेः'**– यहाँ अन्यार्थक इतरा शब्द के योग के कारण हरि में पञ्चमी विभक्ति हुई।

पृथग् विनाद्यैस्तृतीया पञ्चमी च तथा भवेत्। पृथक् एवं विना आदि शब्दों का जिसके साथ योग होता है, उसमें तृतीया अथवा पञ्चमी विभक्ति होती है। पृथक् ग्रामात्। यह पृथक् शब्द के योग में पञ्चमी विभक्ति का उदाहरण है। पृथक् विहारेण। यह पृथक् के योग में तृतीया का उदाहरण है। **विना श्रियः**, यहाँ विना के योग में पञ्चमी हुई है।

4. 'कर्मप्रवचनीयाख्यैर्द्वितीया योगतो भवेत् ।' [19] जिस शब्द का कर्मप्रवचनीथ के साथ योग होता है, उस शब्द में द्वितीया विभक्ति होती है। **'अन्वर्जुनं योद्धारः'**– यहाँ अनु कर्मप्रवचनीय है, उसका अर्जुन से योग है; अतएव अर्जुन शब्द में द्वितीया विभक्ति हुई। **'ह्यभितो ग्राममीरितम्'** जिसके साथ अभितः आदि का योग होता है, उसमें द्वितीया होती है।

5. हेत्वर्थे कुत्सितेऽङ्गे सा तृतीया वा विशेषणे ।' [20] सह शब्द तथा सहार्थक शब्द के योग में ेतु अर्थ व कुत्सित अर्थ के वाचक में तृतीया होती है। सहार्थ के योग में तृतीया विशेषण वाचक से होती है। **'पुत्रेण सह आगतः पिता'**– यहाँ सह शब्द के योग विशेषण वाचक पुत्र में तृतीया विभक्ति हुई। **'गदया हरिः'**, यहाँ सहार्थ के योग में विशेषण वाचक गदा शब्द से तृतीया हुई। **'अक्ष्णा काणः'**, यह कुत्सित अंग के वाचक शब्द के योग में तृतीया का उदाहरण है। **'अर्थेन निवसेद् भृत्यः'**, यहाँ भृत्य के रहने का कारण धन है; अतः तृतीया विभक्ति हुई।

6. काले भावे च सप्तमी ।' [21] कालवाचक और भाव के अर्थ में सप्तमी होती है। अर्थात् जिसकी क्रिया से अन्य क्रिया लक्षित होती है उसके वाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है। **'विष्णौ नते भवेन् मुक्तिः'**– यहाँ भगवान विष्णु को नमस्कार करने की क्रिया से मुक्ति मिलने की क्रिया लक्षित होती है। अतः नते में सप्तमी हुई। **'वसन्ते स गतो हरिम्'** –यहाँ पर वसन्त काल का वाचक शब्द है; अत उसमें सप्तमी हुई। स्वामी, ईश, पति, साक्षी, सत् तथा दायाद आदि शब्दों का जिसके साथ योग हो उसमें षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है। **'नृणां स्वामी, नृषु स्वामी'**– यहाँ स्वामी शब्द के योग के कारण षष्ठी व सप्तमी विभक्ति हुई।

इस प्रकार स्कन्द ने कारक व विभक्तियों के स्वरूप का परिभाषा व उदाहरण के साथ स्वरूप बताया है।

4. समास

समसनं समासः । संक्षेप या संक्षिप्तीकरण या मिलाने को समास कहते हैं। समास को व्याकरण परम्परा में शक्ति कहा गया है, क्योंकि समास में अल्प शब्द से व्यापक अर्थ का ज्ञान होता है। समास के सामान्यतः पाँच भेद माने जाते हैं– 1. केवल समास (**सह सुपा**)– जिस समास की कोई विशेष संज्ञा नहीं होती, उसे केवल समास कहते हैं। 2. अव्ययीभाव समास– जिस समास में पूर्वपद का अर्थ प्रायः प्रधान होता है, उसे अव्ययीभाव समास कहते हैं। 3. तत्पुरुष समास जिस समास में उत्तर पद का अर्थ प्रायः प्रधान होता है, उसे तत्पुरुष समास कहते हैं। तत्पुरुष का ही एक भेद कर्मधारय और उस कर्म धारय का भी एक भेद द्विगुसमास होता है। 4. बहुव्रीहिसमास– जिस समास में समस्यमान पदों के अतिरिक्त किसी अन्य पद का अर्थ प्रायः प्रधान रहता है, उसे बहुव्रीहिसमास कहते हैं। 5. द्वन्द्व– जिस समास में दोनों पदो का अर्थ प्रायः प्रधान होता है, उसे द्वन्द्वसमास कहते हैं।

अग्निपुराण में समास के छः भेद व अवान्तर 28 भेद बताये गये हैं। **षोढा समासं वक्ष्यामि अष्टाविंशतिं पुनः ।**[22]

1. समास नित्य व अनित्य के भेद से हो प्रकार का होता है। 1. कुम्भकार तथा हेमकार ये नित्य समास है क्योंकि विग्रह वाक्य के द्वारा इन सबों से जाति विशेष का बोध नहीं हो सकता है। 2. **राज्ञः पुमान्**=राजपुमान् यह अनित्य समास है। यह षष्ठी तत्पुरुष समास स्वपद विग्रह होने के कारण अनित्य समास है।

2. समास लुक् तथा अलुक् के भेद से भी दो प्रकार का है। 1. **कष्टं+श्रितः=कष्टश्रितः** यह लुक् समास है क्योंकि, कष्ट पद के अन्त में विद्यमान द्वितीया विभक्ति का यहाँ लुक् हुआ है। 2. **कण्ठेकालः** यह अलुक् समास है, क्योंकि कण्ठ शब्द के अन्त में विद्यमान सप्तमी विभक्ति का यहाँ लुक् नहीं हुआ है।

3. **स्यादष्टधा तत्पुरुषः प्रथमाद्यसुपा सह ।**[23] तत्पुरुष समास आठ प्रकार का होता है। प्रथमान्त आदि शब्द सुबन्त के साथ समस्त होते हैं।

क. **प्रथमातत्पुरुषसमास– पूर्वकायः, पूर्वं कायस्य** इस विग्रह में जब

पूर्वकायः शब्द बनता है तो प्रथमा तत्पुरुष होता है। इसी प्रकार **अपरकायः**, अधरकायः और उत्तरकायः आदि प्रथमा तत्पुरुष समास के उदाहरण हैं।

ख. द्वितीया तत्पुरुष समास **आपन्नजीविकः, आपन्नो जीविकाम्= आपन्नजीविकः** पक्षान्तर में **जीविकापन्नः** भी रूप होता है। **माधवम् आश्रितः** इस विग्रह से निष्पन्न **माधवाश्रितः** में भी द्वितीया तत्पुरुष समास है।

ग. तृतीया तत्पुरुष समास **धान्येन अर्थः**, इस विग्रह से व्युत्पन्न **धान्यार्थः** में तृतीया तत्पुरुष समास है।

घ. चतुर्थी तत्पुरुष समास **विष्णवे बलिः= विष्णुबलिः** में चतुर्थी तत्पुरुष समास है।

ङ. पञ्चमी तत्पुरुष समास **वृकात् भीतिः, वृकभीतिः** में पञ्चमी तत्पुरुष समास है।

च. षष्ठीतत्पुरुष समास– **राज्ञः पुमान्=** राजपुमान् तथा वृक्षस्य फलम्=वृक्षफलम् में षष्ठी तत्पुरुष समास है।

छ. सप्तमी तत्पुरुष समास– **अक्षेषु शौण्डम्= अक्षशौण्डम्** में सप्तमी तत्पुरुष समास है।

ज. नञ् तत्पुरुष समास– **न हितः=** अहितः में नञ् तत्पुरुष समास है।

कर्मधारय समास– कर्मधारयः सप्तधा ।[24] कर्मधारय समास सात प्रकार का है–

क. विशेषणपूर्वपद कर्मधारय (जिस समस्त पद में पूर्वपद विशेषण होता है) **नीलं चेदमुत्पलम्= नीलोत्पदम्** इसका उदाहरण है।

ख. विशेष्योत्तरविशेषणपद कर्मधारय– **वैयाकरणः खसूचिः= वैयाकरणखसूचिः** इसका उदाहरण है।

ग. विशेषणोभयपद कर्मधारय, जैसे **शीतोष्णः**।

घ. उपमानपूर्वपद कर्मधारय समास– **शंखपाण्डुरः**।

ङ. उपमानोत्तरपद कर्मधारय समास पुरुष व्याघ्रः।

च. सम्भावनापूर्वपद (जिसमें पूर्व पद सम्भावनात्मक हो)- **गुणवृद्धिः (गुण इति वृद्धि स्यात्)** अर्थात् गुण शब्द कहने से वृद्धि की सम्भावना होती है।

छ. अवधारण पूर्वपद (जहाँ समस्त पद के पूर्वपद में निश्चयार्थक शब्द हो)– **सुहृदेव सुबन्धुकः**।

द्विगुराभाषितो द्विधा।[25] द्विगु समास दो प्रकार का बताया गया है। ये दोनों भेद एकपदभाव तथा अनेकधा स्थिति को लेकर होने वाले कर्मधारय समास है। जिस समास का पूर्वपद संख्यावाचक होता है, उसे द्विगु समास कहते है। 1. एकपदभाव द्विगु– **पञ्चमूली, द्विशृंगम्, द्वयोः शृंगयोः समाहारः** इस विग्रह में एकपदभाव सिद्ध होता है। 2. अनेकपदभाव द्विगु समास– **सप्तर्षयः**।

4. बहुव्रीहिश्च सप्तधा।[26] बहुव्रीहि समास सात प्रकार का होता है–

क. द्विपद बहुव्रीहि समास– इसमें दो पदों का समास होता है। **आरूढभवनो नरः, आरूढं भवनं येन सः = आरूढभवनो नरः**।

ख. बहुपद बहुव्रीहि समास– जिसमें दो से अधिक पदों का बहुव्रीहि समास होता है। **अर्चिताशेषपूर्वः, अर्चिता अशेषाः पूर्वा यस्य सः= अर्चिताशेषपूर्वः**।

ग. संख्योत्तरपद बहुव्रीहि समास– **एते विप्रा उपदशाः**, यहाँ पर संख्यात्मकपद उपदश उत्तरपद है।

घ. संख्योभयपद बहुव्रीहि समास– **द्वयेकत्रयः**।

ङ. सहपूर्वपद बहुव्रीहि समास- **समूलोधतकः तरुः, सहमूलेन उधतम् कं शिखा यस्य सः= समूलोधतकः तरुः**।

च. व्यतिहार लक्षण बहुव्रीहि समास– **केशा केशि युद्धम्, केशम् च केशम् प्रहृत्य युद्धम्= केशा केशि युद्धम्, नखानखि।**

छ. दिग्लक्षणार्थ बहुव्रीहि समास– **दक्षिणपूर्वा**।

5. द्वन्द्वसमास– द्वन्द्वः समासो द्विविधो हीतरेतरयोगकः।[27] द्वन्द्व समास दो प्रकार का होता है। अ. इतरेतर योग द्वन्द्व समास- **रुद्रविष्णू, रुद्रश्च विष्णुश्च इति= रुद्रविष्णु**। ब. समाहार द्वन्द्वसमास– **भेरीपटहम्, भेरी**

पटहश्च अनयोः समाहारः= भेरीपटहम्। यहाँ तुर्याङ्ग होने के कारण एकवद् भाव हुआ।

6. अव्ययीभाव समास– द्विधाख्यातोऽव्ययीभावो नामपूर्वपदो यथा। शाकस्यमात्रा शाकप्रति यथाऽव्ययपूर्वकः।[28] अव्ययीभाव समास के दो भेद होते हैं। (अ) नामपूर्वपद अव्ययीभाव समास- **शाकस्य मात्रा= शाकप्रति।** यहाँ शाक नाम है तथा प्रति अव्यय मात्रार्थक है। (ब) अव्यय पूर्वपद अव्ययीभाव समास **उपकुम्भम्, कुम्भस्य समीपम्= उपकुम्भम्।** इसमें नाम उत्तर पद है तथा समीपार्थक उप अव्यय पूर्वपद है।

इस प्रकार से समास के छः भेद व अट्ठाइस उपभेदों का उदाहरण सहित स्वरूप बताने के बाद कहते हैं कि **प्राधान्येन चतुर्विधः। उत्तरपदार्थमुख्यो-द्वन्द्वश्चोभयमुख्यकः। पूर्वार्थेशोऽव्ययीभावो बहुव्रीहिश्च बाह्यतः।**[29] समास के प्रधान रूप से चार भेद किये जाते हैं। उत्तर पदार्थ प्रधान तत्पुरुष समास। उभय पदार्थ प्रधान द्वन्द्व समास। पूर्व पदार्थ प्रधान अव्ययीभाव समास तथा अन्य पदार्थ प्रधान बहुव्रीहि समास।

भाषा ज्ञान के लिये आवश्यक सामान्य ज्ञान में अक्षरसमाम्नाय, संधि, कारक और समास का ज्ञान अतिआवश्यक है। इन प्रधानभूत विषयों के अतिरिक्त शब्दरूप, धातुरूप, कृदन्त (धातु से होनेवाले प्रत्यय), तद्धित (प्रातिपदिक से होनेवाले प्रत्यय) और उणादिशब्द का भी ज्ञान होना आवश्यक है। अतः *अग्निपुराण* में इन विषयों का भी संक्षेप में उदाहरण के माध्यम से वर्णन किया गया है।

5. कृत्सिद्धरूप

कृदतिङ् इस सूत्र के अनुसार धातु से होनेवाले तिङ् भिन्न प्रत्ययों को कृत् प्रत्यय कहते हैं। **कर्तरि कृत्, तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः। कृतस्त्रिष्वपि विज्ञेया भावे कर्मणि कर्त्तरि।**[30] कृत् प्रत्यय सामान्यतः कर्ता, कर्म व भाव में होते हैं।

अब मुख्य कृत् प्रत्ययों का उदाहरण दिया जा रहा है। कृत्य प्रत्यय भाव और कर्म में होते हैं। ये प्रत्यय सकर्मक धातु से कर्म मे होते हैं और अकर्मक से भाव में होते हैं।

तव्यदादि प्रत्यय– तव्यत्तव्यानीयरः। तव्यत्, तव्य, अनीयर् प्रत्यय धातु से भाव व कर्म में होते हैं। **तव्यत्–एधितव्यम्, तव्य–गन्तव्यः,**

अनीयर्-पठनीयम्

ल्युट् प्रत्यय– कृत्यल्युटो बहुलम्। कृत्य और ल्युट् प्रत्यय बहुल से होते हैं। **ल्युट्-शोभनम्, गमनम्।**

क्यप् प्रत्यय– एतिस्तुशास्वृजुषः क्यप्। इण्, स्तु, शास्, वृ, और जुष् धातु से क्यप् प्रत्यय होते हैं। **क्यप्-स्तुत्यः।**

ण्यत् प्रत्यय– ऋहलोर्ण्यत्। ऋवर्णान्त और हलन्त धातु से ण्यत् प्रत्यय होता है– **ण्यत्-कार्यम्।**

यत् प्रत्यय– अचो यत्। अजन्त धातु से यत् प्रत्यय हो। **यत्-चेयम्।** ये मुख्य कृत्य प्रत्यय हैं।

कृत्प्रत्यय– ये प्रत्यय कर्ता, कर्म व भाव तीनों में होते हैं। सकर्मक धातु से कर्ता और कर्म में तथा अकर्मक धातु से भाव व कर्म में होते हैं।

ण्वुल्तृचौ– धातु से ण्वुल् तथा तृच् प्रत्यय होते हैं; कारकः, कर्ता। **कर्मण्यण्–** कर्म के उपपद रहने पर धातु यण् प्रत्यय होता है; कुम्भकारः।

क्विप् च– धातु से क्विप् प्रत्यय होते हैं; स्वयम्भूः।

क्तक्तवतू निष्ठा। निष्ठा। भूतकाल में वर्तमान धातु से निष्ठा प्रत्यय (क्त और क्तवतु प्रत्यय को निष्ठा प्रत्यय कहते हैं) होते हैं। क्त प्रत्यय भाव और कर्म में होता है और क्तवतु प्रत्यय कर्ता में होते हैं। **स्नातं मयागुरुस्त्वया** यहाँ भाव में क्त प्रत्यय हुआ। **गतो ग्रामं गतो ग्राम आश्लिष्टश्च गुरुत्वया ॥**[31] **गत्यार्थकर्मकश्लिष- शीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च।** गत्यर्थक आदि परिगणित धातु से कर्ता में भी क्त होता है, उसी का उदाहरण इस श्लोक में दिया गया है– **सः ग्रामं गतः**, यहाँ कर्ता में क्त प्रत्यय हुआ है।

लिटः– कानज्वा। क्वसुश्च। लिट् लकार के स्थान पर धातु क्वसु व कानच् प्रत्यय होते हैं। आत्मनेपदी धातु से कानच् व परस्मैपदी धातु से क्वसु प्रत्यय होते हैं। बभुविववान्, पेचिवान्, ये कानच् प्रत्यय के उदाहरण हैं।

लटः– शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे। प्रथमान्त से भिन्न समानाधिकरण होने पर लट् के स्थान पर शतृ और शानच् प्रत्यय होते हैं। शानच्

प्रत्यय आत्मनेपदी धातु से होता है। शतृ-**भवन्**, भू धातु से शतृ प्रत्यय होने पर भवन्, **एधामानः**, यह शानच् प्रत्यय का उदाहरण है।

तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् । क्रियार्थाक्रिया (जिस क्रिया के लिये दूसरी क्रिया की जाती है, उसे क्रियार्थाक्रिया कहते हैं) के उपपद रहते धातु से भविष्यत् अर्थ में तुमुन् और ण्वुल् प्रत्यय होते हैं। **कृष्णं द्रष्टुं याति**, यहाँ दर्शन क्रिया के लिये गमन क्रिया हो रही है; अतः दृश् धातु से तुमुन् प्रत्यय हुआ; **कृष्णं दर्शको याति**, यहाँ ण्वुल् प्रत्यय हुआ।

समानकर्तृकयोः पूर्वकाले । जब एकसाथ दो क्रियायें हो रही हों और उनका कर्ता एक हो, तब जो क्रिया पहले हो उससे क्त्वा प्रत्यय होता है। **भुक्त्वा व्रजति**, यहाँ भुज् धातु से क्त्वा प्रत्यय हुआ।

स्त्रियां क्तिन्। शास्त्री लिङ्ग भाव में क्तिन् प्रत्यय हो; **वृद्धिः, स्तुतिः** ।

हलश्च । हलन्त धातु से घञ् प्रत्यय हो। **रामः, भावः** । इस प्रकार से संक्षेप में मुख्य कृदन्त प्रत्ययों का स्वरूप बताया गया है।

6. तद्धित

तद्धितप्रत्यायन्त शब्दों का भाषा में मुख्यतः विशेषण के रूप में प्रयोग होता है। तद्धित संज्ञा अन्वर्थ - सार्थक है। **तेभ्यः प्रयोगेभ्यः हिता इति**- उन उन प्रत्ययों के लिये हितकर है; यह तद्धित पद का अर्थ है। तात्पर्य यह है कि तद्धित प्रत्ययों के द्वारा सुन्दर शब्द सिद्ध हो जाते हैं।

तद्धितं त्रिविधं वक्ष्ये सामान्यवृत्तिरीदृशम् ।[32] तद्धित प्रत्यय मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं– 1. **सामान्यवृत्ति तद्धित**, 2. **अव्यय तद्धित** और 3. **भाववाचक तद्धित।**

1. सामान्यवृत्ति तद्धित प्रत्यय– सामान्य वृत्ति तद्धित प्रत्यय से जो शब्द बनते हैं, उनका प्रयोग या तो विशेषण के रूप मे होता है या संज्ञा के रूप में। *अग्निपुराण* में तद्धित प्रत्यायन्त शब्दों का प्रत्यय के साथ उदाहरण देकर वर्णन किया गया है, उसी रूप में उनका स्वरूप आगे वर्णित किया जायेगा। लच्-अंसलः **(बलवान्), वत्सलः**। **इलच्-फेनिलम्** (फेनयुक्त)। **श- लोमशः** (लोमवान्)। **अण्-प्राज्ञः** (बुद्धिमान)। **व-केशवः** (घुघराले केशवाले भगवान् श्रीकृष्ण),

हिरण्यवः। **र-मधुरम्** (माधुर्ययुक्त)। **वलच्-रजस्वलः** (धूलभरा)। **इनि-धनी** (धनवान्)। **विनि-मायावी** (माया करनेवाला)। **आलच्-वाचालः** (बोलने में प्रखर)। **आलुच्-शीतालुः** (शीत न सहनेवाला)। अपत्यार्थक अणू-कौरवः (कुरू की सन्तान)। **वुन्-कौशकः** (जो कोश को जानता है)। जानने अर्थ में **अण्-चान्द्रः** (चन्द्र व्याकरण को पढ़नेवाला या जाननेवाला)। **अपत्यार्थक इञ्-दाशरथिः** (दशरथ का पुत्र, रामादि)। **घ- क्षत्रियः** (क्षत्रिय जाति)। **यत्-मुख्यम्** (मुख-सम्बन्धी)। **ख- कुलीनः** (उत्तम कुलवाला)। **इतच्-पण्डितः** (विवेकवाला)। **तरप्-पटुतर** (दो में श्रेष्ठता बताने के लिये)। **तमप्-पटुतमः** (बहुतों में तुलना करने के लिये)। **मात्रच्-जानुमात्रम्** (घुटने तक)। **ठक्-द्वौवारिकः** (द्वारपाल) ये तद्धितसामान्यवृत्ति प्रत्ययों के उदाहरण है।

2. अव्यय तद्धित प्रत्यय– तसिल्-ततः, यतः। **यस्मिन् काले** इस अर्थ में इदम् शब्द से अधुना प्रत्यय होने पर अधुना शब्द बनता है। यस्मिन् काले के ही अर्थ में दानी प्रत्यय करने पर **इदानीम्** बनता है। **सर्वस्मिन् काले** इस अर्थ में दा प्रत्यय करने पर सर्वदा रूप सिद्ध होता है। **कस्मिन् काले** अर्थ में किम् शब्द से कर्हि शब्द व्युत्पन्न होता है। **येन प्रकारेण** अर्थ में **थाल्** प्रत्यय करने से यथा बनता है। पुरस् अव्यय से अस्ताति प्रत्यय होने पर पुरस्तात् रूप सिद्ध होता है। **अस्मिन् अहनि** इस अर्थ में इदम् से द्य करने पर अद्य बनता है। **आहि-दक्षिणाहि** (दक्षिण दिशा में दूर)।

3. भाववाचक तद्धित प्रत्यय– त्व-पटोर्भावः=पटुत्वम् । तल् पटोर्भावः =पटुता । इमनिच्-पृथोर्भावः=प्रथिमा । य-सख्यु भावः=सख्यम् । ढक्-कपेर्भावः कर्म वा= कापेयम् । ष्यञ्-सैन्यम् (सेना) । अञ्-अश्वस्य भावः कर्म वा= आश्वम् । अच्-कुमारस्य भावः= कौमारम् । अञ्-यूनोर्भावः=यौवनम् । कन्-आचार्यस्य भावः कर्म वा=आचार्यकम् ।

7. उणादिसिद्धरूप

भाषा में कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनके प्रकृति और प्रत्यय का स्पष्ट पार्थक्य करना सम्भव नहीं होता है; अतः ऐसे शब्दों के संरक्षण के लिये शब्द के कुछ भाग की प्रकृति के रूप में और कुछ भाग की प्रत्यय के रूप में कल्पना कर ली जाती है; ऐसे

शब्दों को औणादिक शब्द कहते हैं। **उणि कारुश्च शिल्पी स्यात् जायुर्मायुश्च पित्तकम् ।**[33] **कारुः** – कारुः धातु से उण् प्रत्यय करने पर कारुःय पा धातु से तृच् करने पर पितृ शब्द; भृ से अतच् करने पर भरत आदि शब्द बनते हैं।

8. सुपः सप्त विभक्तयः । द्विविधं प्रातिपदिकं ह्यजन्तञ्च हलन्तकम्। प्रत्येकं त्रिविधं तत् स्यात् पुमांस्त्री च नपुंसकम् ॥[34] सु आदि सुप् सात विभक्तियाँ होती हैं। ये विभक्तियाँ प्रतिपादिक संज्ञक शब्दों से पर होती हैं। **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ।** धातु, प्रत्यय तथा प्रत्यान्त को छोड़कर अर्थवान् शब्द प्रतिपदिक कहलाते हैं। प्रातिपदिक शब्द दो प्रकार के होते हैं; अजन्त और हलन्त। इन दोनों प्रकार के प्रतिपादिकों के तीन भेद होते हैं। अजन्तपुलिङ्ग, अजन्तस्त्रीलिङ्ग, अजन्तनपुंसकलिङ्ग और हलन्तपुलिङ्ग, हलन्तशास्त्रीलिङ्ग व हलन्तनपुंसकलिङ्ग। *अग्निपुराण* में इन छः प्रकार के प्रातिपदिकों के प्रतिनिधि शब्दों को सातों विभक्तियों में प्रस्तुत किया गया है। विस्तारभय से उन्हें यहाँ प्रदर्शित नहीं किया गया है।

व्याकरण को साररूप में *अग्निपुराण* में समाहित किया गया है। सामान्यतया व्याकरणपरम्परा में स्वीकृत स्वरूप को *अग्निपुराण* में वर्णित किया गया है, लेकिन दो ऐसे स्थल हैं जहाँ प्रतीत होता है कि मतभिन्नता है– 1. अधिकरण कारक के *अग्निपुराण* में चार भेद बताए गये हैं जिसमें चौथा भेद सामीप्यक व्याकरण परम्परा में नहीं है; और तत्पुरुष समास के भेद में *अग्निपुराण* में प्रथमा तत्पुरुष नाम से तत्पुरुष समास का भेद बताया गया है, लेकिन व्याकरण परम्परा के अनुसार तत्पुरुष समास में समानाधिकरण्य होने पर उसे कर्मधारय नाम से अभिहित किया जाता है। सम्पूर्ण संस्कृत भाषा के व्याकरण को सार व संक्षेप में जानना हो तो *अग्निपुराण* में प्रदर्शित व्याकरण का स्वरूप अत्यधिक उपयुक्त है।

सन्दर्भ :

1. नीतिवचन
2. *अग्निपुराण*, 349.2
3. *वही*, 349.6
4. *महाभाष्य*, 1.1.68
5. *सिद्धान्तकौमुदी*
6. *अमरकोश*

7. अग्निपुराण, 354.2-4
8. वही, 354.4-7 1/2
9. वही, 354.8
10. वही, 354.9-10
11. वही, 354.11
12. वही, 354.12-13 1/2
13. वही, 354.14
14. वही, 354.25
15. वही, 354.25
16. वही, 354.16
17. वही, 354.16, 20
18. वही, 354.16
19. वही, 354.19
20. वही, 354.21
21. वही, 354.22
22. वही, 355.1
23. वही, 355.3
24. वही, 355.8
25. वही, 355.15
26. वही, 355.11
27. वही, 355.16
28. वही, 355.17
29. वही, 255.18
30. वही, 359.1
31. वही, 359.5
32. वही, 356.1
33. वही, 357.1
34. वही, 351.1, 4

अग्निपुराण : सृष्टितत्त्व

डॉ० रा०श० राघव *

अग्निपुराण ज्ञान-परम्परा का एक सर्वविश्रुत ग्रन्थ है। पौराणिक दर्शन में *अग्निपुराण* का महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसे आग्नेय पुराण भी कहा जाता है। यह अग्नि ऋषि द्वारा वसिष्ठ से किये गये सृष्टि विषयक प्रश्नोत्तरों का उपाख्यान है। इसके कर्ता ऋषि अग्नि हैं। ऋषियों ने सूत से पूछा कि ब्रह्मन् ! जगत् में जो सार और असार है हमें उपदेश दीजिये।[1]

पुराणों के प्रारम्भ में जो प्रश्न शौनकादि ऋषियों ने सूत से पूछा कि वही प्रश्न पूर्व में सूत ने व्यास से और उससे पूर्व व्यास ने वसिष्ठ से तथा वसिष्ठ ने अग्नि से किया था।[2] यहाँ व्यास और वसिष्ठ को लेकर दोनों की समकालिकता पर प्रश्न नहीं किया जा सकता क्योंकि इनसे पूर्व विविध युगों मन्वन्तरों में भिन्न-भिन्न व्यास हुए हैं। इस प्रकार व्यास् नाम एक उपाधि है।

इतिहास-दृष्टि से किसी ग्रन्थ को जब देखा जाता है तो सामाजिक जीवन-मूल्यों और धारणाओं का जाल हमारे सामने विविध रूपों विषयों को लेकर आता है। इनमें बहुत कुछ सभ्यता के जीवन मूल्यों का अंग और आदर्श की रूपरेखा बतानेवाला होता है। अस्मिता की इस प्राचीन धरोहर में ही किसी सभ्यता की श्रेष्ठता के बिम्ब उसकी कहानी कहते हैं। भारत की यह धरोहर सबसे निराली है।

भारतीय संस्कृति की धरोहर पुराणों में भारतीय जीवन मूल्यों, परम्पराओं के सिद्धान्त निहित हैं। अतः इनमें समाज को रचनात्मक आधार प्रदान करने की शक्ति है। प्रत्येक दर्शन-पन्थ में ऐसे ग्रन्थ ही उसका मूल स्रोत और जीवनाधार हैं।

---

* लेखक प्रमुख, भारतीय इतिहास संकलन योजना समिति, दिल्ली प्रांत

अग्निपुराण के सृष्टि-वर्णन में भारतीय दर्शनों की दृष्टि दिखलाई देती है। भारतीय आस्तिक दर्शनों की तत्त्वदृष्टि जगत् रचना में सूक्ष्म तत्त्वों का योग मानती है। पृथ्वी जलाग्नि, वायु आकाश के स्थूल रूपों में तन्मात्रा जगत् महत्त्वपूर्ण कारक है। वेदान्त में इसे एकादशक तन्मात्रा सृष्टि क़हा है।[5] *न्यायदर्शन* में सृष्टि में पृथ्वी, जलाग्नि आदि का स्थूल-स्थूल का सूक्ष्म-सूक्ष्म में उत्तरोत्तर गुणभाव है।[6] जैसे पृथ्वी का गुण गंध जलादि चारों में नहीं है। भूतसर्ग का यह सूक्ष्म क्रम जब क्रमशः स्थूल की ओर सत्ता रूप में परिवर्तित होता है तो सृष्टि-रचना का क्रम प्रारम्भ होता है। *वैशेषिकदर्शन* के अंतर्गत महत् आदि सूक्ष्मों से तन्मात्राओं और तदनन्तर स्थूल जगत् की सृष्टि कही हैं। *वेदान्तदर्शन* की दृष्टि को लेकर ही *अग्निपुराण* में 17वें अध्याय में विस्तृत विवेचन मिलता है। स्थूल सृष्टि जगत्पालक विष्णु की क्रीड़ा है किन्तु इसका प्रारम्भ सर्वप्रथम स्वर्ग-निर्माण से होता है।[7] स्वर्ग अति विस्तृत प्रकाश जगत् का आधिदैविक अर्थ है। इसका विस्तृत विवेचन त्रैलोक्य जीवन का रहस्य और स्वर्ग की अवधारणा नामक लेखों में एक ग्रन्थ में हमने किया है।[8]

स्वर्ग की उत्पत्ति सर्ग के प्रारम्भ में होती है। तदनन्तर ब्रह्माण्ड के स्वरूप की स्थिति, दिनरात्रि, प्रकृति पुरुषादि की उत्पत्ति होती है।[9] वेदान्त के समान ही अग्निपुराण महत् से अहंकार, उससे शब्द, आकाश, पुन : वायु, वायु से रूप तन्मात्रा, उससे अग्नि की उत्पत्ति हुई[10] अग्नि से रस तन्मात्रा तथा उससे जलोत्पत्ति हुई जल से गंध तन्मात्रा और उससे पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। सूक्ष्म से स्थूल सृष्टि का यही क्रम न्यायदर्शन में उत्तरोत्तर क्रमेण स्थूल सूक्ष्म सृष्टि रूप में वर्णित हुआ है।

अन्य पुराण-साहित्य के समान *अग्निपुराण* में भी रूपकों में लाक्षणिक शैली का निरूपण मिलता है। इसके लिये पुराकल्पीय वर्णन अनेक अध्यायों में बिखरा हुआ है। सर्वप्रथम देवासुर संग्राम में लक्षणा की विचित्र शैली तो है ही।[11] उससे पूर्व मत्स्यावतार[12] कूर्मावतार[13], वराह, हिरण्याक्ष, नृसिंह, ह्यग्रीवादि प्रसंग भी प्रथमाध्याय से लेकर तृतीयाध्याय पर्यन्त है।[14] अवतारों का यह प्रसंग वस्तुतः सृष्टि के प्रारम्भिक इतिहास की लाक्षणिक जानकारी देता है। ऐसे वर्णनों में शब्दों के विशेषार्थ हैं न कि साधारण अर्थ। वामनावतार और बलि प्रसंगों की शैली में सुन्दर रूपक गुंफित हुआ है। ऐसे प्रसंगों को मात्र रोचक कथा समझकर इतिहास इतर या काल्पनिक कहकर विषय की इतिश्री नहीं की जा सकती। शब्दों के विशेषार्थ अधिगृहीत होते ही इतिहास की कलियाँ स्वतः खुलने लगती हैं तथा पौराणिक दर्शन की सत्यता स्वयं सिद्ध होने लगती है। पाण्डवों के स्वर्गारोहण[15], ब्रह्मा के मानस पुत्रों

की उत्पत्ति[16], एकादश रुद्रों की उत्पत्ति[17], उनचास मरुतों की उत्पत्ति[18] तथा जगत्सृष्टि प्रकरण में ब्राह्मणः नवसर्गः प्रसंग, सोमादि उत्पत्ति के प्रसंग[19] भी इसके उदाहरण हैं। *अग्निपुराण* में भी एक विशेष शब्द 'क्षीर' है। अनेक स्थानों पर इसका अर्थ क्षीर नामक विशेष समुद्र है तो अनेक प्रसंगों में इसका अर्थ जीवनदायिनी ऊर्जा देने वाला विशेष पदार्थ 'दुग्धादि' है।[20]

पुराणों में स्वायम्भुव, चाक्षुष आदि मन्वन्तरों के नाम भी आये हैं। मन्वन्तरों का भी विशेषार्थ है। इनमें भिन्न-भिन्न दृष्ट-अदृष्ट सृष्टि है। मानसी सृष्टि मानस पुत्रादि की है जिसमें सृष्टि की सूक्ष्म अतिसूक्ष्म सृष्टि हुई है। यह सृष्टि प्राथमिक सृष्टि कहलाती है। जिसे वेदों दर्शनों में सूक्ष्म तन्मात्राओंवाली सृष्टि कहा जाता है। यह ब्रह्मा की मानसी सृष्टि कही जाती है। अतः *अग्निपुराण* की दृष्टि भी इसी सृष्टि का लाक्षणिक निरूपण हैं।[21]

लाक्षणिक निरूपण में यह भी सावधानी रखनी आवश्यक है कि एक समान शब्दों के अर्थ हर स्थान पर एक जैसे नहीं हैं। यथा 'ध्रुव' शब्द कहीं राजर्षि के आधिभौतिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[22] तो कहीं स्थान, नक्षत्र विशेष के आधिदैविक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[23] प्रारम्भिक सृष्टि से लेकर प्रारम्भ में उनके नामकरण, उनसे उत्पन्न योनियाँ, ओषधियों, वृक्षों, नदियों, सागरों, पर्वतों, नक्षत्रों, सूर्यों, अग्नियों, मरुतों, जीवों, जन्तुओं, जलों, सरोवरों, वस्तुओं, युगों, अवतारों, मन्वन्तरों, प्रजा, सृष्टि, देवों, राक्षसों, यक्षों, अप्सराओं, नागों, मृगों, रुद्रों, गन्धर्वों आदि में राजा रूप से कौन वर्तता है, यह प्रतिसर्ग वर्णन में पुराणकार ने बताया है। इस प्रकार प्राकृत 3 प्रकार और वैकृत 5 प्रकार (महत, भूत, इन्द्रिय, स्थावर, त्रिर्यक, देव, मानुषादि) की सूक्ष्म और स्थूल सृष्टि हुई।

अनेक वैदिक शब्द *अग्निपुराण* में आये हैं। ऐसा ही एक 'पदत्रयम्' शब्द विविध रूपों में मिलता है। सृष्टि इतिहास में सर्वप्रथम घटी सत्य घटनाओं का सांकेतिक वर्णन ही इस शब्द में निहित है। सर्ग प्रारम्भ में जो प्रक्रिया सृष्टि का कारण बनीं, उन्हीं का नाम कही 'त्रिपाद' रूप में वर्णित हुआ है तो कहीं सौर चक्र के तीन विभागों को 'पदत्रयम्' का नाम दिया गया।

'पदत्रयम्' शब्द की ऐतिहासिक व्याख्या भी त्रैलोक्य अवधारणा की गहराईयों का भास कराती है। *ऋग्वेद, यजुर्वेद, विष्णुपुराण* और यहाँ *अग्निपुराण* में विशेष वर्णन आया है। *ऋग्वेद, यजुर्वेद* के मंत्रों में श्रीविष्णु ने सौरमण्डल में तीन

पदीय सृष्टि को रचा ऐसा उल्लेख है।[24] ये तीन पद वहाँ पर अग्नि, जल और वायु हैं। *विष्णुपुराण* में वामनावतार में राजा बलि से तीन वचन मांगने का वर्णन है।[25] वामन रूप विष्णु ने हाथ में जल लेकर भू, भुवः स्वः इन तीनों लोकों को भिक्षा में मांग लिया, ऐसा *अग्निपुराण* में पाँचवें अध्याय में भी उल्लेख है।[26] वेद में त्रिपाद शब्द का सौरमण्डलीय या आधिदैविक अर्थ है। जबकि *विष्णुपुराण* और *अग्निपुराण* में इसे 'पदत्रयम्' कहकर आधिभौतिक अर्थ किया गया है।[27] जो प्रथम सृष्टि के इतिहास का बोध कराता है।

अग्निपुराण में शब्दों के अतिविशिष्टार्थ भी हैं। विष्णु के विविध अवतारों का वर्णन भी मत्स्य, कूर्म, वराह आदि के रूप में *अग्निपुराण* में हुआ है। जिनमें विष्णु रूप ईश्वर समय-समय पर अवतार ग्रहण करके जीव जगत् मानव सभ्यता को बचाते हैं। अतएव इस पुराण के आरम्भ में ही अग्नि ऋषि महर्षि वसिष्ठ को विष्णु प्रभाव का वर्णन करते हैं।[28] *अग्निपुराण* में विष्णु के प्रमुख अवतारों (मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध आदि) का वर्णन मिलता है।[29] समुद्र-मंथन के समय धन्वन्तरि और मोहिनी रूप का वर्णन किया गया है।[30] ये अर्थ वस्तुतः वेदार्थ के ही वाचक हैं। वेद में जिन शब्दों को संकेत रूप में अभिव्यक्त किया है, उनका यहाँ पर विशिष्ट प्रयोजक अर्थ देकर वर्णन किया गया है। 'विष्णु' शब्द वेद में जगत्पालक ईश्वरीय शक्ति के अर्थ में है। वहाँ विष्णु को महान्, विराट्, स्वर्गस्थान, ध्रुव, वैष्णवादि नामों से अभिहित किया है।[31] यह शक्ति या स्थान उत्तरस्थ ध्रुव नक्षत्र है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार चक्र है। *विष्णुपुराण* में भी विष्णु को जगत् का आधार कहा है। किन्तु *अग्निपुराण* में इसके साथ-साथ प्रारम्भिक सृष्टि के आधार स्रोतों, विभिन्न विषयों, भूत, जल, वृक्ष, प्राणी आदि की केन्द्रीय शक्तियों के निरूपण के सन्दर्भ में कश्यप वंश वर्णन करते हुए विष्णु को जगदाधार वर्णित किया है। **'सूर्याणां विष्णुरीश्वरः'** इसमें समस्त देदीप्यमान नक्षत्रों का स्वामी विष्णु को कहा है।[32] ये विष्णु साक्षात् ध्रुव नक्षत्र हैं जिसे वेदों में सृष्टि का आधारभूत स्थान माना गया है। समस्त तारामण्डल इसी ध्रुव रूप विष्णु की समाकर्षण शक्ति से स्व स्व परिक्रमा में गमन कर रहा है। सारा नक्षत्र मण्डल और ब्रह्माण्ड ध्रुव का ही साम्राज्य है।[33] सृजनकर्ता ब्रह्मा ने सृष्टि के विविध रूपों में प्रधान को नियुक्त किया है।[34]

पुराणों में इतिहासगत युग-युगान्तरों के महान् राजर्षियों का उपाख्यान मिलता है। *अग्निपुराण* में राजर्षियों की सांकेतिक वंशावली प्राप्त होती है। विस्तृत वर्णन तीनों वंशों के मिलते हैं। यहाँ त्रेतायुगीन श्रीराम और महाभारतकालीन

युधिष्ठिर, श्रीकृष्ण और बलराम का इतिहास है। अन्य पुराणों में अन्यान्य प्राचीन राजाओं के चरित्र भी विस्तार रूप में वर्णित हुए हैं। *अग्निपुराण* में विषय-बाहुल्य के कारण यह सम्भव नहीं रहा है। सात अध्यायों में यहाँ पर रामायण का विस्तृत उपाख्यान है।[35] तत्पश्चात् श्रीकृष्णावतार का वर्णन 12वें अध्याय में वर्णित हुआ है।[36] प्राचीन राजर्षियों के कुछ विशेष वंशों का उल्लेख जिनमें वैवस्वत मनु, अत्रि, हरि (श्रीकृष्ण वंश) स्वायम्भुव मनु, और कश्यप वंश प्रमुख हैं।[37] वैवस्वत मनु के वंश में *रामायण* का और श्रीराम का चरित्र का विस्तृत रूप में दिखाई देता है।[38] इस वंश में इक्ष्वाकु, सगर, भगीरथ, दिलीप, रघु-जैसे राजर्षि हुए हैं। 'हरिवंश' नाम के अध्याय में ब्रह्मात्मज अत्रि, सोम, पुरुरवा, आयु, नहुष, ययाति और यदु-जैसे राजर्षियों के नाम आये हैं।[39] यदु से यादव वंश विख्यात हुआ जिसमें वसुदेव और देवकी से श्रीकृष्ण का जन्म हुआ।[40] इस वंश में सोम आदि राजर्षि भी अति विख्यात हुए हैं। इसी वंश के नहुष को देव साम्राज्य का इन्द्र पद छोड़ना पड़ा था।

महाभारत के प्रसंग में अत्रि ऋषि का वर्णन आया है। अत्रि पुत्र सोम से बुध, बुध से ऐल, पुनः पुरुरवा उनके बाद आयु, नहुष, ययाति और पुरु के बाद ऐलीन, दुष्यन्त और भरत के नाम आते हैं। भरत के नाम पर भारत वंश भी कहा गया है।[41] भरत के वंश में ही शान्तनु के भीष्म और उनके अनुज चित्रांगद, विचित्रवीर्य तथा उनसे धृतराष्ट्र, पाण्डु के बाद दुर्योधन आदि कौरव, पाण्डव, अभिमन्यु, परीक्षित तक का इतिहास मिलता है।

स्वायम्भुव मनु के वंश में उत्तानपाद, ध्रुव और इसी वंश में चलकर राजा पृथु का अवतरण हुआ। पृथु ने पृथ्वी का सम्पूर्ण संस्कार किया। इसी के नाम पर वसुन्धरा का एक नाम 'पृथिवी' हुआ है। पुराणों में पृथु के जलीय, थलीय आविष्कारों के कुछ संकेत मिलते हैं।[42] इसी सर्वविख्यात वंश में एक प्राचीन बर्हिष नामक प्रजापति हुए हैं। प्राचीन बर्हिष प्रजापति की कन्या का उल्लेख *विष्णुपुराण* में और यहाँ *अग्निपुराण* में भी आया है।[43] यह आकाशगंगा के नक्षत्रों तक यात्रा करती थी। स्वायम्भुव मनु के वंश में भी दक्ष की उत्पत्ति कही गई है।

कश्यप वंश के वर्णन में *अग्निपुराण* में अनेक प्रकार की सृष्टि का उल्लेख है। कश्यप से आदित्य, विष्णु, त्वष्टा, धाता, अर्यमा आदि की उत्पत्ति हुई।[44] कश्यप की दिति पत्नी से हिरण्यकश्यपु और हिरण्याक्ष आदि राक्षस हुए जिन्हें दैत्य कहा गया। पुनः प्रह्लाद, विरोचन, बलि-जैसे विख्यात सम्राट् इसी वंश में हुए। चर जगत् के अनेक जीव भी इसी वंश में हुए ऐसा लाक्षणिक वर्णन *अग्निपुराण* में है।[45] इस

वर्णन में लक्षणा शब्द शक्ति का समन्वय इतिहासविदों के लिए विचित्र स्थिति पैदा करता है।

अग्निपुराण में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ब्रह्मविज्ञान का रहस्य है। वैदिक काल के सूक्ष्मतम आध्यात्मिक विज्ञान को प्राचीन महर्षियों ने जान लिया था जिसका उल्लेख *अग्निपुराण* में भी मिलता है।[46] तीन अध्यायों में *अग्निपुराण* में अंत में आत्मा के स्वरूप का सटीक निरूपण मिलता है। आत्मा का वाचक पद 'अहम्' यहाँ पर सरल भाषा में निरूपित किया गया है। *अग्निपुराण* में वेदार्थ के अनुसार आत्मा ब्रह्म ही है। या **'अयं आत्मा ब्रह्म'** इसे **'अहं अस्मि'** यों कहा जाता है।[48] आत्मा क्या है? इसी की विस्तृत व्याख्या अग्निपुराणकार ने की है जिसे इतिहास के संक्रमण काल में भुला दिया गया है। निश्चित ही *अग्निपुराण* में वैदिक और दार्शनिक मत का पूर्ण परिपालन दिखलाई देता है। इन्द्रियों, मन, प्राण, इन सबसे आत्मा परे है। अहंकार भी आत्मा नहीं है। आत्मा की व्याख्या करते हुए पुराणकार ने श्रुतियों से लेकर ही उसे सरल ढंग से समझाया है।

ब्रह्मविज्ञान के अंतर्गत अग्निपुराणकार अहं को आत्मस्वरूप का ही रूप मानते हैं। जब तक जीव अहं तत्त्व की अनुभूति नहीं कर पाता तब तक वह जगत् वासनाओं एवं कर्मों में उलझकर उन्हीं को सत्य मानता रहता है। किन्तु जीवत्व की भ्रांति मिटने पर मात्र आत्म (अहं तत्त्व) अवशिष्ट रहता है और जीव की यह अवस्था उसकी मुक्ति का आधार बनती है। अतः एव पुराणकार ने अध्याय 377 में ऐसा कहा है।[50] यह मोक्षावस्था की स्थिति है। इस अवस्था में जीव मन, बुद्धि, इन्द्रियादि से मुक्त हो जाता है। या उसकी रति वासना भाव से समाप्त हो जाती है क्योंकि फिर जीव मन, बुद्धि, इन्द्रियों से चलायमान नहीं होता है। वह केवल आत्मत्व में स्थित हो जाता है। यह अहं तत्त्व केवल साक्षी, चिन्मात्र, जाग्रत और स्वप्नादि अवस्था में अनुभूत होता है। यह नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य और आनन्दरूप है। यही समाधि बंधक का नाशकर्ता और अनन्त ज्ञानवाला है। साक्षात् आदित्यस्वरूप अखण्ड ओंकार यही है। यह अहं तत्त्व परमज्योतिर्मय होकर भी सांसारिक सब ज्योतियों से सर्वथा रहित है। यह निराकार आभा किसी भी सीमा या आकार से परे है। सब इन्द्रियों, सब वायुओं, रोग-शोक, मोहादि से सर्वथा दूर है और इसमें न कोई दिन, न रात्रि और न अंधकार ही है।[51]

वस्तुतः जीव में अहं तत्त्व का भाव उसके महान् पुण्यों का फल है। अहं

तत्त्व में विलीन जीव शरीरस्थ रहते हुए भी मुक्तात्मा स्वरूप हो जाता है। इस दृष्टि से *अग्निपुराण* का आध्यात्मिक महत्त्व ब्रह्म ज्ञान की स्थापना की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पूर्व पक्षियों के मत चाहे भारतीय दर्शन की अपूर्ण या अस्पष्टता को लेकर हों या अहं तत्त्व की परिभाषा को लेकर, सभी में ब्रह्मज्ञान-विषयक *अग्निपुराण* के तीन अध्याय[52] स्पष्ट व्याख्या करके ब्रह्मात्मा के स्वरूपका सही निर्धारण करने में सक्षम हैं।

पुराणकार ने एक अध्याय[53] में सृष्टि के सन्दर्भ में भारतीय ऋषियों द्वारा अन्वेषित तथ्यों का विश्लेषणवार विवेचन किया है। जिन विषयों की वर्तमान संसार के वैज्ञानिक अभी खोज तो दूर, क, ख, ग भी नहीं जान पाये हैं, उनका वर्णन भारतीय पौराणिक ग्रन्थों की वैज्ञानिकता और ऐतिहासिक गहराइयों के अनन्त भण्डार का पता कराता है। प्रलय और वह भी भिन्न-भिन्न कालांतरों में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है और यही नहीं वरन् वह अवश्यम्भावी है तथा निश्चित समय पर होती है। उसके बाद जगत् का रूप किस प्रकार का रहता है, यह वर्णन भी *अग्निपुराण* में मिलना इस ग्रन्थ के महत्त्व को स्वयं प्रकट करता है।

अग्निपुराणकार ने प्रकृति के विनाश का इतिहास इस पुराण में लिख दिया है।[54] पुराण रचयिता सृष्टि में होनेवाली अवश्यम्भावी घटनाओं को कल्प, युग, मन्वन्तर सहित वर्णन करते हैं। यहाँ सर्वप्रथम चार प्रकार के प्रलयों का वर्णन किया गया है। इनके नाम नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और आत्यन्तिक हैं। नित्य प्रलय में प्राणियों का लय होता है। उत्पन्न हुओं का विनाश नैमित्तिक लय में होता है। इसे ब्राह्मलय भी कहते हैं। चतुर्युग साहस्री के बाद प्राकृत लय होता है जिसमें प्रकृति का ही विलय हो जाता है। चतुर्थ प्रलय आत्यन्तिक है जिसमें समस्त आत्माओं का परमात्मा में विलय होता है। अर्थात् जीव देहों की निवृत्ति होकर समस्त जीव जगत् ब्रह्म में विलीन हो जाता है। प्रथम तीन प्रलयों से भिन्न यह प्रलय जीव जगत् का अस्तित्व बहुत लम्बे समय तक मिटा देती है– ऐसा वर्णन अग्निपुराणकार द्वारा वर्णित हुआ है।

सन्दर्भ :

1. *अग्निपुराण*, 1.2
2. *वही*, 1.4-9
3. *वही*, कूर्मावतार वर्णन, अध्याय 3

4. 'दर्शयामास रुद्राय...' —*वही*, 3.17-21
5. *वेदान्तदर्शन*, पृ० 35
6. *न्यायदर्शन*, पृ० 21
7. *अग्निपुराण*, 17.1
8. *वेदों के रहस्य* (डॉ० रा०श० राघव विरचित)
9. *अग्निपुराण*, 17.2
10. *वही*, 17.4-5
11. *वही*, अध्याय 3 सम्पूर्ण
12. *वही*, अध्याय 2 सम्पूर्ण
13. *वही*, अध्याय 3 सम्पूर्ण
14. *वही*, अध्याय 4 सम्पूर्ण
15. *वही*, अध्याय 15 सम्पूर्ण
16. *वही*, अध्याय 15
17. *वही*, अध्याय 15
18. *वही*, अध्याय 20
19. *वही*, अध्याय 15
20. *वही*, 18.17-18
21. *वही*, 18.29
22. *वही*, 18.1-7
23. *वही*, 18.35-36
24. *ऋग्वेद एवं यजुर्वेद*
25. *विष्णुपुराण*
26. *अग्निपुराण*, 3.5
27. *वही*, 5.10
28. *वही*, अध्याय 19
29. *वही*, अध्याय 2-16
30. *वही*, अध्याय 3
31. *ऋग्वेद*, विष्णुसूक्त
32. *अग्निपुराण*, 19.23
33. *वही*, 19.22
34. *वही*, अध्याय 19
35. *वही*, अध्याय 5-11
36. *वही*, अध्याय 12 सम्पूर्ण
37. *वही*, अध्याय 13-19 सम्पूर्ण
38. *वही*, अध्याय 5-11 सम्पूर्ण
39. *वही*, अध्याय 12 सम्पूर्ण

40. *वही*, 12.1-5
41. *वही*, अध्याय 13
42. *वही*, 17.14-15
43. *वही*, 18.26
44. *वही*, 19.1-2
45. *वही*, 18.13-18
46. *वही*, अध्याय 377-379
47. *सर्वदर्शन मीमांसा* (डॉ० रा०श० राघव, स्वयं लेखक द्वारा विरचित), पृ० 18
48. *अग्निपुराण*, 377.1
49. *वेदान्तसार*, पृ० 50-62
50. *अग्निपुराण*, 377.1
51. *वही*, अध्याय 377-378
52. *वही*, अध्याय 377-379
53. *वही*, अध्याय 368 सम्पूर्ण
54. *वही*, 368.1-2

अग्निपुराण : ज्योतिषशास्त्र

डॉ० विनोद कुमार शर्मा *

रतीय जीवन संस्कृति, सभ्यता एवं ज्ञान की आदि चिरन्तनधारा स्रोत वेद है। वेद पुरुषार्थ-चतुष्ट्य की प्राप्ति एवं इष्टप्राप्ति-अनिष्ट-परिहार हेतु लौकिक एवं अलौकिक उपाय बताता है। अतः **'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहार्थमलौकिकं लौकिकं च उपायं यो वेदयति सः वेदः ।'** वेद में हमारे तपःपूत ऋषियों ने योगसाधना और तपस्या के बल पर **'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'** तथा **'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** आदि सार्वभौमिक एवं प्रामाणिक सिद्धान्तों का आत्मसाक्षात्कार कर व्यष्टि और समष्टि अर्थात् जीव-ब्रह्माण्ड, नर-नारायण, आत्मा-परमात्मा, पुरुष और प्रकृति के मध्य तादात्म्य अर्थात् नित्य अभिन्नत्व को स्पष्ट किया है। सामान्यतया विराट् ब्रह्माण्ड तथा इसकी समस्त जड़-चेतन अवस्थिति (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) पञ्चमहाभूतों से निर्मित है। अतः **'महाभूतानि खं वायुः अग्निरापः क्षितिस्तथा । शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ।।'**[1] इस क्लिष्ट, गम्भीर, गहन एवं रहस्यात्मक ऋषियों की स्मृतियों में सुरक्षित ज्ञान की धारा के प्रवाह को व्यष्टि और समष्टि के हित हेतु अविछिन्न रूप से नित्य बनाए रखने अर्थात् जनसाधारण समुदाय को सरलता से बोधगम्य बनाने हेतु वेदांग, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और विशेषतः पुराणों आदि के आख्यायिकाओं के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

शतपथब्राह्मण के अनुसार चारों वेद और इतिहास, पुराण— ये सब महान् परमात्मा के उच्छ्वास हैं।[2] *अथर्ववेद* के अनुसार यज्ञ से यजुर्वेद के साथ ऋक्, साम,

---

* एसोसिएट प्रोफेसर, ज्योतिष विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नयी दिल्ली

छन्द और पुराण उत्पन्न हुए।[3] वास्तव में ऋषि-कण्ठों से कीर्तित वेदों के सत्य को जनसाधारण को सरलता से बोधगम्य बनाने हेतु भगवान् वेदव्यास को पुराणों के माध्यम से ऋषियों की स्मृतियों में सुरक्षित ज्ञान एवं आख्यानों का संकलन, विभागीकरण, व्यवस्थीकरण एवं स्पष्टीकरण कर प्रकाश में लाने का श्रेय प्राप्त है। पौराणिक साहित्य-सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक द्वापर के अन्त में और कलियुग के आरम्भ में व्यासदेव प्रकट होकर युगधर्म से अव्यवस्थित एवं कालक्रम से विशृंखल शास्त्रों का क्रमबद्ध समीचीन संकलन करते हैं। इस भाव की पुष्टि निम्न अवतरण से स्पष्ट है–

'कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य तदा विभुः ।
व्यासरूपस्तदा ब्रह्मा संग्रहार्थं युगे युगे ॥'
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे जगौ ।
तदष्टादशधा कृत्वा भूलोकेऽस्मिन् प्रकाशितम् ॥"[4]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वर्तमान शास्त्र-संहिताएँ एवं पुराण कृष्णद्वैपायन व्यास के द्वारा संपादित, निर्मित, रचित एवं ग्रंथितकर क्रमबद्ध रूप में संकलित किए गए हैं। अतः कहा गया है–

'अष्टादशपुराणानां वक्ता सत्यवतीसुतः'[5]

इस प्रकार अठारह पुराणों के प्रणेता भगवान् वेदव्यास कहलाये। यहाँ शंका द्योतित होती है कि महामहिम कृष्णद्वैपायन ने अन्य श्रुति-वाङ्मय-शास्त्रों के अनन्तर यदि पुराणों की रचना की तो इसका 'पुराण' नाम कैसे तर्कसंगत है? इसका उत्तर निरुक्त देता है– वह पुरातन होने के साथ ही नूतन है–

'पुराणं कस्मात् - पुरा नवं भवति'[6]

इसके साथ ही *अमरकोश* में पुराणों के पाँच लक्षण कहे गए हैं, यथा– **'पुराणं पञ्चलक्षणम्'**। इसी संबंध में *ब्रह्मवैवर्तपुराण* में कहा गया है–

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं विप्र पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥'

वस्तुतः वेदों की भाँति पुराण भी अनादि, अपौरुषेय एवं प्रामाणिक हैं। अतः हम निःसंकोच भाव से कह सकते हैं कि सर्वसाधारण जनसमुदाय को धर्म में संलग्न रखने के लिए सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय आदि भावना से ओतप्रोत

अष्टादश पुराणों का पठन, श्रवण, अध्ययन और मनन करने से जीव को पुरुषार्थ-चतुष्ट्य की प्राप्ति, विशेषतः भोग और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

विष्णुस्वरूप भगवान् अग्निदेव द्वारा महर्षि वसिष्ठ जी के प्रति उपदिष्ट ज्ञान-संकलन 'अग्निपुराण' नाम से द्योतित है। इस पुराण में 15 हज़ार श्लोक तथा 383 अध्याय हैं। देवलोक में यह पुराण एक अरब श्लोकों में निबद्ध है। *पद्मपुराण* के अनुसार भगवान् विष्णु के अंगों का विग्रह ही पुराण है। इस दृष्टि-सिद्धान्त के आधार पर *अग्निपुराण* श्रीहरि विष्णु भगवान् का बायाँ चरण है। अतः **'वामो ह्याग्नेयमुच्यते'** [7]। इस पुराण में सभी परा-अपरा विद्याओं का वर्णन है। अतः इस सन्दर्भ में कहा गया है– **'आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वाः विद्याः प्रदर्शिताः।'** [8]

ऐसे वेदसम्मत, सर्वविद्यायुक्त और ब्रह्मस्वरूप *अग्निपुराण* का पठन, श्रवण, अध्ययन और मनन करने से निश्चित रूप से जीव को पुरुषार्थ-चतुष्ट्य की प्राप्ति होती है। यह पुराण अध्येताओं एवं गवेषकों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतः–

'सारात्सारो हि भगवान् विष्णुः सर्गादिकृद्विभुः ।
ब्रह्माहमस्मि तं ज्ञात्वा सर्वज्ञत्वं प्रजायते ॥' [9]

अग्निपुराण में प्रतिपादित शास्त्रों में ज्योतिषशास्त्र भी है। अतः सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक है कि ज्योतिष क्या है? जिस शास्त्र के द्वारा ज्योतिर्मय पिण्डों, ग्रह-नक्षत्रदि की गति, स्थिति, परिक्रमा, काल एवं भौतिक अवस्थाओं का सम्यक् ज्ञान होता है, उसे ज्योतिषशास्त्र कहते हैं। अतएव–

'सूर्यादितारा-ग्रह-नक्षत्राणां स्थितिमधिकृत्य कृतं शास्त्रं ज्योतिषशास्त्रमिति ।' 'ग्रहाणां बोधकं शास्त्रं ज्योतिषशास्त्रमिति ।'

यज्ञादि शुभ वैदिक कार्यों के संपादन के लिए ग्रहों की गति-स्थिति के आधार पर शुभ काल का निर्णय किया जाता है। अतः **'कालविधानशास्त्रं ज्योतिषशास्त्रम्'** या **'कालाश्रितज्ञानं ज्योतिषशास्त्रम् ।'**

ज्योतिषशास्त्र पूर्णतः कर्मफल के सिद्धान्त पर आधारित है और इस संबंध में कहा गया है–

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥'[10]

ज्योतिषशास्त्र एक ज्योतिः (प्रकाश) है। जिस प्रकार अंधेरे में रखे हुए पदार्थों को दीपक देदीप्यमान (प्रकाशित) करता है, उसी प्रकार जन्म-जन्मान्तर में कृत शुभाशुभ कर्मों के फल को ज्योतिषशास्त्र अभिव्यञ्जित करता है, यथा–

'यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः पंक्तिं व्यञ्जयति
शास्त्रमेतत्तमसि द्रव्याणि दीप इव ॥'

अग्निपुराण में ज्योतिषशास्त्र के सिद्धान्त (गणित), संहिता (मेदिनी) और होरा (फलित)– तीनों स्कन्धों की विविध प्रायशः सभी शाखाओं एवं प्रशाखाओं के प्रतिपाद्य विषयों का सरल तथा रोचक शैली में विशाल एवं व्यापक ज्ञान-भण्डार संगृहीत है। अतः *अग्निपुराण* में व्याख्यायित फलित ज्योतिष की मुहूर्तशास्त्र, प्रश्नशास्त्र, ताजिकशास्त्र, वास्तुशास्त्र स्वरशास्त्र, शकुनशास्त्र, भैषज्य, ज्योतिष आदि सभी शाखाओं का ज्ञान आवश्यक रूप से करना चाहिए।

अग्निपुराण में ज्योतिषशास्त्र, कालगणना-पञ्चांग साधन, युद्धजयार्णव-संबंधी विविध योग, युद्धजयार्णवीय का सार, नक्षत्र-संबंधी पिण्ड, विभिन्न बल, कोटचक्र, अर्घकाण्ड, विविधमण्डल, घातचक्र, सेवाचक्र, नाना प्रकार के बल, नक्षत्रों के त्रिनाड़ी चक्र, फणीश्वर चक्र, भुवनकोश, संवत्सर फल, प्रासाद के लक्षण, नगर, गृह की प्रतिष्ठा विधि, नगर-वास्तु का वर्णन आदि अनेक अध्याय पूर्व रूप से *ज्योतिषशास्त्र* के किसी-न-किसी स्कन्ध की विशेष शाखा या प्रशाखा से संबंधित विषयों का प्रतिपादन करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से अध्यायों के विशेष स्थल भी ज्योतिषीय विषयों से संबंधित हैं। परन्तु प्रस्तुत लेख में *अग्निपुराण* में ज्योतिष तथा वास्तु से संबंधित विविध अध्यायों में प्रतिपादित विषयों का उल्लेख न करके ज्योतिषशास्त्र नामक अध्याय में अग्निदेव द्वारा मुनियों को शुभाशुभ का विवेक प्रदान करनेवाले चार लक्ष श्लोकोंवाले विशाल ज्योतिषशास्त्र के सारभूत अंश का उल्लेख करना अभीष्ट है। इस अध्याय में वर-वधू के मेलापक की प्रमुख तीन (नक्षत्र-मेलापक, भाव-मेलापक एवं ग्रह-मेलापक) विधियों में से नक्षत्र मेलापक विधि के अंतर्गत भकूट दोष का परिहार सहित सम्यक् एवं सरल उल्लेख, तारा अस्त विचार एवं विविध महत्त्वपूर्ण संस्कारों एवं कार्यों के मुहूर्तों, तथा इसके अतिरिक्त रोगमुक्त स्नान-मुहूर्त, क्रय-विक्रय मुहूर्त, गृहप्रवेश मुहूर्त, धान्य मुहूर्त, देवादि प्रतिष्ठा मुहूर्तों के साथ-साथ वृद्धि के लिए मन्त्रों, त्रिपुष्कर योग नामक मुहूर्तों, ग्रहण में दान

के महत्त्व, रोग की स्थिति का विचार, रोग-शान्ति के उपाय आदि का संपादन किया गया है।

नक्षत्र मेलापक विधि के अंतर्गत वर-वधू की राशि संख्या के परस्पर सम्बन्ध को शुभ-अशुभ बतलाया गया है। कन्या की राशि से वर की राशि संख्या छः-आठ, नौ-पाँच और दो-बारह हो तो विवाह शुभ नहीं होता है। शेष दस-चार, ग्यारह-तीन और सम-सप्तक (सात-सात) हो तो विवाह शुभ होता है, किन्तु यदि कन्या और वर की राशि के स्वामियों में परस्पर मित्रता हो या दोनों की राशियों का एक ही स्वामी हो अथवा दोनों की ताराओं (जन्म-नक्षत्रों) में मैत्री हो तो नवम-पञ्चम तथा द्विर्द्वादश दोष होने पर भी विवाह कर लेना चाहिए, परन्तु षडाष्टक दोष विशेषतः शत्रु षडाष्टक दोष में कदापि विवाह नहीं करना चाहिए।

विवाह में तारा अस्त अर्थात् गुरु-शुक्र अस्त विचार के संबंध में कहा गया है कि इनके अस्त रहने पर विवाह नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने पर वधू के पति का निधन हो जाता है। गुरु क्षेत्र अर्थात् धनु और मीन राशि में सूर्य हो या सूर्य के क्षेत्र (सिंह) में गुरु हो तो भी विवाह नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसे समय में किया गया विवाह वैधव्यकारक होता है।[12]

इसी अध्याय में संस्कार-मुहूर्त के संबंध में कहा गया है कि बृहस्पति के वक्र तथा अतिचारी होने पर विवाह तथा उपनयन नहीं करना चाहिए। आवश्यक होने पर अतिचार के समय में डेढ़ मास तथा वक्र होने पर चार मास छोड़कर शेष समय में विवाह-उपनयनादि शुभ संस्कार किए जा सकते हैं। चैत्र-पौष मास में, रिक्ता तिथियों में, भगवान् के सोने पर, मंगल तथा रविवार में, चन्द्रमा के क्षीण रहने पर विवाह करना शुभ नहीं होता है। संध्याकाल अर्थात् गोधूलि-वेला विवाह में शुभ होती है। रोहिणी, तीनों उत्तरा (उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद) मूल, स्वाती, हस्त, रेवती नक्षत्र विवाह में शुभ होते हैं। विवाह में द्विस्वभाव एवं स्थिर लग्न तथा चर लग्नों में तुला लग्न शुभ होते हैं। विवाह, कर्णवेध, उपनयन तथा पुंसवन, अन्नप्राशन तथा चूड़ाकरणादि संस्कारों में विद्ध नक्षत्रों को वर्जित माना गया है।[13]

पुंसवन-संस्कार में श्रवण, मूल, पुष्य नक्षत्र, रवि, मंगल, बृहस्पतिवार तथा कुम्भ, सिंह एवं मिथुन लग्न शुभ होते हैं। हस्त, मूल, मृगशीर्ष और रेवती नक्षत्रों में तथा बुध और शुक्रवार में बालकों के निष्कासन का मुहूर्त शुभ होता है। रवि, सोम, बृहस्पति तथा शुक्र– इन दिनों में मूल नक्षत्र में प्रथम बार ताम्बूल-भक्षण करना

चाहिए। शुक्र तथा बृहस्पतिवार को मकर और मीन लग्न में हस्तादि (हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा) पाँच नक्षत्रों, पुष्य, कृत्तिका, रोहिणी तथा मृगशीर्ष नक्षत्रों में अन्नप्राशन करना चाहिए। अश्विन, रेवती, पुष्य, हस्त, ज्येष्ठा, रोहिणी और श्रवण नक्षत्रों में नवीन अन्न और फल का भक्षण शुभ होता है। पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपद, मघा, भरणी, स्वाती, श्रवण, घनिष्ठा तथा शतभिषा नक्षत्रों, रवि, शनि और मंगलवार को रोग-विमुक्ति हेतु स्नान शुभ होता है।[14]

भरणी, आश्लेषा, धनिष्ठा, तीनों पूर्वा और कृत्तिका नक्षत्रों में खरीदी गई वस्तु हानिकारक अर्थात् घाटा देनेवाली तथा इन नक्षत्रों में बेची गई वस्तु लाभदायक होती है। इसके अतिरिक्त अश्विनी, स्वाती, चित्रा, रेवती, शतभिषा तथा श्रवण नक्षत्रों में सामान खरीदना लाभदायक तथा बेचना अशुभ अर्थात् हानिदायक होता है। भरणी, तीनों पूर्वा, आर्द्रा, आश्लेषा, मघा, स्वाती, कृत्तिका, ज्येष्ठा और विशाखा– इन नक्षत्रों में सेवा-कर्म नहीं करना चाहिए तथा दूसरों को द्रव्य देना, ब्याज पर द्रव्य देना, धरोहर के रूप में रखना आदि कार्य भी शुभ नहीं होते हैं। तीनों उत्तरा, श्रवण और ज्येष्ठा नक्षत्र राज्याभिषेक के लिए शुभ होते हैं। चैत्र, ज्येष्ठ, भाद्रपद, आश्विन, पौष और माघ– इन मासों को छोड़कर शेष मास गृहारम्भ के लिए शुभ होते हैं। अश्विन, रोहिणी, मूल, तीनों उत्तरा, मृगशीर्ष, हस्त और अनुराधा- ये नक्षत्र और मंगल तथा रविवार को छोड़कर शेष दिन गृहारम्भ, तड़ाग, वापी एवं प्रासादारम्भ के लिए शुभ होते हैं। जब गुरु सिंह राशि में हो तब, गुर्वादित्य अर्थात् सिंह राशि के गुरु और धनु एवं मीन राशि के सूर्य में, अधिक मास में और गुरु-शुक्र के बाल, वृद्ध तथा अस्त रहने पर कोई कार्य नहीं करना चाहिए। श्रवण से पाँच नक्षत्रों अर्थात् श्रवण, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद और उत्तराभाद्रपद– इन पंचन संज्ञक नक्षत्रों में तृण तथा काष्ठों के संग्रह करने से अग्निदाह, भय, रोग, राजपीड़ा तथा क्षति है। धनिष्ठा, तीनों उत्तरा, शतभिषा– इन नक्षत्रों में गृह प्रवेश करना शुभ होता है। द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी, सप्तमी, त्रयोदशी– इन तिथियों में नौका बनवाना शुभ होता है। धनिष्ठा, हस्त, रेवती, अश्विनी नक्षत्रों में राजा का दर्शन करना शुभ तथा तीनों पूर्वा, धनिष्ठा, आर्द्रा, कृत्तिका, मृगशिरा, विशाखा, अश्लेषा और अश्विनी– इन नक्षत्रों में आरम्भ की गई युद्ध, यात्रा सम्पत्ति– लाभपूर्वक सिद्धिदायिनी होती है। कृषि-कर्म के संबंध में स्वाती, तीनों उत्तरा, रोहिणी, मृगशिरा, मूल, पुनर्वसु, पुष्य, हस्त तथा श्रवण नक्षत्रों में सामान्य कृषि-कर्म करना शुभ होता है। पुनर्वसु, तीनों उत्तरा, स्वाति, पूर्वाफाल्गुनी, मूल, ज्येष्ठा और शतभिषा– इन

नक्षत्रों में रवि, सोम, गुरु तथा शुक्र– इन वारों में, वृष, मिथुन, कन्या– इन लग्नों में, द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी, सप्तमी, दशमी और त्रयोदशी– इन तिथियों में हल-प्रवहण आदि कृषि-कर्म करना शुभ होता है। रेवती, रोहिणी, ज्येष्ठा, हस्त, कृत्तिका, अनुराधा और तीनों उत्तरा– इन नक्षत्रों में शनि एवं मंगलवार को छोड़कर अन्य दिनों में बीज वपन करना, सभी प्रकार की सम्पत्तियों की प्राप्ति के लिए शुभ होता है।

हस्त, श्रवण, मूल, रेवती, पूर्वाफाल्गुनी, अनुराधा, मेघा, मृगशीर्ष– इन नक्षत्रों तथा मकर लग्न में धान्य-छेदन (धान-फसल काटने का) मुहूर्त शुभ होता है। इसके अतिरिक्त हस्त, चित्रा, पुनर्वसु, स्वाती, रेवती, श्रवण, धनिष्ठा और शतभिषा नक्षत्रों में भी धान्य-छेदन शुभ होता है। स्थिर लग्न तथा शुभ वारों अर्थात् बुध, गुरु, और शुक्रवार को भरणी, पुनर्वसु, मेघा, ज्येष्ठा, तीनों उत्तरा– इन नक्षत्रों में अनाज को घर में रखना शुभ होता है।[15]

इस प्रकार अष्टादश पुराण वेदों-वेदांगों में निहित ज्ञान-विज्ञानमय राशि को सरल एवं बोधगम्य शैली में सर्वसाधारण को धर्म में अनुरक्त रखने एवं उनके हित एवं सुख की प्राप्ति के लिए समुपस्थित करते हैं।

सन्दर्भ :

1. *महाभारत*, वनपर्व, 201.16
2. *शतपथब्राह्मण*, 14.02.04.10
3. *अथर्ववेद*, 11.07.24
4. *पद्मपुराण*, सृष्टिखण्ड, 01.51-52
5. *शिवपुराण*, रे.ख.
6. *निरुक्त*, 03.19.24
7. *पद्मपुराण*, स्वर्गखण्ड, 62.04
8. *अग्निपुराण*, 383.51
9. *वही*, 01.04
10. *गरुड़पुराण*, 05.51
11. फ. मा. श्लोक 03
12. *अग्निपुराण*, 121.1-5
13. *वही*, 121.6-9
14. *वही*, 121.10-15
15. *वही*, 121.33-51

अग्निपुराण : चिकित्साशास्त्र

अरविन्द कुमार *

भारतीय संस्कृति के परिचायक विभिन्न ग्रन्थों की भाँति पुराण भी महत्त्वपूर्ण हैं। यास्क के अनुसार 'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति है– **'पुरा नवं भवति'**।[1] अर्थात् जो प्राचीन होकर भी नवीन होता है। *वायुपुराण* में कहा गया है– **'पुरा अनति'** अर्थात् जो प्राचीनकाल में जीवित था।[2] *पद्मपुराण* में भी इसकी व्युत्पत्ति दी गई है– **'पुरा परम्परां वष्टि कामयते'** अर्थात् जो प्राचीनता (परम्परा) की कामना करता है, वह पुराण कहलाता है।[3] *ब्रह्मपुराण* में भिन्न व्युत्पत्ति देते हुए कहा गया है– **'पुरा एतत् अभूत्'** अर्थात् प्राचीनकाल में ऐसा हुआ।[4]

सभी व्युत्पत्तियों पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल की स्थिति ही पुराण का वर्ण्य विषय है। इसलिए इतिहास के साथ पुराण का घनिष्ठ संबंध है और दोनो का सम्मिलित रूप से 'इतिहासपुराण' भी कहा जाता है। जो वेदों के अर्थ को जानने के लिए आवश्यक है– **'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थं समुपबृंहयेत्**।[5] पुराण के पञ्चलक्षण से ही पुराणों में वर्णित विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है।[6] अठारह पुराणों में देवताओं के वंश, मन्वन्तर के साथ-साथ प्राकृत, वैकृत आदि सर्गों के माध्यम से सृष्टि तत्व का वर्णन है। अनेक प्रकार की विद्याएँ, शास्त्र, विज्ञान, भूगोल आदि भी वर्णित हैं। अश्वशास्त्र, रत्नपरीक्षा, वास्तुविद्या, ज्योतिष, सामुद्रिकशास्त्र, धनुर्विद्या, आयुर्वेद आदि ऐसी विद्याएँ भी वर्णित हैं जो मानव को शारीरिक, बौद्धिक व मानसिक रूप से विकसित होने के लिए आवश्यक हैं। प्रत्येक

---

* शोध छात्र, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

व्यक्ति को स्वस्थ और निरोगी शरीरयुक्त होने में आयुर्वेद महत्त्वपूर्ण है जिसका विस्तृत वर्णन *अग्निपुराण* में है। अतएव यहाँ पर *अग्निपुराण* में वर्णित आयुर्वेद व चिकित्साशास्त्र के अन्तर्गत विभिन्न रोगों, उनके निदान के उपायों व शरीर को स्वस्थ रखने हेतु अनेक आयुर्वेदिक औषधियों के प्रयोग पर विचार प्रमुख विषय है। *सुश्रुतसंहिता* में आयुर्वेद के विषय में कहा गया है– **आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वाऽऽयुर्विन्दन्ति इत्यायुर्वेदः।** [7] *अग्निपुराण* में उसी आयुर्वेद का वर्णन है जिसे भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत को उपदेश किया था।[8] धन्वन्तरि ने सुश्रुत को अनेक रोगों को और उनके बचाव व रोकथाम के लिए अनेक प्रकार की आयुर्वेदिक ओषधियों के प्रयोग के विषय में बताया था जिनके प्रयोग से स्वस्थ व्यक्ति भी विभिन्न रोगों से बचाव के लिए कर सकता है। *अग्निपुराण* में चार प्रकार के रोगों का वर्णन है–[9]

शारीर रोग	ज्वर, कुष्ठ आदि
मानस रोग	क्रोध आदि
आगन्तुक रोग	चोट आदि से होने वाले रोग
सहज रोग	भूख, बुढ़ापा आदि

अतएव यहाँ पर ऐसे ही कुछ रोगों व उनके निदान के विषय में बताया गया है–

1. ज्वररोग– ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को उपवास कराना चाहिए तथा सोंठ से युक्त धान के लावा का मांड, नागरमोथा, पित्तपापड़ा, खश, चन्दन, सुगन्धबाला और सोंठ के साथ अर्धपक्व जल प्यास ज्वर की शान्ति के लिए देना चाहिए।[10] छः दिन बीत जाने पर चिरायते-जैसे कड़ुवे द्रव्य का काढ़ा देना चाहिए। साठी, तीन्नी, लाल अगहनी तथा प्रमोदक धान के पुराने चावल का भात इत्यादि ज्वर में पथ्य होते हैं।

2. रक्तपित्त रोग– यदि रक्तपित्त अधोगामी होता है तो वमन हितकारी होता है और ऊर्ध्वगामी होता है तो विरेचन हितकारी होता है। इसमें बिना सोंठ के नागरमोथा, पित्तपापड़ा, खश, चन्दन, सुगन्धबाला (षडङ्ग) का क्वाथ देना चाहिए। इस रोग में जौ का सत्तू, गेहूँ का आटा, धान का लावा, यव के बने भोज्य पदार्थ, अगहनी का चावल, सोंठ, चना और मूँठा खाने योग्य होते हैं। घी-दूध से बनाए गए गेहूँ के पदार्थ (दलिया, हलुवा), बलवर्धक रस और छोटी मक्खी का शहद भी

लाभदायक होता है।[11]

3. कुष्ठरोग– पेय बनाने के लिए मूँग एवं मसूर का प्रयोग, खाने के लिए पुराने चावल का उपयोग, नीम व पित्तपापड़ा का साक एवं जांगलरस कुष्टरोगियों के लिए हितकारी है। वायविडङ्ग, कालीमिर्च, नागरमोथा, कूठ, पठानी, लोध, हुरहुर, मैनसिल तथा वच– इन्हें गोमूत्र में पीसकर लगाने से कुष्ठरोग का नाश होता है।[12]

4. वातरोग– पुराना जौ, गेहूँ, चावल, जाँगलरस, मूँग, आँवला, खजूर, मुनक्का, छोटी बेर, मधु, घी, दूध, शक्र (इन्द्रयव), नीम, पित्तपापड़ा, वृष (बलवर्धक द्रव्य) तथा तक्रारिष्ट ये सभी वातरोगियों के लिए प्रशस्त माने गए हैं।[13]

5. हृदयरोग– हृदय के रोगियों को विरेचन कराना चाहिए। उसके क्षय के लिए रोगी की भोजन में लाल अगहनी के धान का चावल, नीवार तथा कलम आदि लाभप्रद होते हैं।[14]

6. हिचकी रोग– हिचकीवालों के लिए पिप्पली हितकारी होती है। छाँछ, आरनाल, सीधु तथा मोती ठंडे जल से लेने से हिचकी के रोग में विशेष लाभ होता है।[15]

7. तृष्णा (प्यास) रोग– अगहनी के चावल का जल, केवल गर्म या शीतोष्ण गर्म दुग्ध– ये तृष्णा के नाशक हैं। मोथा और गुड़ से बनी हुई गोली मुख में रखने से प्यास बुझ जाती है।[16]

8. फोड़ा-फुन्सी रोग– शरीर में फोड़े-फुन्सी (विसर्पी) के निकले होने पर रोगी को मूँग, अरहर, मसूर के जूस, तिलयुक्त जांगल रस, सेंधा नमक के साथ घी, दाख, सोंठ, आँवला और अन्नाय के जूस के सातह् पुराने गेहूँ, जौ और अगहनी के चावल का सेवन करना चाहिए। उस चने के साथ शहद, मुनक्का से बना जल पिलाना चाहिए।[17]

9. दन्तरोग– ठण्डे जल के साथ लिया गया अन्न और तिलों का भक्षण दाँतो को मज़बूत बनानेवाला तथा परम तृप्तिकारक होता है। तिल के तेल से कुल्ला करने से दाँत अत्यन्त मज़बूत होते हैं। सभी प्रकार के कृमियों के नाश के लिए वायविडंगचूर्ण और गोमूत्र का प्रयोग करना चाहिए।[18]

10. नेत्ररोग– व्योष (सोंठ, काली मिर्च और पीपल) त्रिफला और तूतिया

जल मिलाकर डालें। यह तथा रसाञ्जन (रासोत)– ये नेत्र के समस्त रोगों को दूर करनेवाले होते हैं।[19] लोध काँजी तथा सेंधा नमक को घी में भूनकर पीस दें और उसका आँखों पर लेप करने से सभी प्रकार के नेत्र रोगों का विनाश होता है और आँखों से आँसू निकलने का दोष दूर होता है। पहाड़ी मिट्टी और सफेद चन्दन का आँखों के ऊपर लेप करना नेत्रों के लिए हितकारी है। नेत्रों के रोगों के विनाश के लिए सदैव त्रिफला का प्रयोग करना चाहिए।[21]

11. बलपुष्टिवर्धन– दीर्घ व स्वस्थ जीवन की इच्छावाले को रात्रि में घी तथा मधु के साथ त्रिफला खाना चाहिए। शतावरी के रस में सिद्ध घी तथा दूध बलवर्धक होता है।[22] कलम्बिका (करेमू का शाक) और उड़द भी बलवर्धक होते हैं। घी और दुग्ध भी बलवर्धक होते हैं। पूर्ववत् मुलट्ठी के साथ त्रिफला आयु को बढ़ाने वाली होती है।[23]

12. शिरोविरेचन– शिरोविरेचन के लिए गुड़ के साथ सोंठ हितकारी है।[24] आँवले को घी में पीसकर सिर में लेप करने से तथा स्निग्ध व गर्म भोजन करने से सिर कि रोगों का विनाश होता है।[25]

त्रिदोष संचय-प्रकोप

अग्निपुराण में वर्णित छः ऋतुओं में वात, पित्त और कफ (दोषत्रय) का संचय, प्रकोप व उपशमन निश्चित रूप से होता रहता है। नाभि के ऊपर कफ का स्थान होता है नाभि के नीचे पित्त का स्थान होता है, गुदा तथा तथा श्रोणि भाग वात का स्थान होता है। फिरभी ये तीनों सम्पूर्ण शरीर में संचरण करते हैं। उनमें भी वायु विशेष रूप से संचरण करती रहती है।[26] दोषत्रय की विभिन्न ऋतुओं में स्थिति इस प्रकार है[27]–

शिशिर	वसन्त	ग्रीष्म	वर्षा	शरद्	हेमन्त	
कफ	संचय	प्रकोप	प्रशमन	वात	संचय	प्रकोप
प्रशमन	पित्त	संचय	प्रकोप	प्रशमन		

सुश्रुतसंहिता में भी इसी क्रम में ऋतु-वर्णन है। शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतु में उत्तरायण ह़ोने से सूर्य का बल उत्तरोत्तर बढ़ता है जिसमें तिक्त, कषाय एवं कटु रस बलवान् होते हैं जिसमें प्राणियों का बल उत्तरोत्तर घट जाता है जबकि वर्षा, शरद एवं हेमन्त ऋतु में दक्षिणायन होने से चन्द्रमा का बल उत्तरोत्तर बढ़ता है तथा अम्ल, लवण व मधुर रस बलवान होते हैं जिससे प्राणियों का बल उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है।[29]

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि *अग्निपुराण* में चिकित्साशास्त्र के अंतर्गत विभिन्न रोगों के उपसमन के लिए ऐसी ओषधियों के उपयोग को बताया गया है जिनका उपयोग दैनिक जीवन में खाद्य-पदार्थों में किया जाता है। यद्यपि सामान्यतः इन ओषधियों का प्रयोग किया जाता है, तथापि अनेक रोगों से बचाव की दृष्टि से यदि आँवला, काली मिर्च, दालचीनी, शहद, नीम, सोंठ, मुनक्का, सेंधा नमक, त्रिफला, सौंफ आदि का निरन्तर प्रयोग किया जाय तो विभिन्न ऋतुओं मे होनेवाले रोगों से बचा जा सकता है और एक निरोग जीवन यापन किया जा सकता है। अतः *अग्निपुराण* में वर्णित अन्य अनेक शास्त्रों की भाँति चिकित्साशास्त्र भी मानव के लिए हितकारी व कल्याणकारी तथ्यों को प्रस्तुत करता है।

सन्दर्भ :

1. *निरुक्त*, 3.19
2. *वायुपुराण*, 1.203
3. *पद्मपुराण*, 5.2.53
4. *ब्रह्माण्डपुराण*, 1.1.173
5. *निबन्धशतकम्*, पृ० 30
6. **'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।**
   वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥ —*विष्णुपुराण*
7. *सुश्रुतसंहिता*, सूत्रस्थान, 1.15
8. *अग्निपुराण*, 279.1
9. *वही*, 280.1
10. *वही*, 279.3,4
11. *वही*, 279.8,9
12. *वही*, 279.15, 16
13. *वही*, 279.25, 26
14. *वही*, 279.27
15. *वही*, 279.28
16. *वही*, 279.34
17. *वही*, 279.36,38
18. *वही*, 279.41,42
19. *वही*, 279.46
20. *वही*, 279.47
21. *वही*, 279.48
22. *वही*, 279.49

23. *वही*, 279.50

24. *वही*, 279.61

25. *वही*, 279.43

26. *वही*, 280.34,35

27. *वही*, 280.22,27

28. *सुश्रुतसंहिता*, सूत्रस्थान, 6.6-7

अग्निपुराण : श्रीरामोक्त राजधर्म

डॉ० हर्षवर्धन सिंह तोमर *

दिक संस्कृति ही प्राचीन भारतीय संस्कृति का मूलाधार रही है, तदनुरूप वेद ही सनातन हिन्दू धर्म के मूल और विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं जिन्हें अपौरुषेय समझा जाता हैं।[1] वैदिक वाङ्मय भारतीय संस्कृति का परिचायक है, लेकिन इस वाङ्मय के तात्त्विक गूढ़ दर्शन को जनसाधारण तक पहुँचाने का श्रेय पुराणों को ही दिया जाता है। इस दृष्टि से भारतीय षड् वेदांग अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष-ग्रन्थों की रचना हुई। जनसामान्य के लिए यह भी सम्भव नहीं होने से पुराणों का कथोपकथन आरम्भ हुआ। इसके मूल में यह निहितार्थ था कि वैदिक सत्य रुचिपूर्ण आख्यायिकाओं द्वारा जन-जन तक पहुँच सके। इस प्रकार से वेदों में निहित मीमांसा को जनसामान्य तक पहुँचाने का श्रेय पुराण-वाङ्मय को जाता है। सर्वप्रथम पुराणों का उल्लेख हमें वैदिक संहिता में मिलता है, जो विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसकी शाब्दिक अभिव्यञ्जना पुरातन, प्राचीन, पुराना के रूप में सुनने को मिलती है। *शतपथब्राह्मण* में उल्लेख आया है कि 'चारों वेद, इतिहासपुराण– ये सब महान् परमात्मा के ही निःश्वास हैं।'[2] *अथर्ववेद* में यजुर्वेद के साथ ऋक्, साम, छन्द और पुराणों की उत्पत्ति यज्ञ से मानी गई है।[3] *अथर्ववेद* के साथ ही *छान्दोग्योपनिषद्* में यह शब्द प्राचीन

---

* क्षेत्रीय संगठन-सचिव, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना, मध्य क्षेत्र; 'आराधना' संघ कार्यालय, उज्जैन

आख्यान के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[4] 'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति पर पुराण-साहित्य से भी प्रकाश डाला जा सकता है। *ब्रह्माण्डपुराण* के अनुसार 'पुराण का अर्थ है— 'प्राचीनकाल में ऐसा हुआ था।'[5] *पद्मपुराण* के अनुसार 'जो परम्परा की अर्थात् प्राचीनता की कामना करता है, वह पुराण है।'[6] लेकिन प्राचीनतम उल्लेख ऋक् संहिता से प्राप्त होता है जिसमें गाथा, नाराशंसी-जैसे शब्दों के रूप में पुराणों का बोध होता है।[7]

पुराणों में अष्टादश पुराणों की जो सूची हमें प्राप्त होती है।[8] उसमें आग्नेय वा अग्निपुराण का नाम अवश्य मिलता है, जिससे *अग्निपुराण* की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता ज्ञात होती है। अग्निदेव इस पुराण के वक्ता हैं इसीलिए इसे अग्नि नाम से अभिहित किया गया है। *अग्निपुराण* के सन्दर्भ में अन्य पुराणों से भी जानकारी प्राप्त होती है। पुराणों में वर्णन आया है कि जिस पुराण में अग्नि ने वसिष्ठ को ईशानकल्प का वृत्तान्त कहा और उसी वृत्तान्त का समुच्चय बोध ही आग्नेयपुराण है।[9] पुराणों में *अग्निपुराण* तामस वर्ग में परिगणित हुआ है, जिसमें प्रधानतः अग्नि और शिव की की महिमा का प्रतिपादन हुआ है।[10] अग्नि देवता से उपदेश पाने के बाद वसिष्ठ स्वयं भी व्यास को कहते हैं कि "मैं दोनों प्रकार के ब्रह्म को कहूँगा।"[11] इस प्रकार ज्ञान की नानाविध विद्याओं के संकलित स्वरूप को *अग्निपुराण* से अभिहित किया गया है जिसमें पुराणों की मुख्य विषयवस्तु पञ्चलक्षणों (सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित) के अतिरिक्त ज्ञान की सम्पूर्ण विधाओं का 383 अध्यायों में विवेचित करने का सुफल ही *अग्निपुराण* है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में *अग्निपुराण* में उल्लिखित अयोध्या के इक्ष्वाकु-वंश के प्रतापी शासक श्रीरामचन्द्र द्वारा प्रतिपादित राजधर्म के वैशिष्ट्य की विवेचना ही अभीष्ट है।

अग्निपुराण में अयोध्या के शासक श्रीराम से संबंधित आख्यानों की गवेषणा मिलती है। पुराणकार ने श्रीरामावतार से संबधित विशिष्ट प्रसंगों को श्रीरामावतार, अयोध्याकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड, उत्तरकाण्ड-जैसे शीर्षकों में (अध्याय 5 से 11) वर्णित करके रामकथा को समग्रता देने का प्रयास किया है।[12] इसी के साथ ही श्रीराम द्वारा व्यवहार में लाई गई राज्य-व्यवहार-संबंधी नीतियों का अध्याय 337 से 341 में राजधर्म के रूप में सांगोपांग विवेचन मिलता है।[13] श्रीराम के द्वारा अनुसरण में लायी गयी राज्य-विधि को स्पष्ट करने से पूर्व श्रीराम के युग एवं तिथि को संक्षेप में स्पष्ट करना भी इस

शोध-पत्र के अभीष्ट को प्राप्त करने में सार्थक होगा। यद्यपि *अग्निपुराण* में भगवान् श्रीराम के जन्म को दैवीय कथानक के रूप में मान्य किया गया है, तथापि इतिहास की वर्तमान व्याख्या के अनुसार इतिहास में किसी भी दैवीय योजना को विषयवस्तु के रूप में ग्राह्य नहीं किया जा सकता। वह भी विशेषकर जब विश्व के समक्ष खड़ी प्राचीनतम भारतीय संस्कृति जो विभिन्न अपौरुषेय ग्रन्थों के माध्यम से चुनौती प्रस्तुत कर रही हो और विश्व की सभी प्राचीनतम संस्कृतियों में अगवा के रूप में अपने सांस्कृतिक वैभव की श्रेष्ठता को प्रदर्शित कर रही हो। ऐसी स्थिति में भारतीय संस्कृति की प्राचीनता को मिथक सिद्ध करने के लिए नित-नव अप्रामाणिक अनुसंधानों के द्वारा ऐतिहासिक घटनाओं के सन्दर्भ में धारणाएँ बनायी जाती हैं और इन्हें दैवीय मानकर इतिहास से पृथक् करने का प्रपञ्च रचा जाता है। यह भी ध्यातव्य है कि भारतीय चिन्तन में सृष्टि एवं उससे सम्बन्धित विभिन्न पक्षों की उत्पत्ति के पीछे किसी-न-किसी दैवीय योजना को उजागर किया गया है।[14] भगवान् राम के जन्म से संबंधित विभिन्न ईश्वरीय भावों को युगों-युगों से धर्मग्रन्थ धार्मिक आख्यानों के रूप में समाज के समक्ष प्रकट करते आ रहे हैं। धार्मिक भाव के फलस्वरूप श्रीराम जनसामान्य की आस्था का विषय हैं। इसी प्रकार भारतीय परम्परा में अयोध्या के शासक श्रीराम और उनका जन्म व तिथि-क्रम को लेकर अत्यधिक जटिलताएँ प्रचलन में हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन कठिनाइयों से उबकर राम को काल्पनिक घोषित कर दिया जाए।[15] पुराणों के अनुसार विष्णु के सातवें अवतार श्रीराम का जन्म 24वें महायुग के त्रेतायुग और द्वापर के सन्धि काल में हुआ था।[16]इस प्रकार गणना करने पर वे अब से लगभग 1 करोड़ 81 लाख वर्ष पूर्व हुए थे। ऐसी परम्परागत मान्यता है।[17]पुराणों के आधार पर अल्-बीरूनी ने गणना करके यह स्पष्ट किया है कि श्रीराम उसके समय से 1 करोड़ 81 लाख 48 हजार 132 वर्ष पूर्व पैदा हुए थे।[18] श्री गुंजन अग्रवाल ने तो चैत्र शुक्ल नवमी के दिन अब से (2014 ई०) में 1 करोड़ 81 लाख 49 हजार 116 वर्ष पूर्व श्रीराम की जन्मतिथि को निर्धारित किया है।[19] इसके अन्यत्र भारतीय तिथिक्रम-संबंधी अन्य मान्यताओं में श्रीराम के जन्म से संबंधित इसी तिथि को थोड़े-बहुत अन्तर के साथ स्वीकार किया है। प्रो० ठाकुर प्रसाद वर्मा ने नवीन वैज्ञानिक शोधों के आधार पर तथा नवविकसित कंप्यूटर-सॉफ्टवेयर द्वारा निकाले गए निष्कर्षों पर श्रीराम के काल की तिथि एकभग 1 करोड़ 75 लाख वर्ष सुनिश्चित किया है।[20] लेकिन उपर्युक्त मान्यता के अतिरिक्त सन् 2002 में अमेरिकी अन्तरिक्ष

एजेन्सी 'नासा' के एक खोजी उपग्रह ने रामेश्वरम् से लंका तक विस्तृत 48 कि०मी० (30 मील) लम्बे रामसेतु के चित्र लेकर सेतु-निर्माण के लिए 17 लाख 50 हज़ार वर्ष पूर्व की तिथि को मान्य किया है।[21] यह प्रमाण श्रीराम की ऐतिहासिकता एवं प्राचीनता को तो सिद्ध करते हैं, लेकिन इसके आधार पर पुराण-वाङ्मय में वर्णित श्रीराम के कालक्रम की प्रामाणिकता सन्देहास्पद प्रतीत होने लगती है। इस सन्दर्भ में विख्यात इतिहासकार डॉ० देवसहाय त्रिवेद ने अपने एक आलेख 'कार्बन से तिथि-निर्धारण' में स्वीकार किया है कि पुरातात्त्विक सामग्रियों का तिथि-निर्धारण, और वही भी लाखों-करोड़ों वर्ष प्राचीन वस्तु का, अत्यन्त टेढ़ा कार्य है, इसमें भूल की पूरी-पूरी सम्भावना रहती है।[22] श्री गुंजन अग्रवाल ने अपने लेख में प्रतिपादित किया है कि श्रीराम को 28वें त्रेतायुग में रखने पर सम्पूर्ण पुराण-साहित्य पर एक बड़ा प्रश्न-चिह्न लग सकता है; क्योंकि सारे पुराणों में प्रतिपाद्य विषय प्राचीन भारतीय इतिहास का एक संयत लेखा प्रस्तुत करते हैं। अतः हमें श्रीराम के कालखण्ड के लिए नासा द्वारा निर्धारित तिथि को न ग्राह्य करते हुए श्रीराम के समय को 24वें त्रेतायुग (1 करोड़ 81 लाख 49 हजार 116 वर्ष पूर्व) में रखना ही समीचीन जान पड़ता है।[23] इस विषय में उपलब्ध साक्ष्यों को आधार बनाकर विद्वानों ने श्रीराम के जन्म को 24वें त्रेतायुग और द्वापर की संधि में अर्थात् आज से 1 करोड़ 81 लाख 49 हजार 116 वर्ष पूर्व को ही प्रामाणिकता प्रदान की है[23] जो निश्चित ही मान्य प्रतीत होती है।

अग्निपुराण में श्रीरामावतार कथा एवं श्रीराम के जीवन से संबंधित विषयों का वर्णन मिलता है। उन्हें इक्ष्वाकु-वंश के उत्तराधिकारी के रूप में ककुत्स्थ के रघु, रघु के अज, अज से दशरथ, दशरथ से राम का वर्णन करते हुए उस वंश के प्रमुख राजाओं का भी उल्लेख किया गया है।[24] पौराणिक वाङ्मय में ऐसे अनेक दृष्टांतों का वर्णन हुआ है जिसमें धर्मनिष्ठ, चक्रवर्ती शासकों की भारत में एक विस्तृत शृंखला के प्रचलन का आभास होता है जिन्होंने अपनी धर्मानुकूल रीति-नीति से भारतीय राजवंश परम्परा में स्वयं प्रतिष्ठापित किया। लेकिन उन्हें हम शिबि-राज्य, हरिश्चन्द्र-राज्य अथवा दशरथ-राज्य कहकर स्मरण नहीं करते।[25] लेकिन इस प्रकार का शब्दोच्चारण भारतीय इतिहास व उसके विविध पक्षों को उद्‌घाटित करनेवाले पौराणिक व धार्मिक ग्रन्थों में अयोध्या के शासक श्रीराम के राज्य के लिए युगों-युगों से प्रयुक्त होता आ रहा है जिसे पौराणिक सन्दर्भों में 'रामराज्य' की संज्ञा प्रदान की गई है।

अग्निपुराण में श्रीराम के इसी लोकसंयमित आदर्श की व्याख्या मिलती है और विशेषकर उनके राजधर्म को रामोक्त नीति[26] के द्वारा व्याख्यायित किया गया है। श्रीराम वैदिक परम्परा के पोषक हैं। और इसीलिए अपने राजत्व के सिद्धान्त में उन्होंने उसी नीति का अनुसरण किया जिसका कि समर्थन सृष्ट्युत्पत्ति के समय स्वायम्भुव मनु द्वारा किया गया है। *महाभारत* भी मनु को राजधर्म के प्रणेता-व्याख्याता-विवेचक के रूप में वर्णित करता है।[27] स्वयं *वाल्मीकीयरामायण*, जो *महाभारत* से बहुत पूर्व का ग्रन्थ है, में महर्षि वाल्मीकि द्वारा मनु के विधान को मान्य किया गया है। *रामायण* के किष्किन्धाकाण्ड में श्रीराम बाली वध को न्यायोचित सिद्ध करते हुए मनु के दो श्लोकों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि तुमने अपने छोटे भाई की स्त्री को, जो तुम्हारी पुत्रवधू के समान है, बलपूर्वक अपहरणकर उसे अपनी स्त्री बनाकर अपराध किया है। मैंने तुम्हें दण्ड देकर राजधर्म, मित्रधर्म एवं अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया है।[28]

अग्निपुराण में श्रीराम द्वारा अनुसरण में लाए गए राजधर्म-संबंधी नीतियों का वर्णन हुआ है। श्रीराम ने राजधर्म-संबंधी अपनी विवेचना में राज्य के शास्त्रोक्त सप्तांग सिद्धान्त अर्थात् सात अंग– राजा, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, बल, मित्र के रूप में राजधर्म को स्पष्ट किया है।[28] अन्य पुराणों व कालान्तर के ग्रन्थों में भी राज्य के सप्तांग सिद्धान्त को मान्य किया गया है।[29] श्रीराम ने अपनी इस नीति में सर्वप्रथम राजा को महत्त्व देते हुए उसके गुणों को स्पष्ट किया है। पुराणोक्त कथन है कि राजा शासन का प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण होता था। इसलिए यह आवश्यक है कि राजा सर्वगुण हो तभी वह शासन का सुव्यवस्थित ढंग से संचालन कर सकता है। अपने विशिष्ट गुणों के द्वारा नेतृत्व करने के कारण ही साधारण मानव के स्तर से उठकर प्रजापालक नृप के रूप में वह पूजा जाता है। राष्ट्र के सर्वांगीण विकास एवं शान्ति और सुरक्षा के लिए राजा में शास्त्र विधानित गुणों का होना आवश्यक है।[30] *अग्निपुराण* में राजा के आवश्यक गुणों के रूप में कुलीनता, सत्व, युवावस्था, शील, शीघ्रकारिता, अविसंवादिता, सत्य-जैसे गुणों को श्रीराम द्वारा प्रतिपादित गुणों के रूप में परिगणित किया गया है।[31] मनु ने इतने विस्तार से ही नहीं पर समानार्थी गुणों की महत्ता को वर्णित किया है।[32] कौटिल्य भी राजा के गुणों की विस्तार से चर्चा करते हुए राजा के 16 अभिगामिक गुण एवं शेष आत्मसम्पत्ति-जैसे गुणों को महत्त्व देते हैं।[33] *अग्निपुराण* में वर्णित राजा के इन गुणों के प्रमाण के रूप में उद्धृत किया जा सकता है। *रामायण* में श्रीराम को मन को वश में रखनेवाला महाबलवान्,

कान्तिमान्, धैर्यवान् एवं अन्य गुणों के साथ-साथ प्रजापति के समान प्रजा का पालन करनेवाले स्वधर्म, स्वजनों के हितैषी के रूप में उन्हें प्रतिष्ठापित किया गया है।[34] इन गुणों के साथ-साथ राजा के आवश्यक कर्तव्यों का भी *अग्निपुराण* में अनुमोदन मिलता है। भारतीय परम्परा में राजाओं को जिन आवश्यक कर्तव्यों के प्रति निर्दिष्ट किया गया है वह प्रत्येक युग में राष्ट्र के सर्वांगीण विकास और सुरक्षा के लिए आवश्यक प्रतीत होते हैं। लोककल्याणकारी राजा के लिए राष्ट्र के आंतरिक एवं बाह्य सुरक्षा को सर्वोच्च मानते हुए प्रजा की रक्षा, सुरक्षा को प्राथमिक कर्तव्य के रूप में उल्लेखित किया गया है। इसके साथ ही राजा को प्रजा के ऊपर अनुग्रह तथा आचारानुकूल आचरण करना अपेक्षित था।[35] राजा को प्रमुख रूप से अपने कर्त्तव्यों में न्यायपूर्वक धनोपार्जन, उसे बढ़ाना, उसकी रक्षा करना एवं उसे सत्पात्र को देना ही विधानित है तथा साथ ही अन्य कर्त्तव्यों को समाविष्ट किया गया है।[36] श्रीराम का मत है कि यदि राजा उपर्युक्त कर्त्तव्यों या लोक-व्यवहार के प्रति आचरण करता है तो वह पतन को प्राप्त करता है। इसलिए राजा को इन कर्त्तव्यों के भली-भाँति पालन के लिए आन्वीक्षिकी, त्रय, वार्ता और दण्डनीति आदि शिक्षाओं का निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए। *अग्निपुराण* एवं उससे पूर्व व पश्चात् एवं संकलित हुए ग्रन्थों में भी राजा के कर्त्तव्यों के अंतर्गत इसी प्रकार की मीमांसा मिलती है।[37] *अग्निपुराण* में सप्तांग सिद्धान्त के अंतर्गत द्वितीय वरीयता क्रम में मंत्रीपरिषद् को स्थान दिया गया है। ग्रन्थों में राजा को मंत्रीपरिषद् की नियुक्ति के संबंध में वाञ्छित अर्हताओं को ध्यान में रखने के लिए निर्दिष्ट किया गया है।[38] निश्चित ही लोककल्याणकारी राज्य के कुशल नेतृत्व व सञ्चालन के लिए योग्य मंत्रियों का होना अति आवश्यक है। श्रीराम के युग में भी मंत्रियों की इन योग्यताओं के अंतर्गत स्मरण-शक्ति, अर्थोपार्जन में तत्परता, दूसरे का आशय समझना, दृढ़ निश्चय, मन्त्रणा को गुप्त रखना-जैसे गुणों को महत्त्व प्रदान किया जाता था।[39] ग्रन्थ में मंत्रीपरिषद् के विशिष्ट पदाधिकारियों के लिए आमात्य, पुरोहित, सेनापति, प्रतिहारी, दूत, ताम्बूलधारी, सूपाध्यक्ष व अन्यान्य सम्बोधनों को प्रयोग में लाया गया है।[40]

राजधर्म के परिपालन के लिए भौगोलिक व सांस्कृतिक परिक्षेत्र, जिसे राष्ट्र अर्थात् राज्य भूमि की परिसीमा की संज्ञा से अभिहित किया गया है।[41] राज्य की समृद्धि के लिए कुछ आवश्यक मान्यताएँ प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक प्रचलन में बनी हुई हैं। श्रीराम राष्ट्र के निमित्त भौगोलिक समरूपता के साथ-साथ सांस्कृतिक सामञ्जस्य को भी महत्त्व देते हुए चातुवर्ण्य को राष्ट्र की प्रजा के रूप में

महत्त्व प्रदान करते हैं क्योंकि चातुवर्ण्य ही राष्ट्र की सुख-समृद्धि प्रगति का आधार होते हैं।[42] वैदिक ग्रन्थों में भी इसी प्रकार का भाव देखने को मिलता है। राज्य-सञ्चालन के निमित्त दुर्ग का होना भी आवश्यक है। श्रीराम ने अपनी राज्य-नीति में दुर्ग को स्थान दिया है। ग्रन्थ में राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से दुर्ग और नगर की संरचना से संबंधित दृष्टांतों का वर्णन मिलता है। श्रीराम ने विषम परिस्थितियों की ओर निर्देशित करते हुए उन मापदण्डों का उल्लेख किया है जो कि दुर्ग रचना के लिए आवश्यक होते हैं।[43]

प्रारम्भ से ही राज्य की समृद्धि व सम्पन्नता के निर्धारण में आर्थिक पक्षों का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। वैदिक दर्शन और परम्पराओं में पुरुषार्थ-चतुष्ट्य के अंतर्गत अर्थ को महत्ता प्रदान की गई है। श्रीराम राजधर्म के अनुरूप राजकोष (संचित कोष), जिसे पूर्वजों के काल से ही धर्मोपार्जन की दृष्टि से संचित किया गया हो और जो मर्यादानुरूप व्यय किया जाता है, को महत्त्व देते हैं।[44] राज्यनीति अर्थात् राजत्व की स्थापना के लिए विधियानुकूल न्याय-व्यवस्था का होना भी अपरिहार्य होता है। प्राचीन धर्मग्रन्थों में समानरूप से इस मत का वर्णन हुआ है कि मत्स्यन्याय से उपजे विशृंखलित दमनकारी अधर्मी शासन से मुक्ति के लिए ब्रह्मा ने मनु को सर्वप्रथम राजा नियुक्त किया था।[45] राजा का प्रथम कर्त्तव्य है कि वह प्रजा की रक्षा करे और आपराधियों तथा प्रजा को नुकसान पहुँचानेवाले लोगों के उन्मूलन के लिए सदा प्रयत्न करे। अथवा दण्ड की शक्ति के द्वारा उन्हें दण्डित करे। यही राजा का आदर्श है। दण्ड के समुचित प्रयोग से ही राजा यश को प्राप्त होता है और उसके दुरूपयोग से अपने परिवारसहित पतन को प्राप्त होता है। श्रीराम का उद्देश्य भयमुक्त शासन की स्थापना करना था। इसलिए उन्होंने राजत्व के सिद्धान्त के अनुरूप दण्ड (बल) के धर्मसम्मत औचित्य को स्पष्ट किया है। दण्ड-शक्ति के प्रयोग के लिए अधिकृत व्यक्ति व उसकी योग्यता पर भी गम्भीरता से विचार किया गया है। उसके लिए क्षत्रिय वर्ण का होना आवश्यक था। वह विविध ज्ञान की विधाओं का ज्ञाता होता था। दण्डनीति के लिए पूर्वजों के (देशकाल परम्परा) से चली आ रही नीति के अनुसरण पर बल दिया गया है।[46]

श्रीराम ने मित्र को अर्थात् पड़ोसी राज्य को राजधर्म के अन्तिम अंग के रूप में वर्णित किया है। श्रीराम ने यहाँ अपनी नीति को स्पष्ट करते हुए मित्र धर्म का वर्णन करते हुए उनके गुण व अवगुणों की ओर संकेत किया है।[47] वस्तुतः मित्र नीति पड़ोसी राज्य के प्रति राज्य की नीति का परिचायक है क्योंकि राष्ट्र की बाह्य एवं

आंतरिक सुरक्षा, सुख-समृद्धि के लिए पड़ोसी राज्यों के साथ कूटनीतिक संबंध व व्यवहार के प्रचलन को मान्य किया गया है। लोककल्याणकारी राज्य व राजधर्म के निहित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राजकीय कार्यों के संपादनार्थ विभिन्न प्रकार के अध्यक्षों एवं कर्मचारियों की नियुक्ति का प्रावधान था। प्रतीत होता है कि श्रीराम की शासन-व्यवस्था में इस प्रकार की प्रशासनिक व्यवस्था में अनुरक्त अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्ति के समय उनकी योग्यता व गुणों पर भी विचार किया जाता था।[48] यह प्रशासनिक संरचना राजा के प्रति उत्तरदायी होती थी। इस विस्तृत प्रशासनिक व्यवस्था को राजा व राष्ट्र के प्रति समर्पित भाव के साथ कार्य करना अभिप्रेय था।[49]

अग्निपुराण में श्रीराम के द्वारा प्रयोग में लाई गई राजत्व या राजधर्म से संबंधित नीति में सप्तांगों के अलावा अन्य महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाओं, जैसे– षाड्गुण्य वर्णन (शत्रु व मित्र राष्ट्र के प्रति नीति), संधि, विग्रह, सैन्य संरचना आदि के विषय में भी जानकारी प्राप्त होती है।[50]

अन्ततः *अग्निपुराण* के साक्ष्यों से श्रीराम के द्वारा प्रतिपादित व्यवहार में लाए गए राजत्व के सिद्धान्त से उनकी शासन-व्यवस्था की जानकारी प्राप्त होती है। श्रीराम ने अपनी राजकीय कार्यों में प्रजाहित कल्याण को सर्वोच्चता प्रदान की। वे आदर्श राजा थे। उनकी आदर्शात्मक स्थिति का ज्ञान उनके राजसिद्धान्तों और राजकीय वैभव से होता है। उनका राज्य एक लोककल्याणकारी राज्य था। जनसामान्य भय से मुक्त था। श्रीराम के राज्यकाल में त्रिविध आत्मिक, बाह्य और आर्थिक विषमताओं का आभाव था। श्रीराम के द्वारा स्थापित राजत्व जैसा सर्वतोभावेन मर्यादामण्डित राज्य कभी स्थापित नहीं हो सका। इसलिए वर्तमान में भी करोड़ों वर्ष पश्चात् राम के द्वारा स्थापित मर्यादाओं के द्वारा प्रतिस्थापित रामराज्य की संकल्पना को साकार करने की चेष्टा और उसके प्रति पूजनीय भाव आज भी जन-जन में व्याप्त है।

विश्व-संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में श्रीरामराज्य की तुलना करें तो किसी भी संस्कृति में किसी भी शासक के लिए इस विशेषण का प्रयोग नहीं किया गया है। इस प्रकार राम एक युग के प्रवर्तक हैं, एक परम्परा के संवाहक हैं जिन्होंने अपनी नीतिगत राधमर्म एवं कार्यों से तत्कालीन एवं कालान्तर के शासकों के लिए रामराज्य के रूप में आदर्शात्मक शासन-व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत किया। श्रीराम ने अपने शासनकाल में जिस सर्वोत्तम शासन व्यवस्था, अर्थ-नीति, धर्म-नीति,

समाज-नीति तथा राजनीति की जो मर्यादाएँ स्थापित कीं, उन्हीं के समूहगत उच्चारण को 'रामराज्य' कहकर सम्बोधित किया जाता है।[25] यह सांस्कृतिक अभिव्यञ्जना ने प्रस्फुटित हुआ उद्घोष है जो राजधर्म व लोककल्याणकारी राज्य के रूप में भारतीय चिन्तन में युगों-युगों से चिरन्तन प्रवाहित होता आ रहा है। अपने इस लौकिक और अलौकिक स्वरूप में श्रीराम पुत्र, मित्र, पिता, आदर्श पति, धर्मरक्षक, राष्ट्रप्रेरक हैं और उनके यही गुण उन्हें आदर्श के रूप में प्रतिष्ठापित करते हैं। श्रीराम भारतीय परम्परा के आदर्श हैं। जिन्होंने अपने आदर्शों से समस्त प्रकार की लोकमान्यताओं, परम्पराओं और मर्यादाओं की स्थापना की। इस प्रकार श्रीराम लोकनायक हैं। साथ ही एक लोक आन्दोलन के प्रवर्तक हैं जिन्होंने मानवीय जीवन के सम्पूर्ण गुणों, आदर्शों को हिन्दू-धर्म-संस्कृति की आधारशिला पर अधिष्ठित किया। उन्होंने व्यष्टि तथा समष्टि– दोनों के लिए रची हुई मर्यादाओं का अपने जीवन तथा राज्य के द्वारा पूर्ण रूप में भली-भाँति परिपालन किया।

सन्दर्भ :

1. **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** –*मनुस्मृति*, 2.6, *मत्स्यपुराण*, 52.7;
2. *शतपथब्राह्मण*, 14.2.4.10
3. **'ऋचः सामानच्छन्दासि पुराणं यजुषा सह'** –*अथर्ववेद*, 11.7.24
4. **'सहवाचो ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेद सामवेदमार्थवणं चतुर्थमिति पुराणं पञ्चमम्'** –*अथर्ववेद*, वही; *छांदोग्योपनिषद्*, 7.1.2
5. **'यस्मात् पुरा ह्यभूच्चैतत् पुराणं तेन तत स्मृतम्'** –*ब्रह्माण्डपुराण*, 1.1.173
6. **'पुरा परम्परा वष्टि पुराणं तेन् स्मृतम्'** –*पद्मपुराण*, 5.2.23
7. *ऋग्वेद*, 3.5.44; 3.54.6; 3.58.9
8. *भागवतपुराण*, 12.13.3.5; *विष्णुपुराण*, 3.6.20-24; *नारदपुराण*, 26.28; *देवीभागवतपुराण*, 1.3.21
9. *मत्स्यपुराण*, 53.28; *स्कन्दपुराण*, प्रभासखण्ड, 2.47; *नारदपुराण*, 1.99.1
10. *पद्मपुराण*, 6.263.81.82; *मत्स्यपुराण*, 53.68-69
11. *अग्निपुराण*, 1.6-8,13
12. *अग्निपुराणम्*, संपादकद्वय : तारिणीश झा एवं घनश्याम त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 2007, भूमिका पृ० 11
13. *वही*, भूमिका, पृ० 14
14. डॉ० हर्षवर्धन सिंह तोमर, *मनु का दण्ड-विधान*
15. श्री गुंजन अग्रवाल, 'भगवान् श्रीराम का ऐतिहासिक समय', *मीरायन*, सितम्बर-नवम्बर

2009, पृ० 51

16. **चतुर्विंशे युगे रामो वसिष्ठेन पुरोधसा। सप्तमो रावणस्यार्थे यज्ञे दशरथात्मजः॥**

—*मत्स्यपुराण,* 47.245

17. ठाकुर प्रसाद वर्मा, *श्रीराम और उनका काल, मानविकी,* गोरखपुर
18. एडवर्ड सी० सचाउ, *अल्-बीरूनीज़ इण्डिया,* खण्ड 2, पृ० 4
19. ठाकुर प्रसाद वर्मा, *वही*
20. ठाकुर प्रसाद वर्मा, *वही*
21. Hanuman Bridge in Myth : Experts, *The Times of India*, Oct.19th, 2002
22. *परिषद्-पत्रिका,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
23. श्री गुंजन अग्रवाल, *वही,* पृ० 52-53
24. **'मरीचेः कश्यपास्तस्मात्सूर्या वैवस्वतो मनुः।**
    ततस्तस्मात्तथेदवाकुस्तय वंशे ककुत्स्थकः॥
    ककुत्स्थस्य रघुस्थस्यमादजो दशरतस्ततः।
    रावणादेर्वधार्याय चतुर्धाभूत्स्वयं हरिः॥
    राज्ञो दशरथाद्रामः कौसल्यायो बूभव ह॥'

—*अग्निपुराण,* 5.1-3

25. *कल्याण,* वर्ष 24, अंक 1, 'हिंदू-संस्कृति-अंक', पृ० 95
26. *अग्निपुराण,* अध्याय 238, रामोक्त नीतिः
27. *महाभारत,* अनुशासनपर्व, 39.8
28. *कल्याण,* वही
29. *अग्निपुराण,* 239.1
30. *मत्स्यपुराण,* 220.19; *अर्थशास्त्र,* 6.1
31. डॉ० प्यारेलाल चौहान, नाग प्रकाशन, दिल्ली
32. *अग्निपुराण,* 239.1-10
33. *मनुस्मृति,* 7.38-39, 41-43, 27, 45
34. *अर्थशास्त्र,* 2.6.1
35. *वाल्मीकीयरामायण,* बालकाण्ड, 8-19
36. *अग्निपुराण,* 238.2-12; *मत्स्यपुराण में राजधर्म,* डॉ० घनश्याम महतो, पृ० 8
37. *वही,* 238.14
38. *मनुस्मृति,* 7.157, 144; *गरुड़पुराण एक अध्ययन,* डॉ० बिहारीलाल अवस्थी, पृ० 92; *गरुड़पुराण,* 1.99.27
39. *अग्निपुराण,* 239.17-19
40. *वही,* 239.15-16
41. *वही,* 239.20-23;220.1-4; 234.17; 220.6-8
42. *वही,* 239.24-25;

43. *वही*, 239.26-28
44. *वही*, 239.28-29
45. *वही*, 239.28-29
46. *मनुस्मृति*, 7.3-4,8; *अर्थशास्त्र*, 6.1.1
47. *अग्निपुराण*, 239.31,34,42,45,46,48
48. *वही*, 239.35-37
49. *वही*, 239.38-41
50. *वही*, 239.42.43
51. *वही*, 221.1,8-12; अध्याय 240-242

अग्निपुराण : काव्य

घनश्याम मिश्र *

अग्निपुराण को यदि समस्त भारतीय विद्याओं का विश्वकोश कहें तो किसी प्रकार की अत्युक्ति नहीं होगी क्योंकि इस पुराण का उद्देश्य जनसाधारण में ज्ञातव्य विद्याओं का प्रचार करना था। इसलिए इस पुराण का उद्देश्य है– **'आग्नेये हि पुराणेस्मिन् सर्वाः विद्याः प्रदर्शिताः।'**[1]

सरस्वतीकण्ठाभरण के रचयिता भोजदेव ने अपने ग्रन्थ के मंगलाचरण में **'ध्वनिवर्णाः पदं वाक्यम्'**[2]– *अग्निपुराण* के इस आनुपूर्ति को अविकल रूप से उद्धृत किया है। शास्त्र, इतिहास तथा काव्य– इन तीनों की समाप्ति इसी वाङ्मय में होती है।

अग्निपुराण में काव्य को पारिभाषित किया गया है कि जिसमें अलंकार भाषित हों, गुण विद्यमान हों, तथा दोष का अभाव हो, ऐसे वाक्य को काव्य कहते हैं–

'काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम् ।
योनिर्वेदश्च सिद्धिमर्थादयोनिजम् ॥'[3]

अग्निपुराण की इस युक्ति को उपजीव्य मानकर भोजदेव ने *'सरस्वतीकण्ठाभरण'* में इस प्रकार उद्धृत किया है– **'निर्दोष गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्'**[4]। लोकव्यवहार तथा वेद (शास्त्र) का ज्ञान– ये काव्यप्रतिभा की मूल विशेषताएँ हैं। भामह ने इसी कथन को पल्लवित करते हुए लिखा है कि 'व्याकरण', छन्द, कोश, अर्थ, इतिहासाश्रित कथाएँ, लोकव्यवहार,

---

* शोध-छात्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली-110 067

युक्ति (तर्क) तथा कलाओं का काव्यरचना में प्रवृत्त होनेवाले कविजनों को मनन करना चाहिए।

देवतादि के लिए संस्कृत भाषा का और मनुष्यों के लिए तीन प्रकार की प्राकृत भाषा का प्रयोग करना चाहिए, इसके आधार पर काव्य के तीन प्रकार बताए गए हैं– गद्य, पद्य और मिश्र–

'देवादीनां संस्कृतं स्यात्प्राकृतं त्रिविधं नृणाम् ।
गद्यं पद्यं च मिश्र च काव्यादि त्रिविधं मतम् ॥' [5]

भामह ने काव्य के दो भेद बताए हैं– गद्य और पद्य। फिर भाषा की दृष्टि से इनके तीन-तीन भेद और होते हैं– संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश। वामन ने काव्य के दो भेद माने हैं– **'काव्यं गद्यं पद्यं च'**। दण्डी ने *काव्यादर्श* में *अग्निपुराण* कथित गद्य, पद्य और मिश्र– तीनों भेदों को उद्धृत किया है। भाषा की दृष्टि से भी उन्होंने काव्य के चार भेद माने हैं– संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र।

अग्निपुराण में जो **'पादसंतानो गद्यम्'**– इस प्रकार गद्य का लक्षण किया गया है, दण्डी ने अपने *काव्यादर्श* में इसे अविकल रुप से उद्धृत किया है-

'अपादः पदसन्तानो गद्यं तदपि गद्यते ।
चूर्णकोत्कलिकावृत्तगंधिभेदात् त्रिरूपकम् ॥' [6]

पद विभाग से रहित पद्यों का प्रवाह 'गद्य' कहलाता है। वही भी चूर्णक, उत्कलिका और वृत्तिगन्धि भेद से तीन प्रकार का होता है। आचार्य वामन ने भी अग्निपुराणोक्त इन्हीं तीन पद्यभेदों का उल्लेख किया है।[7] छोटी-छोटी कोमलपदावली से युक्त और अत्यन्त मृदु सन्दर्भ से पूर्ण गद्य को 'चूर्णक' कहते हैं जिसमें बडे-बडे समासयुक्त पद हों, उसका नाम 'उत्कलिका' है। इसी भाव की छाया को लेकर वामन ने अपने काव्य 1.3 के 24-25वें सूत्र का निर्माण किया है–

'अनविद्धललितपदं चूर्णम्
विपरीतमुत्कलिकाप्रायम्'

जो मध्यम श्रेणी के सन्दर्भ से युक्त हो तथा जिसका विग्रह अत्यन्त कुत्सित (क्लिष्ट) न हो, जिसमें पद्य की छाया का आभाष मिलता हो, जिसकी पदावली किसी पद्य या छन्द के खण्ड सी जान पड़े, उस गद्य को 'वृत्तिगन्धि' कहते हैं। वामन ने जिसमे किसी पद्य का भाग प्रतीत होता है, ऐसे पद्य को 'वृत्तिगन्धि' कहा है–

'पद्यभागवद्वृत्तगन्धि'। साहित्यदर्पणकार ने भी **'वृत्तिगन्धयुतम्'** कहकर इसी भाव की पुष्टि की है। गद्यकाव्य के पाँच भेद माने गये हैं– आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा एवं कथानिका। विश्वनाथ ने *साहित्यदर्पण* के छठे परिच्छेद में कथा और आख्यायिका की चर्चा की है। उन्होंने गद्य-पद्यमय काव्यों के तीन भेद माने हैं– चम्पू, विरुद और करम्भक।

चार पदों से युक्त होने के कारण पद्य को चतुष्पदी कहा जाता है-

'पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा'[8]
'वृत्तमक्षरसंख्येयमुख्थं तत्कृतिशेषजम् ॥'[9]

पद्य के दो भेद हैं– वृत्त और जाति। जो अक्षरों की गणना से जाना जाय उसे 'वृत्त' कहते हैं। यह भी दो प्रकार का होता है– 'उक्थ' (वैदिक स्तोत्रादि) और कृतिशेषज (लौकिक)। जहाँ मात्राओं द्वारा गणना हो वह पद्य 'जाति' कहलाता है– यह काश्यप का मत है। वर्णों की गणना के अनुसार व्यवस्थित छन्द को 'वृत्त' कहते हैं। पिङ्गल मुनि ने वृत्त के तीन भेद माने हैं– सम, अर्धमस और विषम। महाकाव्य, कलाप, प्रर्यायबन्ध, विशेषक, कुलक, मुक्तक तथा कोश– ये सभी पद्यों के समुदाय हैं।

अनेक सर्गों में रचा हुआ संस्कृत भाषा द्वारा निर्मित काव्य महाकाव्य कहलाता है–

'सा विद्या नौस्तितीर्षूणां गंभीरं काव्यसागरम् ।
महाकाव्यं कलापश्च पर्याबन्धो विशेषकम् ॥'[10]
'कुलकं मुक्तकं कोष इति पद्यकुटुम्बकम् ।
सर्गबन्धो महाकाव्यमारब्धं संस्कृतेन यत् ॥'[11]

प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द बदल देना उचित होता है अतिशक्वरी और अष्टी– इन दो छन्दों से एक सर्ग संकीर्ण होना चाहिए तथा दूसरा सर्ग मातृका छन्दों से संकीर्ण होना चाहिए। अगला सर्ग पूर्व सर्ग की अपेक्षा अधिकाधिक उत्तम होना चाहिए। उसमें सब प्रकार की प्रवृत्ति होती है। वह सब प्रकार के भावों से प्रभावित होता है। तथा सब प्रकार की रीतियों तथा सभी रसों में उसका संस्पर्श होता है। सभी गुणों और अलंकारों से भी महाकाव्य को परिपुष्ट किया जाता है। इन सब विशेषताओं के कारण ही उस रचना को महाकाव्य कहते हैं। उसका निर्माता

महाकवि कहलाता है।[12]

महाकाव्य में उक्ति वैचित्र्य की प्रधानता होते हुए भी रस ही उसका जीवन होता है। उसकी स्वरूप-सिद्धि से अर्थात् सहज भाव से साध्य वचनवैचित्र्य अथवा वक्रोक्ति विषयक रसों से होती है। महाकाव्य का फल है– चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति।[13] महाकाव्य नायक के नाम से ही सर्वत्र विख्यात होता है। समान छन्दों अथवा वृत्तियों में महाकाव्य का निर्वाह किया जाता है। कैशिकी वृत्ति की प्रधानता होने से काव्य-प्रबन्ध में कोमलता आती है। जिसमें प्रवास का वर्णन हो, उस रचना को 'कलाप' कहते हैं। उसमें 'पूर्वानुराग' नामक शृंगार रस की प्रधानता होती है। संस्कृत अथवा प्राकृत के द्वारा प्राप्ति आदि का वर्णन 'विशेषक' कहलाता है। जहाँ अनेक श्लोकों का एक साथ अन्वय हो, उसे 'कुलक' कहते हैं। उसी का नाम 'संदानितक' भी है। एक-एक श्लोक की स्वतन्त्र रचना को 'मुक्तक' कहते हैं। उसे सहृयों के हृदय में चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ होना चाहिए। श्रेष्ठ कवियों की सुन्दर उक्तियों से समुत्पन्न ग्रन्थ को 'कोश' कहा जाता है। वह ब्रह्म की भाँति युक्त होता है तथा सहृदय पुरुषों को रुचिकर प्रतीत होता है। सर्ग में जो भिन्न-भिन्न छन्दों की रचना होती है, वह आभासोपम शक्ति है। उसके दो भेद हैं– मिश्र तथा प्रकीर्ण। जिसमें श्रव्य और अभिनेय– दोनों लक्षण हों, वह 'मिश्र'; और सकल उक्तियों से युक्त काव्य 'प्रकीर्ण' कहलाता है।[14]

अतः उपर्युक्त पत्र के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि *अग्निपुराण* में काय का विस्तृत विवेचन दृष्टिगोचर होता है। भामह, वामन और विश्वनाथ-जैसे उद्भट काव्यशास्त्री भी *अग्निपुराण* के छायाग्राही हैं। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय वाङ्मय के उत्कट ग्रन्थों और विषयों का रोचक सार-संकलन होने से तथा मानव के लौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक हित के लगभग सभी विषयों का वर्णन होने से यह प्राचीन भारत के ज्ञान और विज्ञान का रत्न-कोश तथा भारतीय संस्कृति और विद्याओं का महाकोश है। इन सभी विशिष्टताओं के कारण यह पुराण वर्तमान समय में भी प्रासंगिक है।

सन्दर्भ :

1. *अग्निपुराण*, 238.52
2. *सरस्वतीकण्ठाभरण*, 1.1
3. *अग्निपुराण*, 337.7

4. *सरस्वतीकण्ठाभरण*, 1.2
5. *अग्निपुराण*, 337.8
6. *वही*, 337.9
7. **'गद्यं वृत्तिगन्धि चूर्णमुक्तलिकाप्रायं च'**
8. *अग्निपुराण* का यह पद्यांश आचार्य दण्डी ने काव्यदर्श में ज्यों-का-ज्यों ले लिया है।
9. *अग्निपुराण*, 337.21
10. *वही*, 337.23
11. *वही*, 337.24
12. *वही*, 337.24-32
13. *वही*, 337.34
14. *वही*, 337.34-38

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

अग्निपुराण, (सं०) आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1966.

अग्निपुराण (3 भाग), (सं०) राजेन्द्रलाल मित्र, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, 1873, 1876, 1879.

अग्निपुराण, (सं०) जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, सरस्वती यंत्र, कलकत्ता, 1882.

अग्निपुराण, (सं०) हरिनारायण आपटे, आनन्दाश्रम, पूना, 1900.

अग्निपुराणम्, गोपाल प्रिन्टिंग वर्क्स, कलकत्ता, 1957.

अग्निपुराण, (सं०) नागशरण सिंह, नाग प्रकाशन, दिल्ली, 1985.

अग्निपुराणम्, (हि० अनु०) आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2004.

अग्निपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2010.

अग्निपुराणोक्तकाव्यालंकारशास्त्रम्, पारसनाथ द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी.

अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, रामलाल वर्मा शास्त्री, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1959.

अग्निपुराण में विविध विद्याएँ, सुनीता सैनी, अभिषेक प्रकाशन, दिल्ली, 2004.

अग्निपुराणविषयानुक्रमणी, (सं०) श्रीरामशंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1963.

अथर्ववेद (2 भाग), (हि० अनु०) पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, स्वाध्याय-मण्डल, पारडी (जिला-बलसाड), गुजरात, द्वितीय संस्करण, 1958.

अमरकोश, मन्नालाल अभिमन्यु, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2008.

अष्टादशपुराणदर्पण, पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, 1936.

ईशादिदशोपनिषदः, (शाङ्करभाष्यसहित), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1992.

ईशादि नौ उपनिषद् (शाङ्करभाष्यसहित), गीताप्रेस, गोरखपुर, 2009.

ईशावास्योपनिषद् (शाङ्करभाष्यसहित), आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2002.

ऋग्वेद का सुबोध भाष्य, (हि० अनु०) पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी (जिला-बलसाड), गुजरात, चतुर्थ संस्करण.

ऋग्वेदभाष्यभूमिका, सायणाचार्य, (हि० अनु०) रामअवध पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1998.

कल्याण (हिंदू-संस्कृति-अंक), वर्ष 24, अंक 1, गीताप्रेस, गोरखपुर, जनवरी, 1950.

काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन, शोभाकान्त मिश्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, प्रथम संस्करण, 1972.

काव्यप्रकाश, मम्मट्ट, (सं०) नरेन्द्र, व्याख्याकार : आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लि० वाराणसी, 1960.

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, वामन, (सं०) नगेन्द्र, आचार्य विश्वेश्वर, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1994.

काव्यादर्श, दण्डी, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, 1966.

कौटिलीयम् अर्थशास्त्र (श्रीमूलाटीकासहित), (सं०) टी० गणपति शास्त्री, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थानम्, नयी दिल्ली, 2006.

गरुड़पुराण, रामशंकर भट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1967.

चरकसंहिता, (सं०) राजेन्द्रनाथ शर्मा, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नयी दिल्ली, 2002

छान्दोग्योपनिषद् (सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित), गीताप्रेस, गोरखपुर, 2006

दशश्लोकी, निम्बार्क, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1924.

देवीभागवतपुराण, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1986.

धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग 3), पाण्डुरंग वामन काणे, उत्तरप्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, चतुर्थ संस्करण, 1992.

नाट्यशास्त्र, आचार्य भरत (सं०) महामहोपाध्याय आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला, 2005.

नित्यकर्म पूजा प्रकाश, श्रीरामभवनजी मिश्र एवं श्रीलालबिहारीजी मिश्र, गीताप्रेस,

गोरखपुर, चौबीसवाँ संस्करण, 2001

निरुक्त, यास्क (दुर्गाचार्यवृत्तिसहित), (सं०) विजय रजवाड़े, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली-88, पूना, 1921-26.

नीतिमयूख, नीलकण्ठ, गुजराती मुद्रण यन्त्रालय, मुम्बई, 1921.

नीतिशतक, भर्तृहरि (हि० अनु०) शोभा सत्यदेव, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2003.

न्यायकुसुमाञ्जलि, उदयनाचार्य, चौखम्भा संस्कृत विद्याभवन, वाराणसी, 1988.

न्यायभाष्य, वात्स्यायन, (सं०) द्वारकादास शास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, 1989.

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली ('किरणावली' समाख्यव्याख्योपेता), विश्वनाथ न्याय पञ्चानन, (व्या०) श्रीकृष्णवल्लभाचार्य, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, बनारस, 1972.

पद्मपुराण, (सं०) चारुदेव शास्त्री, नाग प्रकाशन, जवाहरनगर, दिल्ली, 1984.

पाणिनीय अष्टाध्यायी (हि० व्या०), नरेश झा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सस्करण, 2006.

पाणिनीयव्याकरणमहाभाष्यम् (प्रदीपद्योतसहितम्), पतञ्जलि, (सं०) श्री भार्गव शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2000.

पाणिनीयशिक्षा, (सं०) दामोदर महतो, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2006.

पातञ्जलयोगदर्शनम् (व्यासभाष्य-संवलितम्), (हि० व्या०) सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित सस्करण, 2008.

पुराणतत्त्वविमर्श, थानेश चन्द्र उप्रेती, परिमल प्रकाशन, दिल्ली.

पुराण-परिशीलन, महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1998.

पुराण-पर्यालोचन, श्रीकृष्ण मणि त्रिपाठी, (सं०) विश्वनाथ पाण्डेय, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1976.

पुराण-विमर्श, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2002.

प्रशस्तपादभाष्य, प्रशस्तपादाचार्य, (सं०) श्रीनारायण मिश्र, काशी संस्कृत सीरीज-173, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 2002.

बृहत्संहिता, वाराहमिहिर, (सं०) अवध विहारी त्रिपाठी, सरस्वती भवन ग्रन्थमाला-97, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1968.

बृहदारण्यकोपनिषद् (सानुवाद, शाङ्करभाष्यसहित), गीताप्रेस, गोरखपुर, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2006.

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् (भामती-कल्पतरु-परिमलसहितम्), (सं०) के०एल० जोशी, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1996.

ब्रह्माण्डपुराण (मूलमात्र), (सं०) के०वी० शर्मा, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1983.

भामिनीविलास, पण्डितराज जगन्नाथ, (सं०) हरिदत्त शर्मा, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2005.

भावप्रकाश, भावमिश्र, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2006.

मत्स्यपुराण, अनुवादक : रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, (सं०) तारिणीश झा, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1946.

मनुस्मृति (मन्वर्थमुक्तावली-टीकासहित), (सं०) जे०एल० शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1990.

महाभारत (6 खण्ड), गीताप्रेस, गोरखपुर, तेरहवाँ पुनर्मुद्रित संस्करण, 2006.

मार्कण्डेयमहापुराणम्, (सं०) नागशरण सिंह, वी० कुटुम्ब शास्त्री, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, 2002.

मुण्डकोपनिषद् (वीरशैवभाष्यसहित), (सं०) जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमबाड़ी मठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2004.

याज्ञवल्क्यस्मृति (मिताक्षरा व्याख्यासहित), (सं०) पं० दुर्गाधर झा विद्यावाचस्पति, शशिनाथ झा, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 2002.

योगवासिष्ठ, वाल्मीकि, (श्रीवासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्या), नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1998.

वक्रोक्तिजीवितम्, कुन्तक, (सं०) डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1995.

वाक्यपदीय, भर्तृहरि (वृषभदेवविरचित पद्धति व्याख्या सहित), (सं०) के०ए०एस० सुब्रह्मण्य, पूना, 1966.

वायुपुराण (हि० अनु०) रामप्रताप त्रिपाठी, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1987.

विष्णुधर्मोत्तरपुराण, (सं०) चारुदेव शास्त्री, नाग प्रकाशन, दिल्ली, 1985.

विष्णुपुराण, (सं०) जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, सरस्वती प्रेस, कलकत्ता, 1882.

वेदान्तसार, सदानन्द, (सं०) बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1993.

शतपथब्राह्मण (माध्यन्दिनशाखा, सायणभाष्यसहित), चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1964.

शार्ङ्गधरसंहिता, आचार्य शार्ङ्गधर, (अं० अनु०) के०आर० कृष्णमूर्ति, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, 2001.

शुक्लयजुर्वेदसंहिता, (सं०) डॉ० रामकृष्ण शास्त्री, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2005.

श्रीनारदीयमहापुराणम् (मूल-संस्कृत), नाग प्रकाशन, दिल्ली, 1984.

श्रीमद्भगवद्गीता, (हि० अनु०) अभयचरणारविंद भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद, भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, न्यूयॉर्क, 1972.

श्रीमद्भागवतमहापुराणम् (4 खण्ड, अन्वितार्थप्रकाशिका टीका सहित), नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1987.

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण (2 खण्ड), गीताप्रेस,गोरखपुर, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2007-2008.

श्रीमहावायुपुराण, (सं०) नागशरणसिंह, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1983.

श्रीविष्णुपुराण, (अनु०) मुनिलाल गुप्त, गीताप्रेस गोरखपुर, 2003 विक्रमी.

शृंगारप्रकाश, (सं०) डॉ० रणजीत सिंह सैनी, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 2001.

श्लोकवार्तिकम् ('न्यायरत्नाकर' सहित), (सं०) महामहोपाध्याय गङ्गानाथ झा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2009.

संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, महामहोपाध्याय डॉ० पी०वी० काणे, (अनु०) इन्द्रचन्द्र शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2011.

सरस्वतीकण्ठाभरण, भोजराज, (सं०) विश्वनाथ भट्टाचार्य, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1979.

सरस्वती घाटी के प्रमुख तीर्थों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध), रत्नेश कुमार त्रिपाठी, मोरोपन्त पिंगळे राष्ट्रीय पुस्तकालय, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना, नयी दिल्ली.

सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण (सांख्यतत्त्वकौमुदीसहित), निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1940.

सिद्धान्तकौमुदी, श्रीमद्भट्टोजि दीक्षित, (सं०) गोपालदत्त पाण्डेय, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2000.

सिद्धान्तशिखामणि, शिवयोगिशिवाचार्य, (सं०) राधेश्याम चतुर्वेदी, शैवभारती शोध

प्रतिष्ठान, जङ्गमबाड़ी मठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2006.

सुश्रुतसंहिता, सुश्रुत, (सं०) कविराज अम्बिकादत्त, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1959-66.

स्कन्दपुराण, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, 1908.

Agni Purāṇam (2 vols.) (Eng. Trans.) Manmath Nath Dutt Shastri, Chaukhambha, Varanasi, 1967.

Agni Purāṇam (4 vol.), (Eng. Tran.) Manmath Nath Dutt Shastri,Cosmo Publications,1987.

Agni Purāṇa, (Eng. Trans.) N. Gangadharan, Motilal Banarasidas, Delhi, 2003.

Agni Purāṇa : A Study, S.D. Gyani, Chaukhambha Sanskrit Series Office, Varanasi, 1964.

Encyclopædic Dictionary of Purāṇas (5 vols.), Parameshwaranand, Sarup & Sons, New Delhi, 2001.

Polity in the Agni Purāṇa, Bambahadur Mishra, Punthi Pustak, Calcutta, 1965.

Purāṇic Encyclopædia, Vettam Mani, Motilal Banarsidass, Delhi, 1975.

Studies in the Epics and Purāṇas, A.D. Pusalkar, Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay, 1955.

Studies in the Purāṇic Records on Hindū Rites and Customs, R.C. Hazra,The University of Dacca, 1940.

The Purāṇa Texts of the Dynasties of the Kali Age, F.E. Pargiter, Oxford University press, London, 1913.

अनुक्रमणिका

अकथित कर्म 237
अक्षरसामाम्नाय 237
अग्निदेव 144, 145, 148, 151, 154
अज्ञान 127
अद्वैततत्त्व 111
अद्वैत वेदान्त 125
अद्वैतसिद्धि 113
अथर्ववेद 3, 219, 261, 274
अधर्म 159
अध्यास 68, 113, 118
अनभिहित कर्ता 236
अनभिहित कर्म 237
अन्वयानुपपत्ति 229
अपरिग्रह 139, 146, 148, 149
अपवर्ग 134
अभिधा 98
अभिनवपादाचार्य 189
अमरसिंह 235
अयोगवाह 93
अर्थदण्ड 168
अर्थशास्त्र 29, 31, 32, 33, 34, 35, 168, 169, 170, 171, 175
अर्थालंकार 78, 98, 104, 105
अल्-बीरूनी 276
अव्ययतद्धित 135, 136, 248
अष्टांगयोग 145, 146
अस्तेय 139, 146, 148
अहिंसा 39, 139, 145, 146, 148, 159
आक्रन्द 44, 46
आक्रन्दासार 44, 46
आगन्तुक रोग 269
आत्मा 62, 66, 67, 68, 69, 70, 71, 92, 102, 113, 117, 118, 125, 126, 127, 128, 129, 152, 153, 155, 161, 170, 182, 196, 257, 258, 261
आथर्वणी 219
आन्वीक्षिकी 39, 166, 279
आपो नारा 184, 195
आयुर्वेद 12, 53, 65, 78, 97, 97, 124, 158, 187, 207, 218,

219, 220, 222, 224, 225, 226, 231, 268, 269
आरण्यक 21, 77, 96, 261
आर्ष विवाह 161, 162
आवरण और विक्षेप 22, 127
आसन 33, 42, 43, 44, 140, 144, 149, 150, 166, 171, 177
आसुर विवाह 161, 162
इतिवृत्त 3, 4, 39, 76
इतिहास 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 12, 13, 14, 15, 16, 17, 18, 19, 20, 21, 23, 25, 28, 35, 52, 63, 64, 122, 123, 132, 138, 144, 188, 195, 203, 212, 224, 252, 253, 254, 255, 256, 257, 258, 268, 269, 274, 276, 277, 285
ईत्सित कर्म 241
ईशानकल्प 65, 135, 187, 275
ईश्वरप्रणिधान 148, 149, 156
उक्थ 287
उच्चारण स्थान 92, 93
उच्छिष्ट 6, 77, 203
उत्कलिका 99, 186, 292
उदयनाचार्य 196, 221, 222
उदारत्व 81, 82
उपदेश 252, 269, 275
उपनिषद् 2, 13, 21, 66, 77, 96, 112, 117, 124, 125, 128, 197, 261
उपपुराण 8, 9, 15, 16, 21, 35
उपाय 45, 50, 166
उभयालंकार 98, 99, 104, 105
ऋग्वेद 1, 2, 6, 7, 13, 137, 181, 184, 188, 218, 254, 282,
ऐन्द्रियक सर्ग 22, 199, 185,
ओज 81, 85, 106
कठोपनिषद् 120
कर-व्यवस्था 49, 177
कर-संग्रहण 49
कर्मकर्ता 236
कर्मप्रवचनीय 242
कलाप 100, 287, 288
कल्क 226, 228, 229
कश्यप 207, 208, 220, 283
कश्यप वंश 255, 256
कारकस्वरूप 236
काव्य 48, 53, 63, 64, 78, 81, 84, 97, 98
काव्यगुण 78, 79, 85, 86, 98, 99
काव्यदोष 78, 79, 98
काव्यमीमांसा 3
काव्यादर्श 88, 89, 286
कुम्भक 150, 216
कूटनीति 45, 281
कूर्मावतार 165, 207, 253, 258
कृतिशेषज 287
कैवल्य 69, 74, 87, 139, 154,

155
कोमलत्व 81, 82, 106
कोश 40, 41, 100, 179, 188, 249, 285, 287, 288
कौटिल्य 5, 31, 32, 34, 35, 168, 169, 173, 278
कौमारभृत्य 225
कौमार सर्ग 22, 185, 192, 200
क्वाथ 226, 229, 269
गंगा 54, 53, 55, 56, 57, 59, 60
गद्यकाव्य 99, 100, 287
गरुड़पुराण 9, 10, 15, 34, 78, 158, 176, 179, 227, 228, 267, 283
गान्धर्व विवाह 161, 162
गान्धारी 148
गाम्भीर्य 80, 85, 103, 106
गृहस्थाश्रम 160, 195
गौड़पादाचार्य 181
चम्पू 100, 287
चरकसंहिता 219, 222, 231,
चित्तारम्भ 103
चूर्णक 99, 286
छांदोग्योपनिषद् 2, 4, 16, 23, 29, 30, 129, 130, 132, 137, 197, 201, 223, 274
जगदीश चन्द्र बोस 222
जयमंगला 33
जलेश 215
जाति 8, 9, 16, 17, 20, 21, 27, 52, 76, 100, 155, 159, 243, 249, 287
ज्योतिष 15, 53, 65, 77, 91, 97, 158, 166, 187, 218, 220, 261, 263, 264, 268, 274
तद्धित 132, 135, 136, 137, 223, 246, 248, 249
तीर्थ 10, 52, 53, 54, 55, 56, 57, 58, 59, 158, 188
तुलसीदास 180, 208
तैत्तिरीयोपनिषद् 73, 92, 94, 131, 182, 186
तैर्यग्योन्य सर्ग 185, 192, 200
त्रयीविद्या 39, 166, 188
त्रिदोष 229, 271
त्रिपाद 254, 255
त्रिपुष्कर योग 264
त्रिफला 228, 229, 230, 270, 271, 272
त्रिविध ब्रह्म 2
दण्डनीति 32, 39, 166, 279, 280
दण्डी 81, 286, 289
दुर्ग 33, 40, 167, 175, 176, 179, 187, 278, 280
देवसर्ग 185, 192, 194, 200
देवसहाय त्रिवेद 277
देवापि 3
देवीभागवतपुराण 9, 16, 29, 72, 77,

87, 210, 224, 231, 282
देवेश 215
दैवीमीमांसादर्शन 180
द्रव्य प्रकृतियाँ 33
द्वारपाल 37, 249
द्वैधीभाव 42, 170, 171, 177
धनुर्वेद 13, 97, 158, 187
धन्वन्तरि 107, 218, 231, 255, 269
धर्मशास्त्र 5, 8, 12, 28, 32, 72, 123, 133, 158, 159, 160, 161, 163,
धारणा 139, 140, 144, 153
ध्यान 139, 140, 141, 142, 144, 145, 150, 151, 152, 153, 154, 156, 216
नर्मदा 53, 56, 57
नवग्रह 158, 162
नव सर्ग 185
नाचिकेतोपनिषद् 120
नाट्यशास्त्र 97, 108
नारदपुराण 10, 16, 58, 61, 77, 123, 182, 188, 195
नारायण 142, 184, 190, 261
नासा 277
नियम 71, 75, 97, 138, 139, 142, 144, 145, 147, 148, 149
निरुक्त 1, 2, 3, 29, 63, 72, 87, 91, 130, 124, 195, 201, 210, 262, 267, 277, 274
न्यायकुसुमाञ्जलि 201
न्यायदर्शन 195, 196, 253, 259
न्यायभाष्य 195, 201
पतञ्जलि 234
पञ्चमवेद 1, 2, 16
पञ्चमहायज्ञ 160
पदत्रयम् 207, 254, 255
पद्मपुराण 15, 25, 29, 34, 58, 61, 77, 87, 195, 201, 210, 263, 267, 268, 272, 275
पद्यकाव्य 81, 99, 100, 116, 286, 287
परमण्डल 38
परा-अपरा 66, 165, 174, 187, 188, 263
पाणिनि 5, 63, 88, 122, 137, 234
पातञ्जल योग 147
पिङ्गल मुनि 287
पुराणविद्या 6
पुराण षड्वर्ग 10
पुराणी 1, 6
पुराणेतिहास 18, 63, 64, 132
पुरातन 1, 3, 4, 5, 63, 77, 87, 133, 202, 224, 262, 274
पुरुषगत मनोभाव 103
पुरुषार्थ चतुष्ट्य 33, 69, 76, 225, 261, 263, 280
पुष्कर तीर्थ 53, 59, 188
पुष्कर नीति 165, 171, 172, 174,

178
पैशाच विवाह 161, 162
प्रकीर्ण 288
प्रजासंग्रह 39
प्रत्याहार 71, 75, 139, 140, 142, 144, 145, 151, 152
प्रयत्न 38, 92, 93, 94
प्रयाग तीर्थ 53, 54, 55, 57, 60
प्रयाण 47, 171
प्रयोगकर्ता 236
प्रशस्तता 83, 85, 89
प्रशस्तपाद 196, 201
प्रसाद 83, 87, 89, 107
प्राकृत-वैकृत सर्ग 22, 23, 185, 191, 193, 194, 199, 200, 254, 258, 259
प्राजापत्य विवाह 161, 162
प्राणायाम 71, 75, 139, 140, 142, 144, 145, 149, 150, 159, 216, 220
प्रौढ़ि 82, 84, 85, 106
फलित ज्योतिष 264
फाण्ट 226
बन्धन तथा मोक्ष 67, 70, 125
बाण शिवलिंग 214
बुद्ध्यारम्भ 103
बृहत्संहिता 202, 223, 230
बृहदारण्यकोपनिषद् 13, 30, 66, 67, 73, 130, 203, 210
ब्रह्म 115, 119, 126
ब्रह्मचर्य 85, 71, 139, 140, 147, 146, 149, 153, 159, 160
ब्रह्मजिज्ञासु पुरुष 111, 112
ब्रह्मज्ञान 65, 66, 67, 69, 125, 126, 128, 129, 144, 258
ब्रह्मपुराण 15, 58, 59, 268, 273
ब्रह्मविज्ञान 115, 257, 262
ब्रह्मवैवर्तपुराण 9, 10, 11, 15, 35, 78, 158, 204, 262, 267
ब्रह्मसूत्र 110, 120, 123, 124, 125
ब्रह्माण्डपुराण 2, 9, 10, 11, 15, 16, 19, 24, 29, 35, 63, 72, 77, 78, 87, 158, 204, 272, 275, 280, 282
ब्राह्मण-ग्रन्थ 2, 212, 217, 261
ब्राह्म विवाह 161, 162
ब्राह्मी सृष्टि 190
भरत 78, 86, 97, 108, 115, 116, 117, 118, 256
भागवतपुराण 7, 8, 9, 10, 11, 15, 16, 29, 30, 35, 50, 77, 103, 116, 158, 189, 204, 205, 209, 210, 282
भागेश 215
भामह 83, 97, 285, 286, 288
भामिनीविलास 219
भाववाचकतद्धित 135, 136, 248
भूतविद्या 225

भूतसर्ग 22, 192, 199, 253
भैषज्यविज्ञान 218, 264
भोजराज 79, 80, 97, 102
मत्स्यपुराण 1, 8, 9, 10, 11, 13, 15, 24, 29, 34, 77, 123, 130, 133, 137, 158, 165, 175, 179, 187, 195, 204, 205, 207, 210, 255, 282, 283
मत्स्यावतारप्रयोजन 205, 206, 207, 253
मधुसूदन सरस्वती 113, 114
मनु 20, 22, 25, 27, 31, 206, 256, 278, 283
मनुस्मृति 12, 169, 172, 179, 182, 282, 283, 284
मन्त्रणा 48
महाकवि 100, 288
महाकाव्य 100, 287, 288
महापातक 159, 162, 163
महाभारत 3, 4, 14, 21, 28, 29, 31, 32, 53, 63, 64, 72, 77, 87, 91, 98, 130, 133, 137, 142, 143, 165, 175, 187, 191, 201, 203, 210, 220, 222, 223, 255, 256, 267, 278, 283
महेश्वराचार्य 97
माण्डूक्यकारिका 181
माधुर्य 78, 80, 81, 82, 103, 106
मानव सर्ग 200
मानस रोग 269
मानसी सृष्टि 190, 191, 254
मान्य सन्धियाँ 42
माया 50, 114, 125, 126, 161, 181, 197, 210
मिश्रकाव्य 99, 100
मुक्तक 100, 287, 288
मुक्तावली 221, 223
मोक्ष 8, 12, 18, 54, 55, 56, 57, 62, 66, 69, 116, 125, 128, 129, 134, 139, 148, 152, 153, 154, 156, 180, 202, 205, 209, 213, 225, 257, 263
यजुर्वेद 2, 7, 13, 16, 77, 123, 184, 219, 222, 254, 261, 274, 282
यम 71, 75, 97, 138, 138, 139, 142, 144, 145, 148, 149
यमगीता 120, 129, 130
यमोपनिषद् 120
यान 44
यास्क 1, 2, 3, 63, 77, 122, 123, 132, 195, 268
योगवासिष्ठ 181, 186
रसायन 225, 229
राक्षस विवाह 161, 162

राजधर्म 12, 31, 32, 33, 34, 37, 40, 45, 48, 49, 50, 158, 166, 171, 172, 187, 275, 278, 279, 280, 281
राजनीतिशास्त्र 31, 92
राजमण्डल 32, 46
राजशास्त्र 32, 50, 174, 178
राजशेखर 3, 107
राजा 12, 17, 19, 25, 31, 33, 34, 37, 38, 39, 40, 41, 42, 43, 44, 45, 46, 47, 49, 65, 117, 166, 167, 168, 169, 172, 174, 175, 176, 177, 178, 187, 208, 254, 256, 266, 277, 278, 279, 280, 281
राज्य 31, 32, 33, 37, 40, 41, 42, 43, 44, 45, 49, 52, 53, 166, 167, 169, 170, 172, 175, 177, 178, 209, 275, 277, 278, 279, 280, 281, 282
राज्यांग (सप्तांग) 31, 32, 33, 40, 41, 166, 167, 172, 175, 177, 179, 278, 281
रामराज्य 277, 281, 282
रामायण 3, 14, 21, 28, 31, 32, 34, 53, 91, 98, 133, 187, 208, 209, 219, 256, 278, 283
रामोक्त नीति 65, 171, 172, 174, 175, 176, 274, 278, 283
रेचक 150, 216
रौद्री सृष्टि 191
लक्षणा 99, 102, 257
लालित्य 79, 80, 85, 88, 106
वर्द्धमान 213
वसिष्ठ 34, 35, 65, 69, 92, 104, 106, 120, 130, 133, 136, 165, 183, 184, 187, 191, 194, 204, 205, 252, 255, 263, 275, 283
वागारम्भ 103
वाजीकरण 225
वात्स्यायन 195
वानप्रस्थ आश्रम 58, 160, 163, 195
वानस्पत्य 219
वामन (आचार्य) 78, 80, 83, 86, 106, 286, 288
वामनपुराण 9, 10, 11, 15, 24, 35, 58, 78, 158, 204, 205
वामनावतार 203, 207, 208, 255
वायुपुराण 1, 4, 9, 10, 11, 16, 29, 77, 78, 87, 130, 192, 268, 272
वाराणसी तीर्थ 56, 57
वाल्मीकि 31, 209, 278,
विद्याभूषण 97
विधि-व्यवस्था 49
विभासम लिंग 213

विरुद 287
विवरणप्रमेयसंग्रह 68, 73
विश्वामित्र 3
विषगर वैरोधिक प्रशमन 225
विष्णुपुराण 5, 9, 11, 15, 19, 22, 30, 35, 50, 72, 78, 97, 130, 158, 181, 182, 186, 191, 194, 204, 254, 255, 256, 272, 282
वृक्षायुर्वेद 218, 220, 221, 223
वृत्तिगन्धि 286, 289
वेदव्यास 11, 28, 77, 96, 139, 158, 212, 224, 262
वेदाङ्ग 91, 92, 94, 112, 123, 261, 267, 274,
वेदान्त 53, 66, 101, 110, 111, 112, 117, 120, 122, 124, 125, 129, 130, 195, 197, 198, 199, 253, 259
वेदान्तसार 74, 111, 130, 131, 197, 201, 260
वैकृत सर्ग 22, 191, 200
वैशेषिकसूत्र 196, 200
व्यञ्जना 99, 105
व्यूह-संरचना 171, 178
व्याकरणशास्त्र 134, 178
व्रात्य 6, 7
शंकराचार्य 66, 68, 69, 125, 126
शतपथब्राह्मण 4, 23, 29, 67, 73, 224, 261, 267, 274, 282
शब्दालंकार 78, 98, 104
शब्दोत्पत्ति 92
शरीरारम्भ 103
शल्य चिकित्सा 225
शान्तनु 3, 256
शारंगधरसंहिता 226, 231
शारदातनय 102, 108
शारीर रोग 269
शालाक्य 225
शिवपुराण 9, 10, 11, 15, 158
शिव-पूजा विधि 212, 213
शिवलिंग 212, 213, 214, 215
श्रीमद्भगवद्गीता 66, 114, 115, 119, 121, 124, 131, 180, 186, 192, 204, 210
श्लेष 79, 80, 88, 89, 106
षडङ्गन्यास 216
षडाष्टक दोष 265
षाड्गुण्य 33, 37, 42, 45, 166, 170, 172, 174, 177, 178, 281
संन्यास आश्रम 58, 100, 159, 161, 163, 195
संविधान 81, 82, 106
संश्रय 33, 38, 42, 43, 45, 106, 170, 171
संस्कार 91, 92, 134, 154, 158, 159, 160, 161, 162, 163,

256, 264, 265
संस्कृति 17, 27, 28, 35, 52, 59, 62, 63, 72, 76, 96, 123, 124, 202, 212, 224, 230, 252, 261, 268, 274, 276, 281, 282, 288
सदानन्द 197
सन्तोष 139, 147, 149
सन्धि 33, 37, 40, 42, 43, 166, 170, 171, 177
सन्धिस्वरूप 233, 235
समाधि 71, 142, 153, 225, 126, 141, 144, 149, 154, 156, 257
समास 81, 135, 233, 235, 236, 243, 244, 245, 246, 250, 286
सरस्वतीकण्ठाभरण 88, 89, 90, 98, 108, 109, 285, 288, 289
सहज रोग 269
सांख्यदर्शन 101, 142, 183, 192, 193, 195, 199, 200, 201
साधनचतुष्ट्य 112
सामयिकत्व 82, 89, 106
सामान्य धर्म 159
सामान्यवृत्तितद्धित 248, 249
साहस 168
साहित्यदर्पण 287
सिद्धान्तशिखामणि 215, 217
सिल्वैन लेवी 97
सुकुमारता 81, 88
सुशब्दता 80, 81, 83, 88, 90
सुश्रुतसंहिता 222, 231, 269, 271, 272, 273
सूक्ष्म शरीर 127, 128, 197, 198
सृष्टिक्रम 189
सेना 44, 166, 170, 171, 172, 177, 178
सेनापति 34, 37, 176, 279
सौभाग्य 83, 85, 89, 107
स्त्रीगत मनोभाव 103
स्मृतिग्रन्थ 12, 20, 31, 32, 96
स्वतन्त्रकर्ता 236
स्वमण्डल 38
स्वस्वामिभाव सम्बन्ध 240
स्वाध्याय 139, 147, 148, 149
स्वायम्भुव मनु 22, 193, 154, 156, 270
हरिवंशपुराण 16, 209, 261
हिरण्यगर्भ 128, 184, 194

डॉ० सन्तोष कुमार शुक्ल विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली में उपाचार्य हैं । पूर्वमीमांसादर्शन, धर्मशास्त्र, पुराण एवं संस्कृत-भाषा एवं साहित्य इनके विशेष अध्ययन-अध्यापन एवं शोध का क्षेत्र हैं । इनकी 8 पुस्तकें धर्मशास्त्र, मीमांसा एवं वैदिक अध्ययन क्षेत्र में प्रकाशित हैं । डॉ० शुक्ल रूपा पब्लिकेशन, नयी दिल्ली द्वारा प्रकाशित **'इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ हिंदुइज्म'** (11 भाग) के एसोसिएट एडिटर हैं । **'पुराण पदानुक्रमकोश'** एवं **'पुराण विश्वकोश'** परियोजना पर कार्य कर रहे हैं ।

भारतीय पुराण अध्ययन संस्थान
Indian Institute for Purāṇa Studies

यह अध्ययन-संस्थान पौराणिक शोध के लिए पूर्णतः समर्पित है । इसकी अधोलिखित शोध-परियोजनाएँ निरन्तर प्रगति पर हैं–

1. 18 महापुराणों का संस्कृत टीकाओं के साथ समन्वित संस्करण बनाया जा रहा है ।
2. 18 महापुराणों का संस्कृत टीकाओं के साथ हिन्दी अनुवाद किया जा रहा है ।
3. 18 महापुराणों का हिंदी-अनुवाद के साथ ई-संस्करण बनाया जा रहा है ।
4. 18 महापुराणों की विभिन्न पुराण-अनुक्रमणिकाएँ बनाई जा रही हैं ।
5. पुराण-वाङ्मय के महत्त्वपूर्ण 11 हज़ार विषयों पर हिंदी में *'पुराण विश्वकोश'* संपादित किया जा रहा है ।

पुराणविद्या (Purāṇa Vidyā)– भारतीय पुराण अध्ययन संस्थान द्वारा षड्मासिक मूल्यांकित (Refereed) शोध-पत्रिका **पुराणविद्या** संपादित एवं प्रकाशित किया जा रहा है जिसमें देश एवं विदेशों में कार्यरत पुराणविदों के पुराण-विद्या से संबंधित शोधपरक लेखों का प्रकाशन किया जाता है ।

पत्रिका का प्रकाशन प्रत्येक वर्ष **वैशाख शुक्ल तृतीया (अक्षय तृतीया)** एवं **कार्तिक शुक्ल नवमी (अक्षय नवमी)** को किया जाता है । विशेष जानकारी के लिए पत्रिका के ई-मेल **puranvidya@gmail.com** पर सम्पर्क कीजिये ।

प्रकाशन-विभाग
अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना

बाबा साहेब आपटे-स्मृति भवन, 'केशव-कुञ्ज',
झण्डेवाला, नयी दिल्ली-110 055
दूरभाष : 011-23675667
ई-मेल : abisy84@gmail.com
वेबसाइट : www.itihassankalan.org

ISBN 978-93-82424-08-6
9 789382 424086